पंत और उनका रश्मिबन्ध

[पंत और उनके रश्मिबन्ध का आलोचनात्मक एवं व्याख्यात्मक अध्ययन]

तृतीय संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण

लेखक
प्रो० देशराजसिंह भाटी एम० ए०

प्रकाशक
अशोक प्रकाशन
नई सड़क, दिल्ली-6

...शक
...िक प्रकाशन
...सड़क, दिल्ली

प्रथम संस्करण १९६६
मूल्य : ५.००
पृष्ठ संख्या २८८

मुद्रक
[illegible] प्रिंटिंग प्रेस,
दिल्ली-६

तृतीय संस्करण

कविवर पन्त हिन्दी साहित्य के प्रमुख स्तम्भ हैं और 'रश्मिबन्ध' उनका अब तक का अन्तिम काव्य-संग्रह। इस पुस्तक में कवि और कृति दोनों का ही आलोचनात्मक एवं व्याख्यात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। फलतः पुस्तक के दो भाग हैं। प्रथम भाग में कवि पन्त की आलोचना है। इस आलोचना को लिखते समय तर्क-वितर्क और मत-भेदों के पंकिल पथ को छोड़कर सर्व-सम्मत मतों का ही राजपथ अपनाया गया है, और सीमित स्थान में सभी कुछ कह देने का प्रयास भी किया गया है। दूसरे भाग में 'रश्मिबन्ध' में संकलित कविताओं की सारगर्भित व्याख्याएँ हैं। व्याख्याओं के अतिरिक्त कविताओं के भाव पक्ष और कलापक्ष का 'विशेष' शीर्षक के अन्तर्गत भली-भांति विश्लेषण किया गया है। साथ ही प्रत्येक कविता का साहित्यिक परिचय भी दे दिया गया है जिससे वह पूर्णतया हृदयंगम की जा सके।

इस पुस्तक का यह तृतीय संशोधित संस्करण पन्त के पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हम अतीव हर्ष एवं गौरव अनुभव करते हैं। आशा है प्रथम एवं द्वितीय संस्करणों की अपेक्षा यह संस्करण पन्त-पाठकों को अधिक उपादेय सिद्ध होगा।

—देशराज सिंह भाटी

विषय-सूची

आलोचना भाग

व्याख्या भाग

: १ :

जीवन-परिचय

१. जन्मभूमि : कौसानी—पन्त जी का जन्म २० मई सन् १६०० ई० में अल्मोड़ा जिले के कौसानी नामक ग्राम में हुआ था। यह स्थान अपनी प्राकृतिक शोभा के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध है। प्रकृति के प्रति पन्त का अनुराग, जो उनके काव्य की प्रमुखतम चेतना है, इसी नैसर्गिक एवं प्राकृतिक सौन्दर्य के कारण हुआ। माँ की वात्सल्यमयी क्रोड छिन जाने पर बालक पन्त को इसी प्रकृति ने अपने असीम अंचल में लेकर माँ का-सा दुलार और वत्सलता प्रदान की—

"प्रकृति गोद में छिप क्रीड़ा प्रिय, तृण तरु की बातें सुनता मन,
विहगों के पंख पर करता, पार नीलिमा से छाया मन।"

२. माता का स्वर्गवास—पन्त जी के जन्म के कुछ समय पश्चात् ही इनकी माता श्रीमती सरस्वती देवी का स्वर्गवास हो गया था। माता के अनन्त अभाव ने बालक पन्त के मन पर गम्भीर प्रभाव डाला। यदि उनका स्वर्गवास न हुआ होता तो निश्चय ही पन्त अपना इतना अनुराग प्रकृति के प्रति न उँडेल पाते और प्रकृति के अभाव में पन्त-काव्य का क्या रूप होता ? वे कवि बन भी पाते अथवा नहीं ? आदि प्रश्नों के उत्तर देने तो कठिन हैं; किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि पन्त का वह कवि आज के पन्त के कवि से नितान्त भिन्न होता। मेरी तो धारणा यह है कि तब पन्त का चिन्तन इतना गम्भीर और विशद न हो पाता। फलतः उनका 'स्वर्णकाव्य' हिन्दी-साहित्य को उपलब्ध न होता। उनके काव्य पर प्रकृति का कितना और किस सीमा तक प्रभाव है, यह उनकी 'संदेश' कविता की इन पंक्तियों में देखा जा सकता है—

"जिसने कोमल बन सिखलाया तुमको गाना,
मृदु गुंजन पर बतलाया मधु संचय करना—
फूलों की कोमल बाँहों के आलिंगन भर !
जिसके रंगों की भावुक तूली से तुमने
शोभा के पट तल रचे, मनुज का मुख आँका,

जिससे लेकर मधु स्पर्श शब्द रस गंध दृष्टि
तुमने स्वर निर्झर बरसाये मुख से मुखरित।"

३. असहयोग आन्दोलन—गाँधी जी ने सन् १९२१ मे असहयोग आंदोलन का आह्वान किया था। उस समय पन्त जी एफ० ए० में पढ़ते थे, गाँधी जी की पुकार पर अपनी शिक्षा को अधूरी छोड़ कर उन्होंने उसमें सक्रिय भाग लिया जिसके कारण निरंतर वे अंग्रेजी के प्रोफेसर श्री शिलाधार पांडेय के सम्पर्क में रहे। इसी सम्पर्क के कारण उन्हें अंग्रेजी-साहित्य के अध्ययन की प्रेरणा मिली, जिससे उन्होंने अंग्रेजी कवियों से बहुत कुछ सीखा। अपने ऊपर पड़े हुए इसी अगाध प्रभाव का वर्णन पन्त जी ने इन शब्दों में किया है—

"वह पहिला ही असहयोग था, बापू के शब्दों से प्रेरित,
बिदा छात्र जीवन को दे मैं, करने लगा स्वयं को शिक्षित।"

इन पंक्तियों मे दूसरी पंक्ति का उत्तरार्ध विशेष रूप से ध्यातव्य है।

४. असफल प्रेम—यह सत्य है कि पन्त जी की प्रेमिका आज तक भी हिन्दी पाठकों के समक्ष अपने मांसल अस्तित्व में नही आ सकी है और वह वर्ड्सवर्थ की लूसी (*Lucy*) की भाँति केवल एक मनोरम कल्पना ही रही है, किन्तु यह भी सत्य है कि पंत जी ने अवश्य ही अपने उर का भार किसी के जीवन में उतारा था और वह उसमें असफल रहे। इस असफलता ने कवि पन्त को तीन रूपों में प्रभावित किया। पहला यह कि इससे कवि मे भाव-प्रवणता आई और उसकी कविता आदि-कवि की भाँति ही फूट निकली—

"वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान,
उमड़ कर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान।"

दूसरा यह कि कवि को नारी के प्रति अपना दृष्टिकोण स्थिर करने का अवकाश मिला। यहाँ यह बात भी कही जा सकती है कि फिर कवि का नारी-विषयक दृष्टिकोण इतना स्वस्थ और श्रद्धान्वित क्यों है? उसे तो नारी-नाम से घृणा होनी चाहिए थी। यह भी हो सकता था, किन्तु यह होना आवश्यक भी तो नही था। पंत जी ने इस कसक को उदात्त रूप दिया जो किसी भी सत्काव्य के लिए आवश्यक है; और तीसरी बात यह कि इससे कवि की चिन्तन-वृत्ति को प्रेरणा मिली। आगे चलकर वह भले ही अपने चिन्तन के गहनतम आवरण में इस कसक को छिपाने मे सफल हुआ है, किन्तु उस चिन्तन के जन्म में इस असफल प्रेम का कितना हाथ है, यह भुलाया नहीं जा सकता।

किसी भी मर्मज्ञ आलोचक के लिए कवि के प्रेरणा-स्रोतों का जानना अनिवार्य है। मेरी यह सुदृढ़ धारणा है कि कवि को अपने स्थूल जगत् से ही प्रेरणा मिलती है और वह उस पर कल्पना और चिन्तन का आवरण डालकर उसे छिपा-सा देता है। सुविज्ञ आलोचक का कर्तव्य है कि वह उस आवरण को हटाकर तथ्य का अन्वेषण करे। इसी तथ्य के अन्वेषण के लिए मैंने पंत के जीवन की उपर्युक्त चार घटनाओं को लिया है, और मुझे यह कहने में भी संकोच नहीं कि ये चार घटनायें ही पंत के काव्य की मूल प्रेरणाएँ हैं किन्तु इन पर पुनर्विचार करने से पूर्व हमें स्वयं कवि के मत से अवगत हो लेना चाहिए।

कवि पंत अपने काव्य की प्रेरणा दो बातों को बताते हैं–प्रकृति और पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव। प्रकृति के विषय में उन्होंने 'आधुनिक कवि' के 'पर्यालोचन' में लिखा है—"कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्मांचल प्रदेश को है।" यही बात उन्होंने 'रश्मिबंध' के 'परिदर्शन' में भी कही है—"... मेरे किशोर-प्राण मूक कवि को बाहर लाने का सर्वाधिक श्रेय मेरी जन्मभूमि के उस नैसर्गिक सौन्दर्य को है जिसकी गोद में पलकर मैं बड़ा हुआ हूं।"

इन्हीं दो बातों के आधार पर हिन्दी के आलोचक पन्त-काव्य की प्रेरणा प्रकृति को ही मान लेते हैं; किन्तु पंत जी की इन दोनों बातों का यह अर्थ कदापि नहीं है कि केवल प्रकृति ही उनके काव्य की मूल प्रेरणा है, और कोई नहीं है। पंत जी ने प्रथम वाक्य में 'सबसे पहले' और द्वितीय वाक्य में 'सर्वाधिक श्रेय' लिखकर इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि उनके काव्य की मूल प्रेरणा केवल प्रकृति ही नहीं है, और भी बातें हैं। वे बातें क्या हैं, इनके विषय में कवि एक और बात कहकर मौन हो जाता है। वह है पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव। वे लिखते हैं—"जैसे एक दीपक दूसरे दीपक को जलाता है उसी प्रकार द्विवेदी-युग के कवियों की कृतियों ने मेरे हृदय को अपने सौन्दर्य से स्पर्श किया और उसमें एक प्रेरणा की शिखा जगा दी।"

: ३ :

रचना परिचय

काल-क्रम की दृष्टि से पंत जी की काव्य-कृतियाँ ये हैं :—

१. वीणा	१९१८
२. ग्रन्थि	१९२०
३. पल्लव	१९२२-२६
४. गुंजन	१९२६-३२
५. ज्योत्स्ना	१९३४
६. युगान्त	१९३५
७. युगवाणी	१९३७-३८
८. ग्राम्या	१९३९-४०
९. स्वर्णकिरण	१९४४-४५
१०. स्वर्णधूलि	१९४६-४७
११. उत्तरा	१९४९
१२. रजतशिखर	१९५१
१३. शिल्पी	१९५२
१४. सौवर्ण	१९५४
१५. अतिमा	१९५५
१६. वाणी	१९५७
१७. कला और बूढ़ा चाँद	१९५८
१८. लोकायतन	१९६४

इनके अतिरिक्त इनके चार कविता-संग्रह हैं—पल्लविनी, आधुनिक कवि भाग २, चिदम्बरा और रश्मिबंध।

पंत जी की काव्य-कृतियाँ उनके मानसिक विकास की क्रमशः शृंखलायें हैं, अतः इन पर विहगम दृष्टि डालना अपेक्षित है।

१. वीणा—यह कवि की सबसे पहली कृति है, इसीलिए उन्होंने इसे 'तुतली बोली में एक बालिका का उपहार' कहा है। वीणा की कविताओं में भाव-प्राधान्य के साथ-साथ रहस्यात्मकता, कौतूहलता, जिज्ञासा और दार्शनिकता का भी सुन्दर प्रस्फुटन हुआ है। 'प्रथम रश्मि' कविता, जो पंतजी की सर्वोत्कृष्ट कविताओं में से है, इसी संग्रह में है। डा० नगेन्द्र ने 'वीणा' का परिचय इन शब्दों में दिया है—"वीणा की कविताएँ अधिकांश में भाव प्रधान हैं, किन्तु प्रायः सभी भावों का बड़ा संयत दबा हुआ प्रस्फुटन हुआ है। कल्पना अभी पंख फड़फड़ा रही है, पर कहीं-कहीं तो उसकी उड़ान बड़ी ऊँची है। सूक्ष्मदर्शिता कवि के अधिकतर चित्रणों में मिलेगी—फिर भी इन कविताओं में शैशवोचित चापल्य ही है—स्नायुमय शक्ति और विराट् सौन्दर्य, 'अन्धकार' आदि एक-आध कृति को छोड़ अन्यत्र कम मिलेंगे।"

२. ग्रंथि—'ग्रंथि' कवि का विरह-काव्य है जिसमें एक घटना का वर्णन किया गया है। नायक अपनी कथा स्वयं कहता है, इसलिए भावों में व्यंजकता और प्रभावोत्पादकता और भी अधिक आ गई है। कुछ विद्वान इसकी कहानी के कारण इसे 'खण्ड-काव्य' की श्रेणी में रखने का प्रयास करते हैं, किन्तु उनका यह प्रयास अनुचित है, क्योंकि इसमें कथा कथा न होकर केवल एक पृष्ठ-भूमि है। अतः यह खंडकाव्य न होकर गीतिकाव्य ही है। भाव और कला दोनों ही दृष्टियों से 'ग्रंथि' अत्यन्त सफल एवं सजीव कृति है। अपने स्वयं के जीवन का संस्पर्श होने के कारण कवि अपनी भावनाओं को सुन्दर एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति दे सका है। भाव पक्ष-की भाँति इसका कला-पक्ष भी अत्यन्त समृद्ध है। इसमें 'अलंकारों की एक चित्रित छटा मिलती है। सीधे-सीधे किसी बात को प्रभावशाली शब्दों में कहने की कला 'ग्रंथि' में नहीं है, वहाँ तो साधारण-से-साधारण बात बकना या अलकारों की सहायता से व्यक्त की है।" शब्दालंकारों और अर्थालंकारों के अतिरिक्त नवीन पाश्चात्य अलंकारों का भी सार्थक प्रयोग हुआ है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'ग्रंथि' काव्य-विषयक सभी दृष्टियों से स्वयं में परिपूर्ण काव्य-कृति है।

३. पल्लव—'ग्रंथि' में जिस विरह की अभिव्यक्ति हुई थी, वह विरह 'पल्लव' में और भी प्रौढ़ रूप में प्रकट हुआ है, अतः इसमें यौवन के वे गीत हैं जिन पर अनुभूति और भावोन्माद का संयम नहीं हो सका है। इसलिए रसिक

जन पन्त जी की इसी कृति को सर्वाधिक चाहते हैं। स्वयं कवि के शब्दों में 'पल्लव' का प्रतिपाद्य यह है—

> "हृदय के प्रणय-कुंज में लीन, मूक कोकिल का मादक गान;
> बहा जब तन-मन-बन्धनहीन, मधुरता से अपनी अनजान;
> खिल उठी रोमों-सी तत्काल, पल्लवों की यह पुलकित डाल।"

स्थूल रूप से, 'पल्लव' के गीतों को तीन वर्गों में रक्खा जा सकता है—पहले वर्ग में वे गीत आते हैं जो कल्पना-प्रधान हैं; यथा—वीचि-विलास, विश्व-वेणु, निर्झर गान, निर्झरी, नक्षत्र और स्याही की की बूंद आदि। इन गीतों में कल्पना की सहायता से बड़े ही सुन्दर और आकर्षक चित्र खींचे गये हैं। कल्पना का प्राधान्य होने के कारण इनमें भावुकता का अभाव है। दूसरा वर्ग भाव-प्रधान गीतों का है। मोह, विनय, याचना, विसर्जन, मधुकरी, मुस्कान आदि कविताएँ इसी वर्ग के अन्तर्गत आती हैं। इनमें भावों की अभिव्यक्ति सहज, स्वाभाविक और प्रभावशालिनी है। अनावश्यक गम्भीरता अथवा कल्पना से भावों को कहीं भी क्षति नहीं पहुँची है। तीसरा वर्ग वह है जिसमें कल्पना और भाव का सुन्दर सामंजस्य है। मौन निमन्त्रण, आलापन, छाया, बादल, अनंग, स्वप्न आदि इसी वर्ग की रचनाएँ हैं जो वस्तुतः पल्लव' का प्राण कही जा सकती हैं।

जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, 'पल्लव' की भाषा एक युगान्तरकारी प्रयोग है। इस प्रसंग में डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के वे शब्द जो उन्होंने कवि की साठवीं वर्षगाँठ के शुभ अवसर पर कहे थे, ध्यातव्य हैं—"पन्त जी का आगमन हिन्दी में एक क्रान्तिकारी घटना है। मुझे याद है कि उस समय खड़ी बोली को मान्यता तो मिल गई थी, किन्तु यह आन्दोलन फिर भी चल रहा था कि खड़ी बोली में सुकुमार भावों को व्यक्त करने की क्षमता नहीं है। मैं भी खड़ी बोली के पक्ष में नहीं था, किन्तु जब मैंने पन्तजी द्वारा रचित 'पल्लव' की भूमिका पढ़ी तो मेरा मत बदल गया।"

डॉ० नगेन्द्र ने 'पल्लव' के प्रति अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—'पल्लव' में पन्तजी की प्रतिभा का परिपूर्ण यौवन—वह उसके पूर्ण क्षणों की वाणी है—उसमें विहगवन के इस राजकुमार की उन्मुक्त वन्य गीतियाँ (wood-

notes wild) हैं। वाणी का यह उन्मुक्त विलास फिर अधिक नहीं दिखाई देता।"

४. गुंजन—'ग्रंथि' और 'पल्लव' के कवि पन्त के हृदय में विषाद एवं निराशा की जो गम्भीरता थी, वह 'गुंजन' में आकर समाप्त तो हो जाती है, पर भावना के स्थान पर कवि का चिन्तन प्रधान हो जाता है। स्वयं कवि ने 'गुंजन' का परिचय इस प्रकार दिया है—"गुंजन में धीरे-धीरे मैंने अपनी ओर मुड़कर तथा अपने भीतर देखकर अपने बारे में गुनगुनाना सीखा।" यही कारण है कि कवि 'पल्लव' की 'सुन्दरम्' की भूमि से उतरकर 'गुंजन' में 'शिवम्' की भूमि पर पदार्पण करता हुआ दिखाई देता है। उसकी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति सुख और दुःख में समत्व स्थापित करने का प्रयत्न करती है और साथ ही अधिक सूक्ष्म और भावात्मक कल्पना के दर्शन होते हैं। चिन्तन का प्राधान्य होने के कारण 'गुंजन' के अधिकतर गीत लघु आकार के हैं। प्रतिपाद्य की दृष्टि से इसके गीतों को चार शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है—१. जीवन-सम्बन्धी, २. प्रणय-सम्बन्धी गीत, ३. प्रेयसी के सौन्दर्य सम्बन्धी गीत, ४. एकान्त स्फुट गीत। जीवन सम्बन्धी गीतों में विस्मय भावना, मनन और ज्ञान का विकास तथा सुख-दुःख का परिज्ञान परिलक्षित होता है। इन गीतों में जीवन के प्रति आकर्षण और तज्जन्य शान्ति की अजस्र धारा प्रवाहित है—

"जीवन की लहर-लहर से हँस खेल-खेल रे नाविक!
जीवन के अन्तस्तल में नित बूड़-बूड़ रे नाविक!"

प्रणय-सम्बन्धी गीतों में कवि के प्रेमपूर्ण उद्गार हैं। इनमें यौवन के विकास का मूर्तिमन्त चित्रण किया गया है। इन गीतों में कवि की कल्पना की उत्तेजना और विदग्धता विचारणीय है। प्रेयसी के सौन्दर्य-सम्बन्धी गीतों में प्रिया के अपार सौन्दर्य का वर्णन है, किन्तु यह सौन्दर्य विश्वव्यापी प्रभाव अंकित करता है। सृष्टि का अशेष सुन्दर रूप उस अनिंद्य सुन्दरी का शृंगारिक उपकरण है। वस्तुतः इन गीतों में कवि की प्रेम-भावुकता अपनी चरम सीमा पर पहुँची हुई दिखाई देती है। इनमें हर्ष-उल्लास से भरे हुए मादक वातावरण की अवतारणा है जिससे प्रकृति की उद्दीपकता में यौवनोन्माद और भी अधिक प्रखर हो गया है। एकान्त स्फुट गीतों में विविध भावों एवं कलात्मकता का प्रयोग है। नौका-विहार, एक तारा, अप्सरा, चाँदनी आदि कविताएँ इसी शीर्षक के अन्तर्गत

आती हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि 'गुंजन' में 'पन्तजी एक नवीन दिशा की ओर अग्रसर हो रहे हैं जिसमें जीवनानन्द की छलकती हुई मधुर-गागरें भी हैं और आशा की स्निग्ध ज्योत्स्ना भी।

कला-पक्ष की दृष्टि से भी गुंजन अत्यन्त सफल एवं समृद्ध है। इसमें भावानुकूल अलंकारों का सहज तथा सार्थक प्रयोग है। इसकी भाषा में अपूर्व संगीतात्मकता का समावेश है। पन्त जी के शब्दों में—"गुंजन के भाषा-संगीत में एक सुघरता, मधुरता और स्वच्छता आ गई है जो पल्लव में नहीं मिलती। गुंजन के संगीत मे एकता है, पल्लव के स्वरों में बहुलता। पल्लव की भाषा दृश्य जगत् के रूप-रंग की कल्पना से मांसल और पल्लवित है, गुंजन की भाषा, भाव और कल्पना के सूक्ष्म सौन्दर्य से गुम्फित।'

५. ज्योत्स्ना—काव्यरूप की दृष्टि से 'ज्योत्स्ना' एक नाटिका है, किन्तु इसमें नाटककार पन्त के नहीं, कवि पन्त के दर्शन होते हैं। यह पाश्चात्य 'एलेगरी' (Allegory) के ढंग का एक रूपक है जिसमें अमूर्त्त भावों एवं विचारों का मूर्तिकरण किया गया है। संक्षेप में इसका कथानक यह है कि संसार में सर्वत्र भ्रान्ति और अशान्ति देखकर इन्दु उसके शासन की बागडोर अपनी महिषी ज्योत्स्ना को सौंप देता है। ज्योत्स्ना पृथ्वी पर उतर आती है और पवन, सुरभि, स्वप्न और कल्पना की सहायता से सृष्टि का रंग-रूप ही बदल देती है जिससे संसार में प्रेम और सौन्दर्य का स्वर्ग साकार हो उठता है। इस प्रकार ज्योत्स्ना जीवन के नये आदर्शों की स्थापना करके इसी भूमि पर स्वर्ग उतार देती है। यही स्वप्न-द्रष्टा पन्त के भावी स्वर्णिम समाज की रूप-रेखा है। दूसरे शब्दों में वह सकते हैं कि "पन्त जी ने जो विकसित मानववाद और काल्पनिक समाजवाद के सामंजस्य द्वारा अपना नया स्वर्ग निर्माण किया है, उसी का उन्होंने इस नाटिका में आख्यान किया है।" उद्देश्य की दृष्टि से 'ज्योत्स्ना' अपने उद्देश्य में पूर्ण रूप से सफल है। इसमें कला, प्रेम, सत्य, शासन आदि अनेक जीवन-तथ्यों का सुन्दर उद्‌घाटन किया गया है। पन्तजी ने 'ज्योत्स्ना' की महत्ता इन शब्दों में प्रतिपादित की है—' मेरे काव्य-दर्शन की कुंजी निश्चय ही ज्योत्स्ना में है।"

६. युगान्त—जैसा कि नाम से ही प्रकट है, यहाँ आकर पन्तजी की कविताओं के युग का अन्त हो जाता है; अर्थात् "पल्लव का करुणा-कनिष्ठ

[illegible] पल्लव के [illegible] कर चुका था, युगान्त में [illegible] का [illegible] हो गया है। इस परिवर्तन का कारण यह है कि [illegible] ने जिस [illegible] का स्वप्न देखा था, उससे [illegible] एक प्रकार का [illegible] उत्पन्न हो गया। फलतः [illegible] के [illegible] के रूप में फूट पड़ी। इसीलिए इसमें [illegible] के [illegible] नवीन मनुष्यत्व के प्रति संकेत भी है। [illegible] के प्रति कवि का [illegible] हो गया है कि वह पुरातन को फूटी आँख से भी नहीं देखना चाहता—

"द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र, हे स्रस्त ध्वस्त, हे शुष्क शीर्ण।"

× × ×

"गा कोकिल, बरसा पावक कण, नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन।"

इस क्रान्तिकारी आदेश में केवल क्षोभ ही नहीं, नवीन मानवता के आशीर्वाद के लिए दुरम्य आशा भी है। कवि को आशा है—

"जो सोए स्वप्नों के तम में, वे जागेंगे—यह सत्य बात,
जो देख चुके जीवन-निशीथ वे देखेंगे जीवन-प्रभात।"

अतः यह असंदिग्ध शब्दों में कहा जा सकता है कि 'युगान्त' में पन्तजी पूर्ण रूप से नैतिक (Ethical) बन गए हैं, इसीलिए इसकी कविताओं में नैतिकता के दर्शन होते हैं।

नैतिक कविताओं के अतिरिक्त 'युगान्त' में कुछ कृतियाँ प्रकृति-प्रेम से भी सम्बद्ध हैं; यथा—वसन्त, तितली, सन्ध्या, छाया, बाँसों का झुरमुट आदि। साथ ही यह भी स्मरणीय है कि 'युगान्त' के कवि का प्रकृति विषयक दृष्टिकोण भी बदल गया है, इसीलिए इन वर्णनों में प्राकृतिक दृश्यों के ऐन्द्रिय चित्रणों के स्थान पर बाह्य प्रकृति की अन्तरात्मा को पहचानने का प्रयास है। डॉ० नगेन्द्र ने 'युगान्त' का मूल्यांकन इस प्रकार किया है—"युगान्त में कवि की कला और शैली में भी एक साथ परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। गुंजन में जो कला निखरी थी [illegible] थी, वह युगान्त में [illegible] मांसल हो गई है। उसके लघु-लघु [illegible] परिष्कृत हो गए हैं। ...युगान्त की भाषा में वांछित महाप्राणता [illegible] अत्यन्त विकसित और सशक्त है।......सारांश यह [illegible]"

७. युगवाणी—'युगान्त' में अपने सौन्दर्य-युग का अन्त करके पन्तजी
न की शिवम-भूमि पर उतर आए थे। वे दुःखी और त्रस्त जीवन का
धान गांधीवाद में निहित समझते थे; किन्तु युगवाणी में आकर उनकी
रधारा ने गति बदली। आधुनिक जग-जीवन की समस्याओं को सुलझाने
न्हें गांधीवाद की अपेक्षा मार्क्सवाद अधिक सक्षम और सशक्त दिखाई दिया;
ह गांधीवाद की सफलता उनके समक्ष संदिग्ध बन गई, उसके सिद्धांतों की
त्रा में कवि का चिन्तन-प्रधान मस्तिष्क प्रश्नवाचक चिह्न लगाने लगा—

> "सत्य अहिंसा से आलोकित होगा मानव का मन ?
> अमर प्रेम का मधुर स्वर्ग बन जायेगा जग-जीवन
> आत्मा की महिमा से मण्डित होगी नव मानवता ?"

दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि गांधीवाद को छोड़कर 'युगवाणी का कवि'
र्सवादी भाषा में बोलने लगा और उसी के मस्तिष्क से सोचने लगा। अतः
वाणी' भारतीय साम्यवाद की ही वाणी है।

'युगवाणी' में कवि के भाव-पक्ष में ही परिवर्तन नहीं आया, बल्कि कला-
ने भी एकदम महान् करवट ले ली, अर्थात् कोमल-कान्त पदावलियों में
ुन के गीत गाने वाला पंत, गद्य-गीत के धरातल पर उतर आया, उसने
कि गद्य को वाणी देने का प्रयत्न किया। इस परिवर्तन का कारण जन के
कवि की गहनतम आस्था थी जिसका संकेत उन्होंने इन शब्दों में किया
"युगवाणी में यह बात कई तरह व्यक्त की गई है कि भावी जीवन और
मानवता की सौन्दर्य-कल्पना स्वयं ही अपना आभूषण है।" शैली के इस
् परिवर्तन के होते हुए भी 'युगवाणी' की भाषा में सारल्य, भावानुकूल
ुने शब्दों का प्रयोग और सक्षम आदि गुण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं।
लिए इसमें आधुनिक जीवन के सिद्धांतों की सुन्दर व्याख्या उपलब्ध
है।

८. ग्राम्या—'ग्राम्या' का परिचय देते हुए डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है—"युग-
ी में प्रगतिवादी पंत का सिद्धांत-वाक्य था—ग्राम्या उसका प्रयोग।" ये
'ग्राम्या' का समस्त विश्लेषण सूत्रवत् प्रस्तुत कर देते हैं, इसमें कोई
ह नहीं। 'युगवाणी' में कवि का कल्पना का स्वर्णिम लोक छोड़कर यथार्थ
के धरातल पर उतर तो आए थे, किन्तु मार्क्सवादी [illegible] ही

विशेष रूप से प्रतिपादन करते रहे। 'ग्राम्या' में वे भारत के गाँवों में घुस गये हैं, भले ही बौद्धिकता की ही सहानुभूति लेकर। 'ग्राम्या' में गाँवों का, उनकी परिस्थितियों का और उनमें रहने वालों की दयनीय स्थितियों का सफल चित्रण हुआ है। गाँवों की गौरवपूर्ण स्थिति का इससे अधिक मार्मिक चित्रण और क्या हो सकता है—

"इन कीड़ों का भी मनुज बीज,
यह सोच हृदय आता पसीज।"

'ग्राम्या में हास्य और व्यंग्य के चित्र भी पर्याप्त मिलते हैं, परन्तु हास्य की अपेक्षा व्यंग्य ही अधिक मुखरित हुआ है, क्योंकि ग्राम्या' का वातावरण इसी के लिए अधिक उपयुक्त है। केवल बौद्धिकतापूर्ण सहानुभूति होने के कारण 'ग्राम्या' में कुछ दोष भी आ गए हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ ली जा सकती हैं—

"लो अब गाड़ी चल दी भर-भर बतलाती अनि पति से हँसकर,
सुस्थिर डिब्बे के नारी नर जाती ग्राम वधू पति के घर।"

इन पंक्तियों में ग्रामीण परम्पराओं की एकदम अवहेलना है। ग्राम-वधू को एकदम आधुनिक नारी बना देना, उसकी लज्जा के गहन आवरण को एकदम हटा देना ग्राम्य स्थितियों से अपरिचय का ही बोधक है। ऐसे ही दोष-दर्शनों के कारण यह कहा जा सकता है कि ग्राम्या में "जीवन की चहल-पहल तो है, परन्तु महान् की शक्ति नहीं है।"

९. स्वर्ण किरण—'युगवाणी' और 'ग्राम्या' का प्रगतिवाद कवि पन्त के चिन्तक मस्तिष्क को अपनी यथार्थता में बहुत दिन उलझाए न रह सका, फलतः जीवन की यथार्थता से पलायन करके कवि फिर काल्पनिक जीवन की ओर दौड़ा। 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' इसी दौड़ की परिणति हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि इन्हीं दो कृतियों से पन्त के 'आध्यात्मिक युग' का प्रारम्भ होता है। यहाँ पर यह ध्यान रखना भी परमावश्यक है कि पन्त की आध्या-

[illegible]

॥ चेतन'
'सर्वोदय'

"एक निखिल धरणी का जीवन एक मनुजता का संघर्षण,
विपुल ज्ञान संग्रह मत्र पथ का विश्व प्रेम का करे उन्नयन।"

'स्वर्ण किरण' पर अरविन्द-दर्शन का प्रभाव है। कवि इसी कारण एक दार्शनिक की भाषा में बोलता है, किन्तु जिन सत्यों को वह अपनाना चाहता है, वे बहुत सूक्ष्म होने के कारण हृदय-ग्राह्य नहीं हैं। बुद्धि भी उन्हें नहीं पकड़ सकती। वे तो केवल आत्मा से ही अनुभव किए जा सकते हैं। इसलिए 'स्वर्ण किरण' की भाषा प्रतीकात्मक है। श्री रामचन्द्र गुप्त के शब्दों में 'स्वर्ण किरण' का लक्ष्य यह है—"कवि नैतिक और आध्यात्मिक चेतना को इस भू पर पुनः लाने को उत्सुक है। वह इस भू पर स्वर्ग उतारना चाहता है। राम, गांधी, अरविन्द, जवाहरलाल—सभी नव चेतना के अग्रदूत हैं जो सम्पूर्ण पृथ्वी के सन्ताप तथा इसकी पंकिलता का निरास करके इस पर पुनः जागरण और चेतना का प्रसार करेंगे और पुनः मानवता विकसित एवं संगठित होगी।"

१०. स्वर्णधूलि—'स्वर्णधूलि' का आधार सामाजिक है। इसमें कवि ने यह प्रतिपादित किया है कि अध्यात्म और भूतवाद दोनों के समन्वय में ही विश्व-क्षेम निहित है। इसमें कवि अपने 'अहं' की सीमित परिधि से निकलकर विश्वमय हो गया है और सभी को विशालमना बनने को प्रेरित करता है—

"मानव होकर रहें धरा पर
जाति वर्ण धर्मों से ऊपर
व्यापक मनुष्यत्व में बँधकर।"

११. उत्तरा—'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' में कवि पन्त का जिस 'नव चेतना' से परिचय हुआ था, वह 'उत्तरा' में आकर और भी बलवती हो गई है, अतः कवि मानव को, मानव-समाज को और संस्कृति को बदल डालने की उद्‌घोषणा करता है—

"यह रे भू का निर्माण काल हँसता नव जीवन अरुणोदय,
ले रही जन्म नव मानवता अब खर्व मानवता होती क्षय।"

इस कृति में पन्त जी की दार्शनिकता और भी गहन हो गई है। दूसरे शब्दों में वे कवि न रहकर दार्शनिक बन गये हैं। 'उत्तरा' के प्रतिपाद्य के विषय में स्वयं कवि का कथन है—

"उत्तरा में मेरी इधर की कुछ प्रतीकात्मक, कुछ धरती तथा युग सम्बन्धी, कुछ प्रकृति तथा वियोग-शृंगार विषयक कविताएँ और कुछ प्रार्थनागीत संगृहीत हैं।"

इस उद्धरण की व्याख्या दूसरे शब्दों में इस प्रकार की जा सकती है कि 'उत्तरा' पन्त जी की सर्वप्रमुख 'समन्वयात्मक कृति' है। इसमें कवि ने सभी क्षेत्रों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है। जहाँ तक अध्यात्म तत्त्व का प्रश्न है, उत्तरा का दर्शन शास्त्रीय दार्शनिक धारा का अनुसरण नहीं करता। डॉ० स्नातक के शब्दों में—

"उत्तरा का क्रांतदर्शी कवि इस तथ्य से पूर्णतया परिचित है, इसीलिए युग-चेतन की दृढ़ भूमि पर पाँव जमाकर ही अध्यात्म के पथ पर चलता है। दार्शनिक अद्वैतवाद या ब्रह्म-चिन्तन की परिपाटी से तथा-कथित अध्यात्मवाद का पोषण उसका ध्येय नहीं है। अपने गीतों के शीर्षकों में ही उसने इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया है। विषयानुरूप शीर्षकों के चयन से ही कवि अपनी मौलिकता की छाप डालकर स्वाभिप्राय की ओर इंगित कर देता है।" निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि 'उत्तरा' पन्त जी की उत्कृष्ट काव्य कृति है। इसकी कविताओं में कवि का गहन मनन एवं चिन्तन तो मुखरित है ही, साथ ही भावों का विशद विस्तार भी है। लोक-कल्याण की भावना का प्राचुर्य है। कला-पक्ष भी सशक्त एवं समृद्ध है। स्वयं कवि पन्त ने 'उत्तरा' की महत्ता इन शब्दों में प्रकट की है—"उत्तरा को सौन्दर्य-बोध तथा भाव-ऐश्वर्य की दृष्टि से, मैं अब तक की अपनी सर्वोत्कृष्ट कृति मानता हूँ।"

१२. रजत-शिखर—यह कवि का एक रूपक-संग्रह है। इसमें छः रूपक संगृहीत हैं—विद्युत् वसना, शुभ्र पुरुष, उत्तर शती, फूलों का देश, रजत-शिखर और शरद चेतना। 'विद्युत् वसना' आजादी की देवी का प्रतीकात्मक नाम है, जिसके माध्यम से कवि ने नवयुग की नवीन ज्योति का संकेत दिया है। इसका प्रतिपाद्य कवि ने इन शब्दों में प्रकट किया है—

"यह विद्युत वसना का रूपक है सांकेतिक,
नव युग का नव संदेश भरा जिसमें ज्योतिर्मय!"

'शुभ्र पुरुष' महात्मा गांधी का प्रतीक है। पन्त जी ने इस रूपक में न केवल गांधी जी के राजनैतिक व्यक्तित्व को ही अभिव्यक्ति दी है, वरन् उन्होंने

उनके सांस्कृतिक और आध्यात्मिक व्यक्तित्व के प्रति भी श्रद्धांजलि अर्पित की है। उसमें कवि ने 'उत्तरशती' में शती के पूर्वार्द्ध के लौह-संघर्ष और उपलब्धियों पर विहंगम दृष्टिपात करके उत्तरार्द्ध में आने वाले स्वर्णयुग की ओर आशामय संकेत किया है। 'फूलों का देश' सांस्कृतिक रूपक है। इसमें कवि ने यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि संसार में फँसे विभिन्न वादों में समन्वय स्थापित करने का उत्तरदायित्व कलाकार अथवा कवि का है। 'फूलों का देश' का परिचय देते हुए पन्त जी ने लिखा है—

> "यह फूलों का देश ज्योति मानस का रूपक :
> जहाँ विचरते अन्तर्द्रष्टा कलाकार, कवि,
> निभृत कल्पना पथ से नित भावोन्मेषित हो।"

'रजत-शिखर' में बताया गया है कि मानव के वर्तमान संचरण को संतुलित रखने के लिए ऊर्ध्व के अवरोहण की आवश्यकता है। इस रूपक में समतल संचरण का प्रतिनिधि राजनीतिज्ञ और निम्न संचरण का प्रतिनिधि सुव्रत नामक मनोविश्लेषक है। 'शरद चेतना' उस चन्द्रिका की प्रतीक है जो शरद चन्द्र से उतरकर पृथ्वी पर आती है। पन्त ने इसे ही 'स्वर्ग लोक की अमर चेतना' कहा है—

> "भौतिक ज्योति नहीं है, केवल शरद चाँदनी,
> आत्मलीन वह अमर चेतना स्वर्ग लोक की।"

जिस प्रकार यह चन्द्रिका आकाश से उतरती है, उसी प्रकार मानव के सम्यक् विकास के क्रम में न केवल निम्न चेतना ही ऊपर उठती है, बल्कि उर्ध्व चेतना भी नीचे आती है। अरविन्द जी ने इसे 'दुहरी सीढ़ी' की संज्ञा दी है। 'शरद चेतना' में इसी विकास-क्रम को प्रदर्शित किया गया है।

१३. शिल्पी—शिल्पी में तीन रूपक संगृहीत हैं—शिल्पी, ध्वंस शेष और अप्सरा। 'शिल्पी' कलाकार के अन्तर्द्वन्द्व का संघर्ष है। जिस प्रकार अज्ञान जनता बिना सोचे-विचारे पुरानी रूढ़ियों पर ही चलती रहती है, उसी प्रकार अचेतन शिल्पी भी पुरानी ही प्रतिमाओं को गढ़ता रहता है। 'शिल्पी' का कलाकार सजग एवं सचेत है। वह जहाँ एक ओर पुराने आदर्शों की प्रतिमाएँ बनाता है, वहाँ नवीनतम आदर्शों से सम्पन्न मूर्तियों का निर्माण भी करता है। क्योंकि उसके सामने यह प्रश्न सदैव उपस्थित है—

"यही प्रश्न है आज कला के सम्मुख निश्चय,
जो दुःसाध्य प्रतीत हो रहा कलाकार को।
बहिरन्तर की जटिल विषमताओं में उलझी,
नव समत्व भरना होगा सौंदर्य संतुलित।"

'ध्वंसशेष' तृतीय विश्व-युद्ध की आशंका से लिखा गया है। इसमें कवि युद्ध से भावी विध्वंस की कल्पना करके युद्ध की विभीषिकाओं का वर्णन करता है। साथ ही त्रस्त हुई प्रकृति को मानव का सान्त्वना-भरा संदेश भी दिया गया है—

"कातर मत हो प्रकृति, तुम्हें यह मर्त्यों की-सी,
करुणा क्लीविता नहीं सुहाती, शांत करो मन।
भूत प्रलय यह नहीं मात्र यह मन: क्रांति है,
आरोहण कर रही सभ्यता नव शिखरों पर।"

'अप्सरा' सौन्दर्य-चेतना का रूपक है। इस रूपक में पहली बार दृश्यों के शीर्षक दिये गये हैं। पहला दृश्य 'भावोद्वेलन' है जिसमें कलाकार इस सौन्दर्य-चेतना को अपने हृदय मे उतारने के लिये आकुल है। द्वितीय दृश्य में 'मानसिक संघर्ष' है। तृतीय दृश्य 'उन्मेष' है और चतुर्थ 'रूपान्तर' है। इसमें कवि ने 'सौन्दर्य-चेतना' की व्याख्या की है—

"जग जीवन की अन्तरतम स्वर संगति।"

१४. सौवर्ण—यह पन्त जी का अभी तक का अन्तिम प्रतीक रूपक है। सौवर्ण एक आदर्श पुरुष का प्रतीक है। वह पुरुष होकर भी देवता है, बल्कि देवता से भी महत्तर है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि पन्त जी का 'सौवर्ण' श्री अरविन्द का 'डिवाइन मैन' (Divine Man) है। 'सौवर्ण' के कथानक का सारांश यह है कि आदर्श मानव, आदर्श समाज और आदर्श संसार इन सब की स्थापना सर्वगत समन्वय के आधार पर ही की जा सकती है।

१५. प्रतिमा—यह विभिन्न कविताओं का संग्रह है। मुख्यतः इसकी कविताएँ दो वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं—एक प्रकृति सम्बन्धी; और दूसरी सृजन चेतना के नवीन रूपकों तथा प्रतीकों से युक्त। कुछ कविताएँ इन दोनों वर्गों में नहीं आती। 'प्रतिमा' के विज्ञापन में स्वयं पन्त जी ने लिखा है—"प्रस्तुत संग्रह में प्रकृति सम्बन्धी कविताओं के अतिरिक्त अधिकतर ऐसी भी

रचनाएँ संगृहीत हैं जिनकी प्रेरणा भू-जीवन के अनेक स्तरों को स्पर्श करती हुई सृजन चेतना के नवीन रूपकों (प्रतीकों) में मूर्त हुई है।"

कवि ने 'प्रतिमा' का अर्थ इस प्रकार किया है—'प्रतिमा' वह ज्योति है जो अंधकार को छोड़ती है, वह शक्ति है जो भू-जीवन को विकसित करती है, वह चेतना है जो ऊपर उठकर अन्तर में भरती है और अन्त में स्वयं को अपने पथ-प्रदर्शक को श्रद्धानत समर्पित कर देती है।

'प्रतिमा' की कुछ कविताएँ आत्म-केन्द्रित भी हैं; जैसे—'नव अरुणोदय', 'गीतों का दर्पण'। इन कविताओं में पंत का आत्म-विश्वास मुखरित है। संग्रह की 'माः धरती कितना देती है' और 'सन्देश' कविताएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

१६. वाणी—'प्रतिमा' में कवि ने जिस विचार-दर्शन को प्रस्तुत किया था, उसकी ध्वनियाँ-प्रतिध्वनियाँ 'वाणी' में भी विद्यमान हैं। इस संग्रह की दो कविताएँ विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करती हैं—बुद्ध के प्रति और आत्मिका। 'बुद्ध के प्रति' कविता से यह निष्कर्ष निकलता है कि पंत जी का बुद्ध के सिद्धान्तों में विश्वास नहीं है, यह बात दूसरी है कि उनका विशाल व्यक्तित्व और उनकी अगाध करुणा सदैव कवि को आकर्षित करती रही है। 'आत्मिका' में उन्होंने अपने जीवन के संस्मरण दिये हैं इससे कवि को और उनकी कविता को समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है।

१७. कला और बूढ़ा चाँद—यह अब तक पन्त जी का अन्तिम और नवीनतम काव्य-संग्रह है। इसमें कवि ने अपनी काव्याभिव्यक्ति के लिये बिल्कुल नया ही आधार ग्रहण किया है और वह है छन्दों की पायलें उतार कर गद्य में ही काव्याभिव्यक्ति करना। इस संग्रह की रचनाएँ सहज स्फुरण से प्राप्त सत्यों को व्यंजित करती हैं, संभवतः इसीलिए कवि ने इसे 'रश्मिपदी काव्य' कहा है। डॉ० 'बच्चन' के शब्दों में 'कला और बूढ़ा चाँद' का मूल्यांकन देखिए—

'कला और बूढ़ा चाँद' एक नये माध्यम को लेकर आया है। मैंने उसे गद्य-काव्य कहा है, पर हिन्दी के पिछले गद्य-काव्य में वह टूक नहीं सकता। मानसिक अनुभूतियों की असाधारणता, विचित्रता और सूक्ष्मता सहज स्फुरण द्वारा नये, ताजे, आकर्षक प्रतीकों के चयन और शब्दों को अभिव्यंजना की चरम-सीमा पर ले जाकर छोड़ देने की कला ने 'कला और बूढ़ा चाँद' में एक अद्भुत कृति हमारे सामने रखी।

१८. लोकायतन—यह महाकाव्य है जो अभी-अभी प्रकाशित हुआ है।

: ४ :

प्रकृति-चित्रण

पन्त का प्रकृति के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध है। जिस प्रकार करुणा का नाम लेते ही अपने जीवन के मन्दिर के नीरव दीप की भाँति जलती हुई महादेवी की मूर्ति सामने झूलने लगती है, उसी प्रकार प्रकृति के प्रसंगमात्र से पन्त जी का काव्य साकार होकर अपने रचयिता के साथ आँखों के सामने आ जाता है। पन्त और प्रकृति का यह सम्बन्ध केवल कवि-जीवन का ही साथ नहीं है, बल्कि शैशव का संग है। काल के क्रूर हाथों से शीघ्र ही माँ की क्रोड छिन जाने पर प्रकृति ने ही तो शिशु पन्त को अपनी गोदी में लिया था—

"जो बाल सहचरी रही तुम्हारी, स्वप्न प्रिया,
जो कला मुकुर बन गई तुम्हारे हाथों में—
तुम स्वस्थ बनी हो जिसके बने अमर शिल्पी!"

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि जीवन के प्रत्येक पहलू में प्रकृति पन्त के साथ रही है। यदि वह शैशव में माता थी, तो बचपन में बाल-सहचरी बनी; यदि वह यौवन में स्वप्न-प्रिया बनी तो कवि-जीवन में कला का मुकुर बन गई। इस प्रकार पन्त और प्रकृति एक-दूसरे के पूरक से बन गये हैं।

यह बात मानने में किसी को भी आपत्ति नहीं हो सकती कि पन्त की काव्य-प्रेरणाओं में से प्रकृति एक प्रमुखतम प्रेरणा है। स्वयं कवि ने भी इसे इन शब्दों में स्वीकार किया है—"कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्मांचल प्रदेश को है।" एक अन्य स्थान पर कवि अपना और प्रकृति का सम्बन्ध इन शब्दों में प्रकट करता है—"प्रकृति-निरीक्षण और प्रकृति-प्रेम मेरे स्वभाव के अभिन्न अंग ही बन गये हैं, जिनसे मुझे जीवन के अनेक संकट (पूर्ण) क्षणों में अमोघ सान्त्वना मिली है।"

पन्त और प्रकृति का सम्बन्ध स्थापित करने के पश्चात् अब यह देखना चाहिए कि अपने काव्य में पन्त ने प्रकृति को किस प्रकार ग्रहण किया है? इस प्रश्न को ठीक से समझने के लिये हमें दो प्रश्नों पर विचार करना अपेक्षित है।

पहला प्रश्न यह है कि प्रकृति के प्रति पन्त का दृष्टिकोण क्या है ? और दूसरा यह है कि पन्त-काव्य में प्रकृति के कितने रूप मिलते हैं ?

पंत का प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण—अपने प्रकृति-विषयक दृष्टिकोण को प्रकट करते हुए पन्तजी 'आधुनिक कवि' के 'पर्यालोचन' में लिखते हैं—"साधारणतः, प्रकृति के सुन्दर रूप ही ने मुझे अधिक लुभाया है, पर उसका उग्र रूप भी मैंने 'परिवर्तन' में चित्रित किया है।" इस उद्धरण से स्पष्ट है कि पन्त को प्रकृति का सुन्दर रूप ही अधिक आकर्षक लगा है और उसी का उन्होंने अपने काव्य में प्रयोग भी किया है। जहाँ तक 'परिवर्तन' के उग्र रूप का प्रश्न है, इसे पन्त जी के दृष्टिकोण में सम्मिलित नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'परिवर्तन' उत्कृष्ट कविता होते हुये भी पन्त के काव्य का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती। यह तो जीवन की विषम परिस्थितियों के प्रति एक झुँझलाहट मात्र है जो आवेश के कारण कविता-बद्ध हो गई है। हाँ, प्रकृति का मजुल रूप पन्त के काव्य का प्रतिनिधित्व करता है। तभी तो वे द्रुमों की मृदुल छाया पर बाला के आत्म-समर्पण को भी न्यौछावर कर देते हैं—

> "छोड़ द्रुमों की मृदुल छाया
> तोड़ प्रकृति से मोह-माया
> बाले ! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन !"

यह कहना अनुचित न होगा कि प्रकृति का सुन्दर रूप ग्रहण करने के कारण ही पन्तजी में मनन एवं चिन्तन की शक्ति आई और वे हिन्दी-साहित्य को अपना स्वर्ण-काव्य प्रदान कर सके। यदि उन्हें बाढ़, वह्नि और उल्का की प्रकृति से लगाव होता तो निश्चय ही वे निराशावादी होते और पन्त जैसा स्वर्ण-काव्य किसी निराश मानस से उद्भूत नहीं हो सकता था। पन्त जी ने भी इन शब्दों में इसी तथ्य को स्वीकृत किया है—"यह सत्य है कि प्रकृति का उग्र रूप मुझे कम रुचता है, यदि मैं संघर्षप्रिय अथवा निराशावादी होता तो 'Nature red in tooth and claw' वाला कठोर रूप जो जीव-विज्ञान का सत्य है, मुझे अपनी ओर अधिक खींचता।"

विभिन्न रूप—पन्त जी ने प्रकृति का वर्णन विभिन्न रूपों में किया है जिनमें से प्रमुख ये हैं—
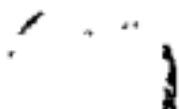
१. आलंबन रूप—जब प्रकृति में किसी प्रकार की भावना का अध्यारोप न करके प्रकृति का ज्यों का त्यों वर्णन किया जाता है तो वह आलंबन रूप होता है। पन्त जी के काव्य में इस प्रकार का वर्णन काफी मिलता है। उदाहरण के लिये 'पर्वत प्रदेश में पावस' कविता का यह अंश उद्धृत किया जा सकता है—

"गिरि का गौरव गाकर फर्-फर् मद में नस-नस उत्तेजित कर
मोती की लड़ियों से सुन्दर झरते हैं झाग भरे निर्झर !"

२. उद्दीपन रूप—जब प्रकृति का उपयोग भावनाओं को उद्दीप्त करने के लिये किया जाता है तो वह उसका उद्दीपन रूप होता है। इस रूप में प्रकृति का वर्णन बहुत ही अधिक हुआ है। विरह-काव्य तो बिना इस रूप के चल ही नहीं सकते। पन्त-काव्य का एक उदाहरण देखिए—

"धधकती है जलदों से ज्वाल
बन गया नीलम व्योम प्रवाल ;
आज सोने का संध्याकाल
जल रहा जतुगृह-सा विकराल !"

३. आलंकारिक रूप—इस रूप में प्रकृति का उपयोग अलंकारों के स्थान पर किया जाता है। पन्त जी ने भी ऐसा ही किया है। यथा—

"मेरा पावस ऋतु-जीवन,
मानस-सा उमड़ा अपार मन;
गहरे धुँधले, धुले साँवले
मेघों-से मेरे भरे नयन !"

४. पृष्ठभूमि के रूप में—भावनाओं को अधिक प्रभावोत्पादकता प्रदान करने के लिए प्रकृति का पृष्ठभूमि के रूप में भी वर्णन किया जाता है। पन्त-काव्य में ऐसे असंख्य पद हैं जहाँ इस रूप का प्रयोग किया गया है। 'ग्रन्थि', 'एक तारा', 'नौका विहार' आदि कविताएँ इसी रूप के उदाहरणार्थ प्रस्तुत की जा सकती हैं।

५. रहस्यात्मक रूप—प्रकृति में रहस्य-भावना का आरोप करना छायावाद की प्रमुख विशेषता है। पन्त में भी यह भावना उपलब्ध होती है। यथा—

"क्षुब्ध जल शिखरों को जब वात सिन्धु में मथकर फेनाकार

बुलबुलों का व्याकुल संसार बना, बिथुरा देनी अज्ञात;
उठा तब लहरों से कर कौन न जाने मुझे बुलाता मौन ?"

६. दार्शनिक उद्‌भावना—प्रकृति के माध्यम से दर्शन की अभिव्यक्ति करना इसी रूप के अन्तर्गत आता है। पन्त की 'नौका-विहार' और 'एक तारा' आदि कविताएँ उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत की जा सकती हैं। 'एक तारा' के अन्त में पन्त ने इन पंक्तियों में अपनी दार्शनिक उद्‌भावना की है—

"जगमग-जगमग नभ का आँगन,
लद गया कुन्द कलियों से घन,
वह आत्म और यह जग-दर्शन !"

७. मानवीकरण—प्रकृति में चेतन सत्ता का आरोपण ही मानवीकरण कहलाता है। छायावादी काव्य ने प्रकृति को एक चेतन सत्ता के रूप में ही देखा है, जड़ के रूप में नहीं। यही कारण है कि छायावाद प्रकृति के इस रूप को विशेषत: अपनाकर चला है। 'सन्ध्या' कविता में कवि ने सन्ध्या को एक नवयुवती के रूप में चित्रित किया है—

"कहो, तुम रूपसि कौन ?
व्योम से उतर रही चुपचाप
छिपी निज छाया छवि में आप,
सुनहला फैला केश-कलाप,
मधुर, मंथर, मृदु, मौन !"

८. नारी रूप—प्रकृति का कोमल रूप ग्रहण करने के कारण ही पन्तजी ने प्रकृति को नारी रूप में भी देखा है। 'चाँदनी' कविता में वे चाँदनी का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

"नीले नभ के शतदल पर वह बैठी शारद-हासिनी,
मृदु करतल पर शशि-मुख धर नीरव, अनिमिष, एकाकिनी !"

९. उपदेशात्मकता—उपदेश के लिए प्रकृति का प्रयोग काफी पुराना है। गोस्वामी तुलसीदास भी जब वर्षा ऋतु का वर्णन करते हैं तो इसी प्रणाली को अपनाते हैं—

"बुँद अघात सहैं गिरि कैसे, खल के बचन संत सहैं जैसे।"

किन्तु छायावादी कवियों ने अधिक प्रभाव-प्रवणता के साथ इस रूप का प्रयोग किया है। जीवन और यौवन की नश्वरता प्रकृति के माध्यम से व्यक्त करते हुए कवि पन्त कहते हैं—

"वही मधु ऋतु की गुंजित डाल झुकी थी जो यौवन के भार
अकिंचनता में निज तत्काल सिहर उठी जीवन है भार!"

इस प्रकार पन्त के काव्य में प्रकृति के ये सभी विभिन्न रूप मिलते हैं जो छायावादी काव्य के प्रकृति-तत्त्व हैं, किन्तु प्रकृति के प्रति सुकुमारता का दृष्टिकोण पन्त की अपनी निजी विशेषता है। इसी दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हुए डॉ॰ इन्द्रनाथ मदान के ये शब्द सर्वथा उपयुक्त हैं—"उन्हें (पन्त को) प्रकृति का सुकुमार कवि कहा जाता है। वास्तव में पन्तजी को यह विशेषण देना ठीक है, क्योंकि वे उन्मुक्त प्रकृति के अंचल में जन्मे, पले और बड़े हुए हैं जिससे उनकी अन्तः प्रकृति भी कोमल और स्निग्ध हो गई है।"

: ५ :

नारी-भावना

नारी के प्रति कवि पन्त का दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही भी स्वस्थ रहा है। यह बात दूसरी है कि कवि के मानसिक विकास के साथ-साथ इस दृष्टिकोण के स्तर भी बदलते गए हैं, किन्तु उसकी स्वस्थता में कोई परिवर्तन नहीं आया। यदि इस दृष्टिकोण का कुछ गम्भीरता से विश्लेषण किया जाय तो कहा जा सकता है कि संभवतः कवि का आजन्म अवैवाहिक जीवन ही इस स्वस्थता का आधार है, क्योंकि जीवन मे जिस वस्तु का अभाव होता है, उसके प्रति आकर्षण और श्रद्धा का बना रहना सहज स्वाभाविक है।

प्रारम्भ में पन्तजी का नारी-विषयक दृष्टिकोण एकदम आदर्शपूर्ण और विशद है। 'वीणा' की बालिका हाड-मांस की पुत्तलिका न होकर कवि के मानव-जगत् की सृष्टि ही प्रतीत होती है। यही बालिका जब 'पल्लव' में तारुण्य को प्राप्त हो जाती है तो पन्त का तद्विषय आदर्श और भी गहरा हो जाता है। वे कितने संयत शब्दों मे उसका रूप-चित्रण करते हैं—

"उषा का था उर में आवास, मुकुल का मुख में मृदुल विकास,
चाँदनी का स्वभाव में भास विचारों में बच्चों के सांस !"

'विचारों में बच्चों के सांस' कहकर कवि ने वयःसन्धि की ओर संकेत किया है। यदि विद्यापति की 'वयः सन्धि' से इसकी तुलना की जाये तो पन्त के संयम की उच्चता स्वीकार करनी ही पड़ेगी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। यही नहीं, जब कवि नारी को 'देवि ! मा ! सहचरि ! प्राण' आदि सम्बोधनों से सम्बोधित करता है तो उसका नारी-विषयक दृष्टिकोण आदर्शवादिता की चरम सीमा को छूता हुआ परिलक्षित होता है।

नारी का यह रूप पन्तजी ने तभी तक अपनाया, जब तक वे छायावाद की मंजुल मनोहारी उपत्यका मे रहे। जब उन्होंने इस सौरभमय जगत् से निकलकर यथार्थ लोक में प्रगतिवाद के चरणों को रखना हो उन्हें जग-जीवन में अनेक विषमताओं के दर्शन हुए। फलतः उन्हीं के अनुसार उन्होंने नारी की

स्थिति को समझने का प्रयास किया। उस समय पन्तजी ने नारी की जो स्थिति देखी, वह 'मानव' के शब्दों में इस प्रकार है—"जीवन के अन्य उपकरणों के समान नारी को भी पुरुष अपनी व्यक्तिगत पूँजी समझता है। यह सत्य है कि उसने उसे सोने से लाद दिया है, परन्तु ये आभूषण ही उसके शरीर के बन्धन बन गये हैं। उसको इस प्रकार तुष्ट कर उसने उसे अपनी इच्छा का खिलौना बनाया। उसके लिए उसने जो नैतिक मान घोषित कर दिये, उन्हें उसे स्वीकार करना पड़ा। इस प्रकार शरीर के साथ उसकी आत्मा पर भी आधिपत्य हो गया। नारी का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व न रहा। यदि उसके मन में विद्रोह की कोई इच्छा जगी भी, तो वह वहीं कुचल दी गई। पुरुष के पास इस काम के लिए पशु-बल की कमी न थी।" पंतजी ने भी इस स्थिति को इन पंक्तियों में व्यक्त किया है—

> "क्षुधा काम वश गत युग ने, पशु बल से कर जन शासित ;
> जीवन के उपकरण सदृश, नारी भी कर ली अधिकृत !"

कवि ने देखा, नारी की यह स्थिति न केवल नारी के लिए, बल्कि समाज के लिए भी घातक है। जब तक नारी की इस स्थिति को बदलकर उसे 'मानवी' के पद पर *प्रतिष्ठित नहीं किया जायेगा*, तब तक समाज का विकास नहीं हो सकता, अतः उन्होंने उद्घोषणा की—

> "मुक्त करो जीवन संगिनी को जननी, देवी को आदृत ;
> जग जीवन में मानव के सग हो मानवी प्रतिष्ठित !"

नर-नारी का समुचित सहयोग ही जगत् को विकास के पथ पर ले जा सकता है—

> "सामूहिक श्रम भाव स्वास्थ्य से जीवन हो मर्यादित,
> नर नारी की हृदय मुक्ति से मानवता हो संस्कृत !"

इसलिए वे समाज में नारी की उचित प्रतिष्ठा चाहते हैं। वे बार-बार इस *बात का खंडन करते हैं कि नारी केवल योनि मात्र नहीं है*, और न केवल उसके सौन्दर्य का मूल्यांकन काम-वासना के द्वारा करने से मानववाद की स्थापना हो सकती है। "जिस दिन नारी 'नारी की संज्ञा भुला' कर 'नरों के सग बैठ' कर 'जग-जीवन का काम-काज' साथ-साथ कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर करेगी, उसी दिन समाज द्रुतगति से विकास के पथ पर अग्रसर होगा।"

यह है प्रगतिवादी पंत का नारी के प्रति दृष्टिकोण । अध्यात्मवादी पन्त भले ही प्रगतिवाद की जन-नगरों की अँधेरी गलियों को छोड़कर मानस के विशाल प्रदेश में प्रविष्ट हो गया, किंतु नारी फिर भी उसके आदर्शों को प्रेरणा देती रही । 'स्वर्णधूलि' की 'मातृभक्ति' और 'मातृ-चेतना' इसके उदाहरण हैं । 'मानसी' कविता तो सिर्फ नर-नारी सम्बन्धों की स्थापना के लिए ही लिखी गई । 'मनुष्यत्व' कविता में कवि नारी-पुरुष के समन्वय पर जोर देता है—

"छोड़ नहीं सकते हैं यदि जन
नारी मोह पुरुष को दासी उसे बनाना,
देह द्वेष औ' काम क्लेश के दृश्य दिखाना—
तो अच्छा हो छोड़ दें अगर
हम समाज में द्वन्द्व स्त्री पुरुष में बँट जाना !"

इस प्रकार हम देखते हैं कि पन्त का प्रारम्भ से अब तक नारी के प्रति जो दृष्टिकोण रहा है, वह पूर्णतः स्वस्थ है । उन्होंने नारी को कभी भी काम-पुत्तलिका न समझकर पुरुष की भाँति ही समाज का एक अनिवार्य अंग माना है । समाज को जितनी आवश्यकता पुरुष की है, उतनी ही नारी की । समाज के विकास में पुरुष का जितना योगदान अपेक्षित है, उतना ही नारी का भी । इसीलिए तो वे भाव-विभोर होकर कह उठते हैं—

"स्नेहमयि ! सुन्दरतामयि !
तुम्हारे रोम-रोम से नारि,
मुझे है स्नेह अपार !"

स्थिति को समझने का प्रयास किया। उस समय पन्तजी ने नारी [illegible] स्थिति देखी, वह 'मानव' के शब्दों में इस प्रकार है—"जीवन के [illegible] करणों के समान नारी को भी पुरुष अपनी व्यक्तिगत पूँजी समझता है। सत्य है कि उसने उसे सोने से लाद दिया है, परन्तु ये आभूषण [illegible] शरीर के बन्धन बन गये हैं। उसको इस प्रकार तुष्ट कर उसने [illegible] इच्छा का खिलौना बनाया। उसके लिए उसने जो नैतिक मान [illegible] दिये, उन्हें उसे स्वीकार करना पड़ा। इस प्रकार शरीर के साथ उसको [illegible] पर भी आधिपत्य हो गया। नारी का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व न रहा [illegible] उसके मन में विद्रोह की कोई इच्छा जगी भी, तो वह वहीं कुचल [illegible] पुरुष के पास इस काम के लिए पशु-बल की कमी न थी।" पंतजी ने स्थिति को इन पंक्तियों में व्यक्त किया है—

> "क्षुधा काम वश गत युग ने, पशु बल से कर जन शा[illegible]
> जीवन के उपकरण सदृश, नारी भी कर ली अधि[illegible]"

कवि ने देखा, नारी की यह स्थिति न केवल नारी के लिए, [illegible] के लिए भी घातक है। जब तक नारी की इस स्थिति को [illegible] 'मानवी' के पद पर प्रतिष्ठित नहीं किया जायेगा, तब तक समाज [illegible] नहीं हो सकता, अतः उन्होंने उद्घोषणा की—

> "मुक्त करो जीवन संगिनी को जननी, देवी को आ[illegible]
> जग जीवन में मानव के संग हो मानवी प्रतिष्ठित!"

नर-नारी का समुचित सहयोग ही जगत् को विकास के [illegible] सकता है—

> "सामूहिक जन भाव स्वास्थ्य से जीवन हो मर्या[illegible]
> नर नारी को हृदय मुक्ति से मानवता हो संर[illegible]"

इसलिए वे समाज में नारी की उचित प्रतिष्ठा चाहते है[illegible] बात का खंडन करते हैं कि नारी केवल योनि मात्र नहीं है[illegible] उसके सौन्दर्य का मूल्यांकन काम-वासना के द्वारा करने से [illegible] हो सकती है। "जिस दिन नारी 'नारी की [illegible] कर 'जग-जीवन का काम-काज' [illegible] दिन समाज द्रुतगति से विकास [illegible]

'ग्रन्थि' की यह प्रेम-भावना 'पल्लव' में भी परिलक्षित होती है, किंतु उसमें हृदय की नितांत स्वाभाविकता न रहकर संयम का न्यूनाधिक अंकुश लग जाता है। जो प्रेम केवल हृदय ही रखता था, मस्तिष्क से जिसका कोई सरोकार नहीं था, वह मस्तिष्क के नियन्त्रण में आया हुआ-सा जान पड़ता है। 'पल्लव' में प्रणय-सम्बन्धी दो कविताएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—उच्छ्वास और आँसू। 'उच्छ्वास' में पहाड़ी प्रदेश के प्राकृतिक सौंदर्य की पृष्ठभूमि पर एक बालिका के साथ प्रेम-प्रसंग की चर्चा कवि ने की है। यह बालिका अभी तक अस्फुट-यौवना है। उसका सौंदर्य कवि ने इस प्रकार वर्णित किया है—

"सरलपन ही था उसका मन निरालापन था आभूषण,
कान से मिले अजान नयन सहज था सजा सजीला-तन!"

इस सौंदर्य-वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि के प्रेम में 'वीणा' के प्रेम जैसी सम्वेदना और हार्दिकता नहीं रह गई है, बल्कि उस संयम और चिंतन का झीना आवरण पड़ गया है। 'आँसू' कविता में यह चिंतन और भी प्रगाढ़ हो जाता है और कवि अपनी स्वाभाविक स्थिति से ऊपर उठकर आदर्श के स्तर पर पहुँच जाता है। आदर्श की पृष्ठ-भूमि पर वर्णित प्रेम का आदर्श-मय होना स्वाभाविक ही है, इसलिए कवि प्रेम को गंगाजल के सदृश पवित्र और निर्मल मानकर उसको निरन्तर पान करने की कामना प्रदर्शित करता है—

"बूंद दुहरे दृग द्वार
अचल पलकों में मूर्ति सँवार
पान करता हूं रूप अपार"

'गुंजन' में प्रेम का यह स्वरूप और भी सूक्ष्म हो जाता है; अर्थात् वह स्वभाविक न रहकर अत्यन्त आदर्शमयी कल्पना से परिवेष्टित हो जाता है। 'भावी पत्नी के प्रति' कविता कल्पना का ही परिणाम है। इसमें मांसल सौंदर्य के चित्र तो पर्याप्त हैं, किंतु कल्पना और आदर्श की गहनता के कारण वे 'स्व' की परिधि से बहुत दूर जा निकलते हैं। इसीलिए कवि की भावी पत्नी की

'युगांत' में आकर कवि की काव्य-रचना का पहला चरण समाप्त हो जाता है और दूसरा चरण शुरू होता है। यहाँ कवि के विचारों में एक महान् परिवर्तन उपस्थित होता है। सौंदर्य की खोज में पला हुआ कवि सौंदर्य का अन्त करके जग-जीवन की यथार्थ भूमि पर आ खड़ा होता है जहाँ कुरूपता का भी आधिपत्य है। यह बात और है कि पन्त की सौंदर्यान्वेषिणी दृष्टि कुरूपता में भी सौंदर्य खोज लेती हो। यद्यपि पंत की प्रणय-भावना उत्तरोत्तर स्वस्थ और विकसित होती गई है, तथापि 'युगान्त' में उसके मांसल चित्र भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं 'युगवाणी' में व्यक्तिगत प्रणय-गीतों का अभाव है। 'ग्राम्या' में कवि यथार्थ के नाम पर सौंदर्य के कुछ-कुछ नग्न चित्रण तो प्रस्तुत कर सका है, किंतु उसकी प्रणय-भावना वहाँ जन-नगरों की अंधेरी गलियों में ही भटक कर रह जाती है।

'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' से पंत-काव्य का तीसरा चरण प्रारम्भ होता है जिसे चेतना-काव्य का युग कहा जाता है। यहाँ कवि जग-जीवन से हटकर 'आत्मा' में ही सिमट जाता है। 'स्वर्ण-किरण' की कविता 'मधुगुंठिता' में प्रेम की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

> 'देह नहीं है परिधि प्रणय की,
> प्रणय दिव्य है मुक्ति हृदय की,
> यह अनहोनी रीति,
> देह वेदी हो प्राणों के परिणय की।"

इन पंक्तियों के अवलोकन से यह अनायास ही सिद्ध हो जाता है कि अपने अध्यात्म युग में पंत की प्रेम-भावना भी अलौकिक बन गई है। वह देह की परिधि से निकलकर हृदय की मुक्ति बन जाती है। 'स्वर्ण-किरण' में यह भावना और भी स्वस्थ एवं पवित्र बन गई है। यहाँ नारी मन और काया का सम्बन्ध छोड़कर प्राण और चेतना का स्वरूप धारण कर लेती है—

> "देह में मृदु देह सी उर में मधुर उर-सी समाकर।
> लिपट प्राणों से गई तुम चेतना-सी लिपट सुन्दर!"

'उत्तरा' में आकर तो कवि की यह भावना केवल भावना-मात्र रह जाती है। यहाँ प्रेम ध्रुव की भाँति अटल बन जाता है और प्रणयानुभूति विरहोज्ज्वल—

"अब प्रेमी मन वह नहीं रहा, अब प्रेम रह गया है केवल;
प्रेयसी-स्मृति भी वह नहीं रही, भावना रह गई विरहोज्ज्वल।

इस प्रकार पंत की विचारधारा के साथ-साथ उनकी प्रेम-भावना भी स्वस्थ और विकसित होती गई है। जो प्रेम 'ग्रंथि' में मांसल आधार लेकर चला था, वह वाणी तक आते-आते विश्व-प्रेम में परिणत हो गया है। कवि की महत्ता इसी में है कि वह अपनी भावनाओं का उदात्तीकरण कर दे। इसमें संदेह नहीं कि पन्त जी ने भी ऐसा ही किया है। यह कहना अनुचित न होगा कि पंत का स्वर्ण-काव्य इसी उदात्तीकरण का ही परिणाम है। अतः कह सकते हैं कि पंत की प्रेम-भावना में व्यापकता, शाश्वतता सर्वशक्तिमत्ता और पावनता आदि सभी गुण विद्यमान हैं। इन गुणों का विकास पन्त की नित नवीनता खोजने वाली दृष्टि के कारण है। 'ज्योत्स्ना' में एक नारी-पात्र के मुख से उन्होंने कहलवाया भी है—"मैं चाहती हूं कि प्रेम की भाषा अधिक संस्कृत, प्रेम प्रकट करने के हाव-भाव और भी नवीन एवं परिमार्जित हो।"

: ७:

सौंदर्यानुभूति

काव्य के लिए शिव और सत्य जितने ही अनिवार्य तत्त्व माने जाते हैं, उतना ही अनिवार्य सुन्दर तत्व भी है। इसलिए सत्काव्य वही माना गया है जो सत्यं शिवं और सुन्दरं से परिपूर्ण हो। पन्त में सुन्दरं की प्रधानता को डा०नगेन्द्र इन शब्दों में स्वीकार करते हैं।

"पंत हिन्दी के प्राचीन और आधुनिक कवियों में एकमात्र सुन्दर के कवि हैं।" इसी प्रधानता के कारण उनके काव्य का सत्य-पक्ष तिरोहित-सा हो गया है। अतः कतिपय आलोचक उनके काव्य में सत्यं को मानते ही नहीं। 'आधुनिक कवि' के 'पर्यालोचन' में पन्त जी ने इस आक्षेप की ओर संकेत भी किया है—"कहा जाता है कि मेरी कविताओं से सुन्दर और शिव से भी बड़े सत्य तत्त्व का बोध नहीं होता है, साथ ही उनमें वह अनुभूति की तीव्रता नहीं मिलती जो सत्य की अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है।" इस आक्षेप का उत्तर उन्होंने इन शब्दों में दिया है—"जिस प्रकार फूल में रंग-रूप है, फल में जीवनोपयोगी रस; और फूल की परिणति फल में सत्य के नियमों द्वारा ही होती है, उसी प्रकार सुन्दर की परिणति शिव में सत्य द्वारा ही हो सकती है। यदि कोई वस्तु उपयोगी (शिव) है तो उसके आधारभूत कारण उस उपयोगिता से सम्बन्ध रखने वाले सत्य में अवश्य होने चाहियें, नहीं तो वह उपयोगी नहीं हो सकती।" इन पंक्तियों को उद्धृत करने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि पन्त के काव्य में सुन्दरं तत्त्व का प्राचुर्य है। पन्त की सौंदर्यानुभूति को समझने के लिए उसे दो वर्गों में रख लेना अनिवार्य है—विकास और स्वरूप।

विकास - माँ की गोद छिन जाने पर जब प्रकृति माँ ने कवि को अपनी कोमल गोद में लेकर अपनी सुषमा का अक्षय भंडार उसके सम्मुख खोल दिया, तभी से पन्त के जीवन में सुन्दरता के बीजवपन हो गये। प्राकृतिक सौंदर्य उनकी सौंदर्यानुभूति का प्रथम चरण है। कवि को इस सौंदर्य ने इतना आकर्षित किया कि वह नारी के सुन्दरतम आकर्षण को भी उसके प्रति न्योछावर कर बैठा।

सामंजस्य में ही जीवन का सौंदर्य देखता है और जीवन के इसी क्रम को सच्चा सौंदर्य समझता है—

सुन्दर से नित सुन्दरतर
सुन्दरतर से सुन्दरतम
सुन्दर जीवन का क्रम रे
सुन्दर-सुन्दर जग-जीवन !"

'ज्योत्स्ना' में कवि की सौंदर्य-भावना शिव-मंगल की भावना का स्वरूप ग्रहण कर लेती है। स्वयं कवि के शब्दों में—"गुंजन और ज्योत्स्ना में मेरी सौंदर्य-कल्पना क्रमशः आत्म-कल्याण और शिव-मंगल की भावना की अभिव्यक्ति करने के लिए उपादान की तरह प्रयुक्त हुई है।" 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' कवि की प्रगतिवादी रचनायें हैं। इस समय कवि कल्पनाजन्य सौंदर्य का मोह छोड़कर यथार्थ की भूमि पर अवतीर्ण हो जाता है। परिणामतः उसकी सौंदर्य-दृष्टि पार्थिव और मांसल हो जाती है। 'ग्राम युवती' का सौंदर्य-वर्णन इसी प्रकार का है। उदाहरणार्थ—

"सरकाती—पट
खिसकाती लट,—
शरमाती झट
वह नमित दृष्टि से देख उरोजों के युग घट !"
"पनघट पर
मोहित नारी नर—!
जब जल से भर
भारी गागर
खींचती उबहनी वह, बरबस
चोली से उभर-उभर कसमस
खिचते संग युग रस भरे कलश;"

'धोबियों का नृत्य' कविता की भी कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"वह काम शिखा सी रही सिहर, नट की कटि में लालसा भँवर;
कँप-कँप नितम्ब उसके थर्-थर्, भर रहे घण्टियों में रति स्वर;
× × × चोली के कन्दुक रहे उघर;"

'स्वर्णकिरण और 'स्वर्णधूलि' से पन्त के काव्य का अध्यात्म-युग प्रारम्भ होता है, अतः तदनुकूल कवि की सौंदर्य-दृष्टि शारीरिक न रह कर मानसिक हो जाती है। वह बाह्य सौंदर्य की उपेक्षा करके आन्तरिक सौंदर्य पर विशेष बल देता है। उसकी आन्तरिक सौंदर्य-भावना इतनी प्रबल हो जाती है कि उसे 'वाणी' में अलंकार सह्य नहीं—

"ज्योतित कर जन मन के जीवन का अंधकार,
तुम खोल सको मानव उर के निःशब्द द्वार,
वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार !"

यहीं से कवि की सौंदर्य-भावना अपना सूक्ष्म रूप लेकर चलती है और समय के साथ-साथ सूक्ष्मतर से सूक्ष्मतम होती चली जाती है; अर्थात शिव-तत्व ही उनकी दृष्टि में वास्तविक सौंदर्य रह जाता है। 'कला और बूढ़ा चाँद' में 'रूपांध' की ये पंक्तियाँ उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती हैं—

"ओ मेरे रूप के मन,
तेरी भावना की गहराइयाँ
अरूप है !"

स्वरूप—कवि की सौंदर्यानुभूति के विकास पर एक विहंगम दृष्टि डालने के उपरान्त अब उसके स्वरूप पर विचार करना अपेक्षित है। स्थूलत: पन्त की सौंदर्यानुभूति को निम्नलिखित शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है—

१. सर्वव्यापकता,
२. सौंदर्य के प्रति अमिट पिपासा,
३. रहस्योन्मुखी,
४. अतीन्द्रिय ।

१. सर्व-व्यापकता—सौंदर्य का सर्व-व्यापकत्व देखना हिंदी-साहित्य के लिए कोई नवीन वस्तु नहीं है। जायसी की 'पद्मावती' का सौंदर्य भी इसी प्रकार का है। प्रकृति के समस्त सुन्दर उपकरण उसका शृंगार करते हैं और उसी की दिव्य ज्योति से प्रकाशित होते हैं। अंग्रेजी कवि शेली (Shelly) की अनुभूति भी इसी प्रकार की थी। पन्त जी की सौंदर्य-भावना भी किसी सीमित परिधि में बन्दी न होकर व्यापकता के उन्मुक्त प्रकाश में विचरण करती है। अपनी प्रेयसी का रूप वर्णन करते हुए वे सृष्टि के व्यापक तत्वों का आश्रय लेते हैं—

"उषा का था उर में आवास,
मुकुल का मुख में मृदुल विकास;
चाँदनी का स्वभाव में भास,
विचारों में बच्चों के साँस !"

शैली और पन्त की सौन्दर्यानुभूति की व्यापकता की ओर संकेत करती हुई श्रीमती शचीरानी गुर्टू लिखती हैं—"इन कवियों की प्रेयसियों की रूप-राशि अखिल विश्व में बिखरी हुई है और उनके नयनों में तीव्र मादकता और अनंत स्नेह छलक पड़ रहा है : लजीली पलकों पर बिखरी अलकों के साथ होड़ करती हुई कोमल आरक्त कपोलों की अरुणिमा प्रकृति के तार-तार में मुखरित हो रही है और उनकी वाणी का अज्ञात माधुर्य अणु-अणु में एक दिव्य स्पन्दन कर रहा है। सृष्टि का प्रत्येक तत्व प्रेयसी की सौंदर्य-सुषमा से समरस दीख पड़ता है।"

२. सौन्दर्य के प्रति अमिट पिपासा—पन्त की सौन्दर्यानुभूति इतनी प्रबल है कि उसकी प्यास कभी बुझती ही नहीं। उनके लिए सौन्दर्य से बढ़कर न तो और कोई सत्य है और न ऐश्वर्य—

"अकेली सुन्दरता कल्याणि !
सकल ऐश्वर्यों की सन्धान !"

डा० केसरीनारायण शुक्ल ने भी कवि की इसी अमिट पिपासा को इन शब्दों में व्यक्त किया है—"पन्त में सौंदर्य-प्रेम सबसे अधिक लक्षित होता है। कवि में सौंदर्य-प्रेम सौंदर्य के अन्वेषण में परिणित हो गया है। कवि ने जितना सौंदर्य देखा है, वह उससे सन्तुष्ट नहीं है। पन्त में अधिक सौंदर्य देखने की लालसा है।"

३. रहस्योन्मुखी—कहीं-कहीं पन्त की सौंदर्य-भावना रहस्योन्मुखी भी हो गई है। यथा—

"देख वसुधा का यौवन-भार
गूँज उठता है जब मधुमास ;
विधुर उर के-से मृदु उद्गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास,
न जाने सौरभ के मिस कौन
सन्देशा मुझे भेजता मौन ?"

४. अतीन्द्रिय—पन्त की सौंदर्य-भावना अतीन्द्रिय रही है। कल्पना का अंकुश सदैव उसके सिर पर रहा है, इसलिए मांसल चित्रण पन्त काव्य में नहीं' के बराबर ही मिलते हैं (प्रगतिवादी पन्त ने अवश्य सौन्दर्य के कतिपय मांसल चित्र प्रस्तुत किये हैं, किन्तु वे कवि की मूल अनुभूति न होकर उसका फ्रायड-वाद के प्रति केवल एक मोह-सा प्रकट करते हैं) 'भावी पत्नी' के प्रति जैसी कविताएँ भी मासलता से होकर कवि की पावन सौन्दर्यानुभूति का स्पष्ट परिचय देती हैं—

"हृदय के पलकों में गतिहीन
स्वप्न संसृति-सी सुषमाकार,
बाल भावुकता बीच नवीन
परी-सी धरती रूप अपार !"

पन्त की इसी अतीन्द्रिय सौन्दर्यानुभूति का विश्लेषण करते हुए डॉ० 'बच्चन' लिखते हैं—"(पन्त ने) सौन्दर्य को तब तक नहीं अपनाया, जब तक वह पावन भी न हो। कवि की रुचि पर सदा सन्त के संयम का अनुशासन रहा है। वे जहां 'उज्ज्वल तन' देखते हैं वहां 'उज्ज्वल मन' भी देखते हैं।…नारी का सौन्दर्य सकल ऐश्वर्यों की खान हो, पर उन्हें अभिमान उसकी 'पावनता' का ही है। करुणावान् अनग से वे विश्व-कामिनी की 'पावन' छवि दिखलाने की ही प्रार्थना करते हैं।" अत. यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि पन्त की सौन्दर्यानुभूति पावन तो है, साथ ही 'बहुजनहिताय' भी है। आज पन्त जी बाह्य सौन्दर्य छोड़कर आन्तरिक सौन्दर्य के पुजारी बन गए हैं। नवीन युग की स्वर्णिम रचना ही उनका सबसे प्रिय और आकर्षक सौन्दर्य रह गया है। आज तो उनकी सौन्दर्यानुभूति बहिरन्तर के विकास मे ही सन्निहित है—

"भू विकास मानव स्तर पर रे, चेतन मनसों घन अवलम्बित;
बहिरन्तर उन्नति हो युगपत्, मिटे वैष्य तन-मन का गर्हित !"

श्री रामचन्द्र गुप्त के शब्दों में—"वस्तुत : पंत जी की सौन्दर्यानुभूति बहुत ही विस्तृत और स्वस्थ है और यही सत्यं, शिव प्रेरित उनका सौंदर्य उनके काव्य की आत्मा भी है।"

अवस्थाओं, उसकी आशाओं, उसके आह्लाद की तरंगों और उसकी वेदना की चीत्कारों का उद्घाटन करना ही है।" —हीगल

२. "गीति-काव्य एक ऐसी संगीतमय अभिव्यक्ति है जिसके शब्दों पर भावों का पूर्ण आधिपत्य होता है, किन्तु जिसकी प्रभावशालिनी लय में सर्वत्र उन्मुक्तता रहती है।" —अर्नेस्ट रिस

३. "गीति-काव्य एक ऐसी अभिव्यंजना है जो विशुद्ध काव्यात्मक (भावात्मक) प्रेरणा से व्यक्त होती है तथा जिसमें किसी अन्य प्रेरणा के सहयोग की अपेक्षा नहीं रहती।" —जान ड्रिंक वाटर

४. "गीति-काव्य वह अन्तर्वृत्तिनिरूपणी कविता है जो वैयक्तिक अनुभूतियों से पोषित होती है; तथा जिसका सम्बन्ध घटनाओं से नहीं, अपितु भावनाओं से होता है और जो किसी समाज की परिष्कृत अवस्था में निर्मित होती है।" —गमर

५. "वैयक्तिकता की छाप गीति-काव्य की सबसे बड़ी कसौटी है, किन्तु वह व्यक्ति-वैचित्र्य में सीमित न रहकर व्यापक मानवीय भावनाओं पर आधारित होता है जिससे प्रत्येक पाठक उसमें अभिव्यक्त भावनाओं एवं अनुभूतियों से तादात्म्य स्थापित कर सके।" —हडसन

इन परिभाषाओं का विश्लेषण करने से गीति-काव्य के निम्नलिखित तीन प्रमुख तत्व निर्धारित होते हैं—

१. वैयक्तिकता या आत्माभिव्यक्ति।

२. संगीतात्मकता।

३. भाव-प्रवणता।

अब इन तत्वों के आधार पर पन्त की गीति-कला का विश्लेषण करना अपेक्षित है।

१. वैयक्तिकता या आत्माभिव्यंजना—गीति-काव्य में आत्माभिव्यंजना दो प्रकार से की जाती है—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष में कवि प्रथम पुरुष। अपने सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, आशा-निराशा आदि भावों की कथा कहता है। हिन्दी में डा० 'बच्चन' इस विधा के प्रतिनिधि गीतिकार हैं। अप्रत्यक्ष में गीतकार कल्पना के आवरण में लपेट कर या प्रतीकों के द्वारा अपने भावों को व्यक्त करता है। प्रभाव की दृष्टि से प्रथम विधा ही अधिक प्रभावशालिनी है, क्योंकि

इसके द्वारा कवि और पाठक का सीधा सम्बन्ध जुड़ जाता है, वहाँ कल
अथवा प्रतीकों का मध्यस्थ प्राचीर नहीं होता। पन्त के काव्य में वैयक्तिकता
अभाव है। उन्होंने स्वयं भी इस तथ्य को इन शब्दों में स्वीकार किया है
"यह सच है कि व्यक्तिगत सुख-दुःख के सत्य को अथवा अपने मानसिक सं
को मैंने अपनी रचनाओं में वाणी नहीं दी है, क्योंकि वह मेरे स्वभाव के वि
है।" फिर उनके गीतों में परोक्ष रूप से आत्माभिव्यक्ति मिल ही जाती है
'ग्रन्थि' में कवि का स्वयं का असफल प्रेम मुखरित है। 'आँसू' और 'उच्छ्वा
में इसी असफलता की प्रतिध्वनियाँ गूँजती हैं। हाँ, यह सच है कि पन्त
आत्माभिव्यक्ति पर जितना कठोर संयम का अंकुश लगा रखा है, वह अन
छायावादी कवियों में नहीं मिलता। प्रसाद के अन्तर्दाह में आवेग है, निरा
के में पौरुष और महादेवी के में करुणाप्लावित क्रन्दन; किन्तु पन्त का अन्त
र्दाह धीमा है। उसमें प्रेम की पीर तो है, पर उद्वेग नहीं है। डा० नगेन्द्र के
शब्दों में—"पन्त जी आवेग-प्रधान कवि नहीं हैं, अतः उनमें वह अग्नि प्राप
नहीं मिलती जो गीत-काव्य की प्राण है, और यदि है भी तो मन्द-मन्द सुलगती
ही है, उसमें विस्फोट कभी नहीं होता।"

१. संगीतात्मकता—संगीतात्मकता गीति-काव्य का अनिवार्य तत्व है।
संगीत दो प्रकार का होता है—स्वरों का संगीत और वर्णों का संगीत। पन्त के
काव्य में ये दोनों प्रकार ही उपलब्ध होते हैं। यथा—

"पपीहों की वह पीन पुकार निर्झरों की भारी झर-झर,
झींगुरों की झीनी झनकार घनों की गुरु गम्भीर घहर;"

इसमें शब्द-ध्वनि के साथ-साथ स्वरों का संगीत है। अब वर्णों का संगीत
सुनिये—

"प्रथम रश्मि का आना रंगिणि! तूने कैसे पहिचाना?
कहाँ-कहाँ हे बाल विहंगिनी! पाया तूने यह गाना?"

इन पंक्तियों में बाल-विहंगिनी के कोमल आकार के अनुसार ही कोमल
कान्त पदावली वर्णों से बह रही है। यह वर्णों का संगीत है।

यहीं पर एक और समस्या पर भी विचार कर लेना चाहिए। प्रश्न यह है
कि गीति-काव्य के लिए संगीतात्मकता अनिवार्य तत्व है? पाश्चात्य विद्वान
... इसे निश्चित अनिवार्य तत्व मानते हैं। उन्हीं के शब्दों में—

"No verse which is unmusical of obscure can not be regarded as poetry, whatever qualities it may posses" अर्थात् जिस पद्य में संगीत और अर्थ का सौंदर्य नहीं है, उसमें चाहे अन्य कितने ही गुण हों, उसे कविता का पद नहीं दिया जा सकता। श्री रामखेलावन पाण्डेय संगीत को गीति-काव्य का अनिवार्य अंग नहीं मानते। वे लिखते हैं—"संगीतमय अथवा संगीतात्मक होना गीति-काव्य की अन्यतम कसौटी नहीं।" हमारे मत से गीति काव्य में संगीत का होना अनिवार्य है, भले ही वह किसी प्रकार का संगीत हो चाहे वर्णों का हो, चाहे स्वरों का और चाहे नाद का।

३. भाव-प्रवणता—भाव-प्रवणता या भावों का उच्छलन गीति-काव्य के प्राण हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि दुःख-सुख की आवेशमयी स्थिति में गीति का जन्म होता है। इसी मान्यता को प्रसिद्ध गीतिकार डा० 'बच्चन' ने इन पंक्तियों में इस प्रकार व्यक्त किया है—

"मैं रोया तुम इसको कहते हो गाना।
मैं फूट पड़ा तुम कहते हो छंद बनाना॥"

कवि 'दिनकर' ने भी 'जलकर चीख उठा था वह कवि था' कहकर उसी आवेशमयी स्थिति की ओर संकेत किया है। पन्तजी की निम्नलिखित पंक्तियाँ भी इसी मान्यता की द्योतक हैं—

"वियोगी होगा पहिला कवि, आह से उपजा होगा गान,
उमड़ कर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान!"

इस भाव-प्रवणता के लिए हृदय की सहज स्वाभिकता आवश्यक है। जहाँ हृदय निर्बाध होकर अपनी ही भाषा में बोलता है वहाँ भाव-प्रवणता स्वतः आ टपकती है। यही कारण है कि लोकगीतों में साहित्यिक गीतों की अपेक्षा अधिक भाव-प्रवणता एवं मार्मिकता होती है; किन्तु जहाँ उस पर मस्तिष्क का अंकुश लग जाता है, वहाँ वह नष्ट हो जाती है। पन्तजी जैसे शब्द प्रेम के विषय में कहते हैं—'हृदय है, मस्तिष्क रखते हो नहीं'—ये शब्द ही भाव-प्रवणता के लिए भी सार्थक सिद्ध होते हैं पन्तजी के गीत 'पल्लव' तक मस्तिष्क का अंकुश न मानकर हृदय के भावावेश के साथ चले हैं, अतः वहाँ तक उनके गीतों में भावावेश है और वहीं तक उनका कवि सफल है, किन्तु जब वे 'गुंजन' की दार्शनिक भूमि पर उतर कर मस्तिष्क का आधिपत्य स्वीकार कर लेते हैं तो उनके भावों

को गहरी ठेस लगती है—जो निरन्तर लगती ही गई। यही कारण है कि हि के अनेक आलोचक 'पल्लव' से आगे पन्त को कवि ही स्वीकार नहीं करते यह प्रश्न भी उठ खड़ा हुआ है कि 'पल्लव' से आगे कवि पन्त का विकास हु अथवा ह्रास? हम इस विवाद में न पड़कर केवल इतना कहना चाहेंगे 'पल्लव' से आगे चलकर कवि की भाव-प्रवणता को ठेस अवश्य पहुंची है। इ प्रसंग में श्री रामखेलावन पाण्डेय के ये शब्द उद्धरण-योग्य हैं,—"पन्त कल्पन प्रिय और अलंकारप्रधान भाषा के पक्ष पाती हैं, अतः गीति-काव्य का निर्वा सम्यक रूप में नहीं मिल सकता; किन्तु जहां उनकी अनुभूति उनके कल्पना त्मक और आलंकारिक आवेश को छोड़ पाती है, वहाँ गीतिकाव्य का स्वरू निखर आता है।" पन्त की भाव-प्रवणता का एक उदाहरण देखिए—

"शैवालिनि ! जाओ मिलो तुम सिंधु से
अनिल ! आलिंगन करो तुम गगन का,
चंद्रिके ! चूमो तरंगों के अधर
उडुगनो ! गाओ, पवन ! वीणा बजा !
पर हृदय सब भाँति तू कंगाल है।"

इन तत्वों के अतिरिक्त गीति-काव्य के भावान्विति और संक्षिप्तता में दो तत्व और माने जाते हैं। पंत के गीत इन तत्वों की कसौटी पर भी खरे उतरे हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि यत्किंचित त्रुटियों के रहते हुए भी पन्त जी का हिन्दी-गीतिकारों में प्रमुख स्थान है। श्री गुप्त जी के शब्दों में—"यद्यपि पन्त जी ने बहुत थोड़े गीत लिखे हैं, पर जो भी लिखे गए हैं वे उन्हें गीत-काव्य कार की कोटि में स्थान दिलाने के लिए पर्याप्त हैं। वहाँ उनके गीत बड़े हो गए हैं, वहाँ उनकी भावधारा बिखर-सी गई है फिर भी बहुत अंशों में उसे निभाने का यत्न किया गया है। जो गीत छोटे और संक्षिप्त हैं वे तो पूर्ण सुन्दर सरल एवं पर्याप्त मधुर बन पड़े हैं।"

A66

: ६ :

पन्त और छायावाद

पन्त-काव्य को छायावादी तत्वों की कसौटी पर कसने से पूर्व यह आवश्यक है कि पहले उन तत्वों का विवेचन कर लिया जाए, अर्थात् छायावाद पर एक विहंगम दृष्टि डाल ली जाय।

हिन्दी-साहित्य में छायावाद को जितने विरोधों और मत-भेदों का सामना करना पड़ा, उतना अभी तक किसी भी साहित्यिक वाद को नहीं करना पड़ा। इसका कोई भी पहलू निर्विवाद नहीं है। सर्वप्रथम इसके आविर्भाव को ही लीजिए। कुछ आलोचक तो इसके प्रति इतने क्रुद्ध हो उठे हैं कि इसे एकदम विदेशी प्रभाव घोषित कर दिया। कुछ इसे बंगला-साहित्य का, विशेष रूप से कवीन्द्र रवीन्द्र का, प्रभावजन्य मानते हैं तो कुछ स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह। यही समस्या इसकी परिभाषा एवं तज्जन्य प्रवृत्ति के विषय में भी है। अतः इसका स्वरूप-निर्धारण करने के लिए समन्वय दृष्टिकोण का ग्रहण ही उचित जान पड़ता है।

विभिन्न परिभाषाएँ—छायावाद की अनेक परिभाषाएँ हैं। कुछ तो एक-दूसरी से बिल्कुल भिन्न प्रतीत होती है। कुछ प्रमुख परिभाषाएँ ये हैं—

१. "छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में जहाँ उसका सम्बन्ध काव्य-वस्तु से होता है; अर्थात् जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है। छायावाद शब्द का दूसरा प्रयोग काव्य-शैली या पद्धति-विशेष के व्यापक अर्थ में है।" —आचार्य शुक्ल

२. "परमात्मा की छाया आत्मा में पड़ने लगती है और आत्मा की परमात्मा में। यही छायावाद है।" —डा० रामकुमार वर्मा

३. "छायावाद प्रकृति में मानव-जीवन का प्रतिबिम्ब देखता है, रहस्य-वाद समस्त सृष्टि में ईश्वर का; ईश्वर अव्यक्त है और मनुष्य व्यक्त है।

को गहरी ठेस लगती है—जो निरन्तर लगती ही गई
के अनेक आलोचक 'पल्लव' से आगे पन्त को कवि ही
यह प्रश्न भी उठ खड़ा हुआ है कि 'पल्लव' से आगे
अथवा ह्रास? हम इस विवाद में न पड़कर केव
'पल्लव' से आगे चलकर कवि की भाव-प्रवणता की
प्रसग मे श्री रामरतनावन पाण्डेय के ये शब्द उद्धर
प्रिय और अलंकारप्रधान भाषा के पक्ष पाती हैं,
सम्यक रूप में नहीं मिल सकता; किन्तु जहाँ उन
त्मक और आलंकारिक आवेश को छोड़ पाती है,
निखर आता है।" पन्त की भाव-प्रवणता का ए

"दीपालिनि ! जाम्रो मिल
अनिल ! आलिंगन करो
चन्द्रिके ! चूमो तरं
उडुगनो ! गाम्रो, पवन !
पर हृदय सब भाँति

इन तत्वों के अतिरिक्त गीति-काव्य के
तत्व और माने जाते हैं। पंत के गी
उतरे हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि य
जी का हिन्दी-गीतिकारों में प्रमुख स्थान
पन्त जी ने बहुत थोड़े गीत लिखे हैं,
कार की कोटि में स्थान दिलाने के
गए हैं, वहाँ उनकी भावधारा विखर
निभाने का यत्न किया गया है।
सफल एवं पर्याप्त मधुर बन पड़े

इसलिए छाया मनुष्य की—व्यक्ति की ही देखी जा सकती है, अव्यक्त की नहीं अव्यक्त रहस्य ही रहता है।"

—रामकृष्ण

४. "छायावाद एक दार्शनिक अनुभूति है।" —शांति प्रसाद द्विवेदी

५. 'यह (छायावाद) वस्तुवाद और रहस्यवाद के बीच की कड़ी है।"

—गंगाप्रसाद पाण्डेय

६. "छायावाद एक विशेष प्रकार की भाव-पद्धति है; जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण है। जिस प्रकार भक्ति-काव्य जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण था और रीति-काव्य एक दूसरे प्रकार का; उसी प्रकार छायावाद भी एक विशेष प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण है।"

—डा० नगेन्द्र

७. "मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौंदर्य में आध्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है।"

—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

८. "छायावाद गीति-काव्य है, प्रकृति-काव्य है, प्रेम-काव्य है।"

— डा० देवराज

९. "छायावाद के नाम से जो कुछ हिन्दी में प्रसिद्ध है उसे केवल अभिव्यञ्जना चमत्कार ही समझना चाहिए।" —सद्गुरुशरण अवस्थी

१०. "...रहस्यात्मक प्रतीकों (छाया चित्र) से युक्त कविता का नाम छायावादी कविता पड़ा।" — डा० केसरीनारायण शुक्ल

११. "ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं।" —प्रसाद

इन परिभाषाओं के आधार पर छायावाद के निम्नलिखित तत्त्व निर्धारित किये जा सकते हैं—

१. रहस्यात्मकता,
२. प्रकृति,
३. वैयक्तिकता,
४. अभिव्यंजना का चमत्कार,

१. रहस्यात्मकता—छायावादी कवि प्रकृति, जीवन और जगत् को रहस्य-मयी दृष्टि से देखता है, इसलिए रहस्यात्मकता छायावाद की प्रमुख विशेषता है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि प्राचीन रहस्यवाद और छायाव
ाद में अन्तर है। छायावादी रहस्यवाद कबीर का फकीर न होक
ा परिस्थितियों पर आधारित है। जिज्ञासा एवं कौतूहलता इसके प्रधा
। पन्त के काव्य में भी छायावादी रहस्यवाद के पर्याप्त उदाहरण मिल
ा—

"न जाने कौन, अये छविमान जान मुझको अबोध अज्ञान,
सुझाते हो तुम पथ अनजान, फूँक देते छिद्रों में गान;
अहे सुख दुख के सहचर मौन! नहीं कह सकते तुम हो कौन।"

ह पंक्तियों में किसी रहस्यमय सत्ता की ओर संकेत है। साथ ही कवि की
 एवं कुतूहलता का भी स्पष्ट चित्रण है।

प्रकृति—छायावादी कवि नवीनता के समर्थक थे । वे प्रत्येक बात में
चाहते थे। यही कारण है कि उन्होंने प्रकृति को एक बिल्कुल नई दृष्टि
। छायावादी काव्य में प्रकृति जड़ न रहकर चेतन सत्ता मान ली गई
 छायावादियों ने जहाँ एक ओर प्रकृति का मानवीकरण करके अपनी
 रहस्य विषयक अनुभूतियों को वाणी दी है, वहाँ दूसरी ओर उसके
करणों को प्रतीक बनाकर अपनी अभिव्यंजना शक्ति को सबल भी
। पन्त-काव्य तो प्रकृति-काव्य ही है। प्रकृति के माध्यम से उन्होंने
द आदि जैसी दार्शनिक भावनाओं की अभिव्यक्ति भी की और प्रकृति
का आरोप करके उसे विविध रूप भी दिये। सारी प्रकृति में असीम
प्रतिच्छाया माना, उसमें किसी अखण्ड, अविभक्त चेतना का आभास
सर्ववाद है। पन्तजी की निम्नलिखित पंक्तियाँ इसी भावना को व्यक्त
—

"उस फैली हरियाली में,
कौन अकेली खेल रही, माँ
यह अपनी वय वाली में—"

प्रकृति का तीसरा रूप है प्रतीक-विधान का। छायावादी कवियों ने प्रकृ के माध्यम से ही अधिकांशतः अपनी अभिव्यंजना को वाणी दी है छायावाद में प्रकृति का इतना आधिक्य है कि कुछ आलोचक इसे 'प्रकृति-काव्य' ही मानते हैं। पन्तजी ने अपने जीवन का रूप प्रकृति के माध्यम से ही व्यक्त किया है—

"मेरा पावस ऋतु-जीवन, मानस-सा उमड़ा अपार मन;
गहरे धुँधले, धुले, साँवले मेघों से मेरे भरे नयन!"

३. गीत्यात्मकता—अवसाद, वेदना और निराशा छायावाद के प्रमुख प्रति पाद्य हैं। इसलिए कुछ आलोचक इसकी प्रतीकात्मक शृंगारिकता को देखकर इसे 'सावरण रीतिकाल' कहते हैं, अर्थात् रीतिकाल की भाँति ही छायावाद में शृंगार की प्रधानता है। अन्तर केवल इतना ही है कि रीतिकाल का काव्य स्पष्ट है और छायावाद का कल्पना एवं प्रतीकों के आवरणों से ढका हुआ। अपने इस प्रतिपाद्य का प्रतिपादन करने के लिए छायावादी कवियों ने गीत-रूप भी अपनाया जो उपयुक्त भी है। फलतः इनके काव्य में वैयक्तिकता, भाव-प्रवणता संगीतात्मकता एवं शृंगारिकता के दर्शन होते हैं, किन्तु इन्होंने अपनी वेदना को 'अहं' की परिधि से निकलकर व्यापक बना दिया है। पन्त ने वेदना के इसी व्यापक रूप का चित्रण इन पंक्तियों में किया है—

"वेदना! कैसा करुण उद्गार है
वेदना ही है अखिल ब्रह्माण्ड यह
तुहिन में, तृण में, उपल में, लहर में
तारकों में व्योम में है वेदना!"

गीत्यात्मक प्रवृत्ति के कारण ही छायावाद-काव्य में महाकाव्यों का अभाव है। जहाँ तक गीतों का सम्बन्ध है, छायावाद के गीत किसी भी समृद्ध विश्व-साहित्य के साथ होड़ लगा सकते हैं।

अभिव्यंजना का चमत्कार—छायावादी कवियों ने जहाँ भावों को नवी ... ो वहाँ शैली, को भी नव परिधान पहनाया। महाकवि प्रसाद ने ... , सांकेतिकता, सौंदर्यमय प्रतीक-विधान, उपचार-

वक्रता आदि जो विशेषतायें बतलाई हैं वे सब छायावाद की शैली की ही विशेषतायें हैं। स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह होने के कारण छायावाद की शैली में इन गुणों का आना स्वाभाविक भी था। शैली की इसी नवीनता के कारण कुछ आलोचक तो छायावाद को एक प्रकार की विशेष शैली ही मान बैठे। छायावादी कवियों ने परम्परागत उपमानों को छोड़कर नये उपमानों को ग्रहण किया, कुछ उपमानों का मूर्तीकरण किया। भाषा को अधिक सशक्त और संगीतात्मक बनाने के लिए उसे छन्दों के पुरातन बन्धनों से मुक्त किया। अलंकार-योजना के क्षेत्र में भी इन कवियों ने नवीनता ही प्रदर्शित की। भारतीय अलंकारों के साथ-साथ इन्होंने मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय आदि पाश्चात्य अलंकारों को भी ग्रहण किया। इससे इनकी भावाभिव्यंजना अधिक सजीव और समृद्ध हो गई। पन्तजी तो अपनी भाषा शैली के लिए विशेष रूप से प्रख्यात हैं। उन्हें शब्दों का, तज्जन्य ध्वनियों का पूर्ण ज्ञान है। उनका 'पल्लव' भाषा की दृष्टि से खड़ी बोली की ब्रजभाषा पर विजय की उद्घोषणा है। 'पल्लव' की भूमिका जहाँ कवि के शब्द-प्रकृति-विषयक ज्ञान की परिचायिका है, वहाँ वह हिन्दी-साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना भी है। पन्त के अमूर्त उपमानों का एक उदाहरण देखिए, कितना सशक्त एवं भाव व्यंजक है—

"धीरे-धीरे संशय-से उठ, बढ़ अपयश से शीघ्र अछोर;
नभ के उर में उमड़ मोह-से, फल लालसा-से निशि भोर।"

यहाँ यह कहना भी आवश्यक है कि छायावाद की शैली केवल चामत्कारिक नहीं है, उसमें भाव प्रवणता, समृद्धता एवं सजीवता आदि सभी शैली-गत महान गुणों का पारावार तरंगित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पन्त के काव्य में छायावादी सम्पूर्ण तत्त्वों का समावेश मिलता है। यही नहीं, छायावादी चतुष्टय में पन्तजी का प्रमुख स्थान है। इतना होते हुए भी पन्तजी केवल 'गुंजन' तक ही छायावादी रह सके। 'युगान्त' में उन्होंने छायावाद युग का अन्त करके प्रगतिवाद की दीक्षा ले ली। छायावाद के त्याग के कारणों पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा है—"छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी, नवीन आदर्शों का प्रकाशन, नवीन भावना का सौंदर्य बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत बन गया था।" उन का यह आरोपण ठीक है अथवा गलत, यह विवादास्पद हो सकता है, किन्तु उनका छायावाद छोड़कर प्रगतिवाद में चले जाना, वास्तव में, छायावाद का भीषण दुर्भाग्य था। छायावाद के ह्रास के कारणों में यह भी एक प्रमुखतम कारण है।

: १० :

प्रगतिवादी पन्त

पन्तजी जैसे चिन्तनशील कवि को छायावाद अपनी मनोहारिता में अधिक दिनों तक न बाँध सका। फलतः वे उसे छोड़कर प्रगतिवाद के क्षेत्र में प्रविष्ट हुए और उच्च स्वर से घोषणा की—

"ताक रहे हो गगन ?
मृत्यु-नीलिमा-गहन गगन ?
अनिमेष, अचितवन, काल-नयन ?—
निःस्पन्द शून्य, निर्जन, निःस्वन ?
देखो भू को !
जीव-प्रसू को !"

पन्त का प्रगतिवादी जीवन 'युगान्त' से प्रारम्भ होता है और 'युगवाणी' से होता हुआ 'ग्राम्या' में आकर समाप्त हो जाता है। पन्त के काव्य में प्रगतिवादी तत्वों पर विचार करने से पूर्व प्रगतिवाद पर संक्षिप्त दृष्टि डाल लेनी आवश्यक है।

साधारणतः 'प्रगति' का अर्थ आगे बढ़ना है, किन्तु हिन्दी-साहित्य में 'वाद' के साथ जुड़कर यह 'प्रगतिवाद' एक रूढ़ि शब्द बन गया है जिसका अर्थ है मार्क्स-दर्शन का साहित्यिक रूप। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि दर्शन में जो द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद है, राजनीति में जो साम्यवाद है, वही साहित्य में प्रगतिवाद है।

पन्त जी प्रगतिवाद को छायावाद की ही एक धारा मानते हैं। 'रश्मिबन्ध' के 'परिदर्शन' में वे लिखते हैं—"प्रगतिशील कविता वास्तव में छायावाद की ही एक धारा है। दोनों के स्वरों में जागरण का उदात्त सन्देश मिलता है—एक में मानवीय जागरण का, दूसरे में लोक-जागरण का। दोनों की जीवन-दृष्टि में व्यापकता रही है—एक में सत्य के अन्वेषण या जिज्ञासा की, दूसरे में यथार्थ के खोज या बोध की।" फलतः प्रगतिवाद कल्पना का किसी भी प्रकार आश्रय नहीं

लेता, वह एकदम यथार्थवादी है। इसलिए उसके लिए सुन्दर-असुन्दर, रूप-कुरूप, मर्यादा-उच्छृंखलता में कोई भेद नहीं। जो यथार्थ है, वही उसके लिए सत्य है, अन्यथा सब असत्य और निस्सार है। प्रगतिवाद की प्रमुख विशेषतायें ये हैं—

१. धर्म, ईश्वर एवं परलोक का विरोध,
२. पूँजीपति वर्ग के प्रति घृणा,
३. शोषित वर्ग के प्रति उदारता और उसका चित्रण,
४. नारी के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण,
५. परिवर्तनशीलता के प्रति मोह,
६. भाषा की सरलता।

अब देखना यह है कि पंत-काव्य में ये प्रवृत्तियाँ कहाँ तक उपलब्ध होती हैं।

१. धर्म, ईश्वर एवं परलोक का विरोध—इसे दूसरे शब्दों में आध्यात्मिकता का विरोध भी कहा जा सकता है। आध्यात्मिकता केवल कल्पनाजन्य है, उसका यथार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं। वह एक आदर्श लोक है, इसीलिए प्रगतिवादी कवि न तो धर्म में आस्था रखता है, न ईश्वर में और न परलोक में। उसके समक्ष मानव और मानव-समाज के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। पंत की यह भावना इन पंक्तियों में व्यक्त हुई है—

"मनुज प्रेम से जहाँ रह सके—मानव ईश्वर!
और कौन-सा स्वर्ग चाहिए तुझे धरा पर!"

इन पंक्तियों से सिद्ध होता है कि पन्तजी के मत से मानवीय गुणों से संपन्न मानव ही ईश्वर का रूप है और प्रेमादर्शों से युक्त धरा ही स्वर्ग है। इसके विपरीत नरक है। अतः पंत की दृष्टि में ईश्वर कोई अव्यक्त अथवा अलौकिक सत्ता नहीं, और न स्वर्ग-लोक ही कहीं अन्यत्र बसा हुआ लोक है।

२. पूँजीपति वर्ग के प्रति घृणा—साम्यवादियों का यह मत है कि इस धरा पर दुःख और क्लेशों के मूल कारण सामाजिक एवं आर्थिक विषमतायें हैं और इन विषमताओं के जनक हैं पूँजीपति। यदि समाज में पूँजीपति न हों तो न वे विषमतायें रहेंगी और न तज्जन्य दुःख-क्लेश आदि। अतः पूँजीपति समाज के भीषण अभिशाप हैं, उनके जीवन के सबसे अधिक मर्मान्तक फोड़े हैं। इसलिए प्रत्येक प्रगतिवादी कवि ने इनके प्रति घृणा का रस अपनाया है और इन्हें पानी

पीकर कोसा है। पन्तजी की यही भावना 'ताज' कविता में व्यक्त हुई है। एक शहंशाह अपनी मृत प्रिया की स्मृति में इतना भव्य भवन का निर्माण करा देता है, जबकि समाज में अधिकांश लोगों को पेट भरने के लिए अन्न और तन ढकने के लिए वस्त्र भी उपलब्ध नहीं होते—

> "संग-सौध में हो शृंगार मरण का शोभन,
> नग्न, क्षुधातुर, वास-विहीन रहें जीवित जन!"

३. शोषित वर्ग के प्रति उदारता और उसका चित्रण—पूँजीपतियों के प्रति प्रगतिवादियों की प्रतिक्रिया है शोषित वर्ग के प्रति उदारता की अभिव्यक्ति। *उन्होंने जितनी पूँजीपतियों की निन्दा की है, उतना ही शोषित वर्ग के* प्रति प्रेम का प्रदर्शन भी किया है। उनकी दयनीय स्थिति का चित्रण करने में ही इन कवियों ने अपनी कविता की सार्थकता मानी है। दिन भर के भारी श्रम से थके हुए श्रमिक जब सन्ध्या-समय अपने घर को लौटते हैं तो कवि पन्त का हृदय उन्हें देखकर करुणा से भर जाता है और वे कह उठते हैं—

> "वे नाप रहे निज घर का मग
> कुछ श्रमजीवी धर डगमग डग,
> भारी है जीवन! भारी पग!"

भारत के श्रमजीवी अधिकांश संख्या में गाँवों में ही रहते हैं, अतः प्रत्येक प्रगतिवादी कवि नगरों की भव्यता एवं विशालता छोड़कर गाँवों के सूने, संतप्त और उजड़े वातावरण में पहुँचा है तथा उसने गाँव और गाँववालों की दुस्तर स्थितियों का करुणापूर्ण चित्रण किया है। पन्तजी गाँवों की दशा को देखकर बिलख पड़ते हैं—

> "यह तो मानव-लोक नहीं है यह है नरक अपरिचित,
> यह भारत का ग्राम, सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित।"

इससे अधिक मार्मिक चित्रण गाँवों की दयनीय दशा का और क्या हो सकता है?

श्रमजीवियों के साथ-साथ पन्त की दृष्टि ने उनकी पत्नियों—मजदूरनियों—का भी अंकन किया है जो अपने पतियों के साथ रात-दिन कमर-तोड़ परिश्रम करती हैं। एक मजदूर का चित्रण देखिए—

"सर से आँचल खिसका है—धूल भरा जूड़ा—
अधखुला वृक्ष,—ढोती तुम सिर पर धर कूड़ा,
हँसती बतलाती सहोदरा-सी जन-जन से,
यौवन का स्वास्थ्य झलकता आतप-सा तन से।"

४. नारी के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण—सामाजिक दृष्टिकोण में प्रगतिवाद साम्यवाद से प्रभावित है और प्रेम-विषयक दृष्टिकोण में फ्रायडवाद से। इसलिए वह प्रेम—वासना-तृप्ति—को भी जीवन की एक अनिवार्य आवश्यकता मानकर उसकी पूर्ति के लिए खुले-आम छूट्टी देता है। प्रेम के गोपन व्यवहारों को वह समाज के हित में नहीं समझता। पन्तजी इसी भाव को निम्न-लिखित पंक्तियों में इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

"धिक् रे मनुष्य, तुम स्वच्छ, स्वस्थ, निश्छल चुम्बन
अंकित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर?
मन में लज्जित, जन से शंकित, चुपके गोपन
तुम प्रेम प्रकट करते हो नारी से कायर!"

नारी प्रेम अथवा काम का आधार है। इसलिए नारी के प्रति भी प्रगतिवादी कवियों ने नूतन दृष्टिकोण अपनाया है। प्रगतिवादी कवि नारी के सुकोमल सौंदर्य की अपेक्षा उसके स्थूल शरीर पर अधिक आकर्षित है। वह नारी को कोमल तितली न मानकर नर की एक अद्वितीय सहचारिणी मानता है जो उस के साथ शारीरिक परिश्रम भी करे और उसकी काम-वासना का प्रत्युत्तर भी दे। यही कारण है कि यथार्थता के नाम पर कहीं-कहीं प्रगतिवाद में वासना के नग्न चित्रों का अंकन हो गया है।

सामाजिकता की दृष्टि से प्रगतिवादी समाज में नारी का महत्त्वपूर्ण स्थान मानता है। उसका मत है कि नर-नारी के समुचित संबंध में ही समाज का वास्तविक विकास निहित है। अतः नारी को भी समाज में उसके यथोचित अधिकार मिलने चाहिएँ। वह 'काम-पुत्तलिका' मात्र न होकर 'मानवी' रूप में प्रतिष्ठित हो। पन्त ने इन भावों को इस प्रकार प्रकट किया है—

"सदाचार की सीमा उसके तन से ही निर्धारित,
पूतयोनि वह; मूल्य चर्म पर केवल उसका अंकित
वह समाज की नहीं इकाई-शून्य समान अनिश्चित,

प्रगतिवाद को तिलांजलि—इसमें संदेह नहीं कि पन्त को प्रगतिवाद के
गहनतम आस्था थी। उनका पूर्ण विश्वास था कि साम्यवाद ही आज की
जिक समस्याओं का एकमात्र समाधान है। उनके इन शब्दों में विश्ना
विश्वास झलकता है—

"मतमुंख अद्वैत पड़ा था युग-युग से निष्क्रिय, निष्प्राण,
जग में उसे प्रतिष्ठित करने दिया साम्य ने वस्तु विधान।"

किन्तु चिन्तन के निरन्तर प्रहारों ने उनके इस अटूट विश्वास को भी खंडित
दिया और वे प्रगतिवाद को छोड़ने के लिए बाध्य हो गए। उनके अनुसार
तिवाद किसी जनवादी यथार्थ तथा जीवन-सौंदर्य को वाणी देने के स्थान
पूँजीपतियों और मध्यम वर्ग के मनुष्यों के बीच कोई ठोस कार्य न करके
ल विद्वेष और घृणा की आग फैलाता है। न वह समाज को कोई नई चेतना
का, बल्कि उसका विषय भूखे-नंगे कृषकों एवं श्रम-जीवियों के दुखद चित्रणों
ही सीमित रह गया। विचार दर्शन की दृष्टि से वह किसी नवीन विचार-
ा का आविर्भाव न कर सका, वरन् राजनीति के गहरे पंक में धँसकर कोरा
नीतिक नारा रह गया। इसीलिए वह जनता को न किसी प्रकार का
रण-संदेश दे सका और न कोई नवीन जीवन-दर्शन। सच तो यह है कि
र्थवाद का ठेकेदार बनकर भी प्रगतिवाद जनता के प्रति यथार्थतः संवेदन-
ल नहीं बन पाया। परिणामतः उसका लक्ष्य स्पष्ट न होकर धूमिल ही रह
ा। पंतजी के शब्दों में—"जिस प्रकार छायावादियों में भागवत या विराट्
ना के प्रति एक क्षीण दुर्बल आग्रह, आकुलता तथा बौद्धिक जिज्ञासा की
वना रही है, उसी प्रकार तथाकथित प्रगतिवादियों में जनता तथा जन-जीवन
प्रति एक निर्जीव संवेदना तथा निर्बल ललक का भाव दुराग्रह की सीमा तक
रेलक्षित होने लगा। दोनों ही के मन में सम्यक् साधना, अभीप्सा तथा बोध
कमी के कारण अपने इष्ट या लक्ष्य की रूपरेखा तथा धारणा निश्चित नहीं
पाई। एक, भीतरी कुहासे में लिपटे रहे; दूसरे, बाहरी धुएँ से घिरे रहे।"
तिवाद के इन्हीं दोष-दर्शनों के कारण पंत ने छायावाद की भांति इसे भी
लांजलि दे दी। सन् १९५६ की 'संदेश' नामक कविता में भी कवि ने प्रगति-
ाद को छोड़ने का कारण दिया है—

"अब जन नगरों की अंधी गलियों में खोए,
ऊँचे भवनों की कारात्रों में बन्दी हो,

तुम अपनी ही चिन्ता में घुलते जाते हो!
क्या लोक मान मर्यादा की या स्थूल दृष्टि
निज सूक्ष्म स्वप्नदर्शी दृग तुमने मूँद लिये?"

× × ×

"फिर स्वप्न चरण पर बिखरो शाश्वत के पथ में
रचना सेतु बाँधो भावी के क्षितिजों में।"

: ११ :

समन्वय-भावना

युग-कवि गोस्वामी तुलसीदास अपनी समन्वय-भावना के लिए हिन्दी-साहित्य में परम विख्यात हैं। यह कहना अनुचित न होगा कि यही भावना उन के काव्य की आधार-शिला है। गोस्वामी जी के बाद हिन्दी में यदि कोई समन्वयवादी कवि हुआ है तो वे पन्त जी ही हैं, यों प्रसाद ने भी इच्छा, क्रिया और ज्ञान का समन्वय करके आनन्दलोक की सृष्टि की है; किन्तु पन्त की समन्वय-भावना अत्यन्त विशाल एवं व्यापक है।

पन्त की समन्वय-भावना को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

१. मार्क्सवाद और गांधीवाद का समन्वय,
२. अध्यात्मवाद और भूतवाद का समन्वय,
३. व्यक्ति और समाज का समन्वय।

१. मार्क्सवाद और गांधीवाद का समन्वय—छायावाद के स्वप्निल लोक के स्वर्णिम स्वप्न पन्तजी को अधिक दिनों तक अपनी काल्पनिक सुषमा में न बाँध सके। उनका चिन्तक मन इस काल्पनिक लोक की सुनहली अमराइयों से निकल-कर यथार्थ जगत् के विषम धरातल पर जा खड़ा हुआ और उसने नि:स्पन्द शून्य, निर्जन, नि:स्वन मृत्यु-नीलिमा-गहन गगन को छोड़कर जीव-प्रसू को देखना आरम्भ कर दिया। जग-जीवन की विषम समस्याओं का एकमात्र समाधान उन्हें मार्क्सवाद में ही दृष्टिगोचर हुआ और वे एक प्रगतिवादी कवि के रूप में मार्क्सवाद का सन्देश काव्य-बद्ध करने लगे।

कुछ दिनोपरान्त निरी भौतिकता भी पन्त के चिन्तनशील मन को अखरने लगी। उनके मन में बार-बार यही प्रश्न उठता है कि क्या निरा भौतिक उन्नयन जीवन को पूर्णता प्रदान कर सकता है? और इस प्रश्न का उत्तर उन्हें नकारा-त्मक ही मिला। फलत: वे गांधीवाद की ओर मुके जिसमें आध्यात्मिकता का प्राधान्य था और कवि गांधीवाद के प्रकाश में नवीन युग का स्वप्न देखने लगा।

मान लें तो दोनों दृष्टिकोणों में सहज ही सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है और आदर्श तथा वस्तुवाद अपनी-अपनी उपयोगिता तथा सीमाओं को मानते हुए, विश्व-कर्म में परस्पर सहायक की तरह हाथ बँटा सकते हैं।" पन्तजी ने ज्ञान और विज्ञान का समन्वय इन शब्दों में किया है—

"विविध ज्ञान विज्ञान समन्वित
विश्व तंत्र हो साधन-विकसित,
भेद मुक्त हो दृष्टि हृदय की
पूरित हो भू जीवन इच्छित !"

पौर्वात्य और पाश्चात्य का समन्वय करते हुए एक बार स्वामी विवेकानन्द ने कहा था—"मैं योरोप का जीवन-सौष्ठव तथा भारत का जीवन-दर्शन चाहता हूँ।" ठीक यही बात पन्तजी भी 'वार्धक्य' कविता में कहते हैं—

"पश्चिम का जीवन-सौष्ठव हो
विकसित विश्व-तंत्र में वितरित,
प्राची के नव स्वर्णोदय से
ज्योति द्रवित भू क्षमस तिरोहित !"

इसी समन्वय को दूसरे शब्दों में आत्मा और शरीर का समन्वय कह सकते हैं। पंत जी का मत है, जिस प्रकार इन्द्रियों के विमुख मनुष्य की आत्मा तमसावृत है उसी प्रकार आत्म-विहीन मानवता दानवता की कुत्सित प्रतिमा के समान है—

"इन्द्रिय विमुख मनुज आत्मा ज्यों द्वार रहित मृत गृह तमसावृत,
आत्महीन मानवता त्यों हो दानवता की प्रतिमा कुत्सित !"

३. व्यक्ति और समाज का समन्वय—यदि व्यक्ति समाज की महत्त्वपूर्ण इकाई है तो समाज व्यक्ति का विशाल कर्मक्षेत्र है। दोनों का विकास एक दूसरे पर आधारित है। समाज के बिना व्यक्ति अपना व्यक्तिगत विकास भले ही कर ले, किन्तु वह सामाजिक दृष्टि से विकसित नहीं हो सकता और यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत जीवन का विकास जीवन का केवल एक अंग है, सम्पूर्ण जीवन नहीं। समाज व्यक्तियों के समूह का ही नाम है। जब तक वह उन व्यक्तियों को जीवनोपाय और विकास-साधन प्रदान नहीं करे तब तक न तो व्यक्ति ही उन्नति कर सकता है और न समाज ही। इस

किसी भी स्वर्णिम युग की रचना के लिए इन दोनों का समन्वय होना आवश्यक है। पन्तजी भी इसी आवश्यकता का समर्थन करते हुए कहते हैं—

"मुक्त समांतर रेखाओं से
व्यक्ति समाज, एक बहु विकसित,
लोकोदय में मिलें परस्पर,
भू जीवन मंगल से प्रेरित!"

इसी समन्वय-भावना के बल पर ही विश्व में एक महान् परिवर्तन लाया जा सकता है जिसके कन्धों पर भावी युग का स्वर्णिम और भव्य प्रासाद खड़ा होगा। पन्तजी का यह विश्वास उनके इन शब्दों में यथातथ्यवाणी में बोल रहा है—'विज्ञान और साहित्य—विशेषतः काव्य साहित्य—ही लोक-मंगल का पथ ग्रहण कर अपनी असीम स्थूल-सूक्ष्म शक्तियों की सम्भावनाओं से, आज मानव जगत् तथा मन का बहिरंतर रूपान्तर एवं पुनर्निर्माण कर इस युग के नरक को नये स्वर्ग का रूप दे सकते हैं, इसमें मुझे रत्ती भर सन्देह नहीं।" इसीलिए प्रत्येक कलाकार का यही उत्तरदायित्व है कि वह आध्यात्मिक और भौतिक विषमताओं से नवीन समानता को जन्म दे—

"यही प्रश्न है आज कला के सम्मुख निश्चय,
जो दुःसाध्य प्रतीत हो रहा कलाकार को—
बहिरंतर की जटिल विषमताओं में उसको
नव समत्व भरना होगा सौन्दर्य सन्तुलित!"

—शिल्पी

: १२ :

भाषा

काव्य के दो पक्ष होते हैं-भाव-पक्ष और कला-पक्ष। काव्य का जो प्रतिपाद्य होता है उसे भाव पक्ष कहते हैं और भाषा आदि प्रतिपादन के माध्यम कला-पक्ष के अन्तर्गत आते हैं। (पन्त के भाव-पक्ष का वर्णन प्रकृति-चित्रण, नारी-भावना प्रेम-भावना, सौंदर्यानुभूति आदि शीर्षकों के अन्तर्गत पहले किया जा चुका है।) जिस प्रकार भावों की दृष्टि से पन्तजी सुकुमार कवि माने जाते हैं, उसी प्रकार की सुकुमारता उनकी कला-पक्ष में भी सन्निहित है। इनकी कला की सुकोमलता का वर्णन करते हुए डा० नगेन्द्र लिखते हैं—"उनकी (पन्त की) कला इतनी कोमल है कि विश्लेषण करते ही वह तितली के पंखों की तरह बिखर जाती है और समालोचक को अपनी कृति पर पश्चाताप करने की ही अधिक सम्भावना रहती है।" फिर भी यह मानना पड़ेगा कि पन्त जी प्रधान रूप से कलाकार ही हैं (विशेषतः अपने छायावादी काव्य में) और इसीलिए इनके (छायावादी) काव्य में कला का प्रथम स्थान है। कला के अन्तर्गत भाषा और अलंकारों का ही विशेषतः विवेचन किया जाता है, अतः यहाँ पन्तजी की भाषा और उनके अलंकारों का ही विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

पन्तजी भाषा को केवल विचाराभिव्यक्ति का साधन न मानकर उसके संस्कृत और अलंकृत रूपों को भी मान्यता देते हैं। 'पल्लव' की भूमिका इस कथन की साक्षी है, जिसमें उन्होंने शब्दों की प्रकृतियों का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। इसलिए पन्त जी अपनी भाषा के प्रति सदैव सतर्क और जागरूक रहे हैं। यही कारण है कि उनकी भाषा अत्यन्त समृद्ध और सशक्त है। यह कहना अनुचित न होगा कि खड़ी बोली को ब्रजभाषा-जैसी मधुरता प्रदान करने में पन्तजी का प्रमुख हाथ रहा है। इनकी भाषा की निम्नलिखित विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—

१. चित्रण शक्ति,

२. चित्रमय विशेषण,

कहने का ढंग मिलता है। वीचि से जैसे किरणों में चमकती, हवा के पलने हौले-हौले झूलती हुई हँसमुख लहरियों का, ऊर्मि से मधुर मुखरित हिलोरों का, हिल्लोल-कल्लोल से ऊँची बाहें उठाती हुई उत्साहपूर्ण तरंगों का आभास होता है।" पन्तजी का मत है कि कवि को शब्दों की इस अन्तरात्मा का ज्ञान होना चाहिए और वह इन्हें भली प्रकार परखकर प्रयुक्त करे क्योंकि—"कविता के लिए चित्र-भाषा की आवश्यकता पड़ती है। उसके शब्द सस्वर होने चाहिए जो बोलते हों, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र और झंकार हों।"

पन्तजी ने, इसी दृष्टिकोण से, शब्दों का बड़ी ही सतर्कता से प्रयोग किया है। यथा—

१. "अरी सलिल की लोल हिलोर, आ मेरे मृदु मन झकोर।
नयनों को जिस छवि में बोर, मेरे उर में भर यह रोर!"

२. "अनिल-पुलकित स्वर्णांजल लोल,
मधुर नूपुर-ध्वनि खग-कुल रोल!"

प्रथम पद मे लहरों की ध्वनि के लिए 'रोर' और दूसरे पद में पक्षियों की ध्वनि के लिए 'रोल' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस 'र' और 'ल' के सूक्ष्म अन्तर मे एक ही भाव सन्निहित है—'र' के द्वारा लहरों का बिखरा हुआ शब्द और 'ल' के द्वारा पक्षियों का कुछ बंधा हुआ तीव्र स्वर व्यंजित होता है।

कहीं-कहीं शब्दों में बड़ा ही सूक्ष्म अन्तर परिलक्षित होता है। यथा—

"प्रिय-प्रिय विषाद यह अपना,
'प्रिय प्रि' आह्लाद रे अपना।"

इन पंक्तियों से 'प्रि' शब्द का प्रयोग अत्यन्त ही भाव-व्यंजक है; क्योंकि आह्लाद में पृथक् रहने पर हृदय को खिला देने की जो शक्ति है, वह प्रियाह्लाद मे नहीं। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में—"कवि (पन्त) अपने चित्रों में इतनी दिव्य रूप-रेखा खींचने में इसलिए समर्थ हो सका है कि उस पर शब्दो के अन्तर्बाह्य दोनों का रहस्य पूर्णतया प्रकट है। उसकी अन्तरात्मा और शरीर का जितना सूक्ष्म ज्ञान पन्त जी को है, उतना हिन्दी में गिने-चुने कवियों को ही होगा।"

४. वर्ण-परिज्ञान—इसे अंग्रेजी में 'सेंस आफ कलर' (Sense of colour) हैं। जिस प्रकार सफल कवि के लिए शब्दों की अन्तरात्मा का ज्ञान होना

आवश्यक है, उसी प्रकार वर्ण-परिज्ञान भी। हिन्दी में महादेवी के काव्य में वर्ण-परिज्ञान के उत्तम उदाहरण मिलते हैं और ऐसा होना स्वाभाविक भी था, क्योंकि महादेवी जहाँ एक सफल कवयित्री है वहाँ एक सफल चित्रकर्त्री भी हैं। 'दीपशिखा' के चित्र इस कथन के साक्षी हैं। पन्त की 'आँसू' कविता का एक उदाहरण देखिए—

"देखता हूँ जब पतला इन्द्र धनुषी हलका,
रेशमी घूँघट बादल का खोलती है कुमुद-कला !"

इन पंक्तियों में इन्द्रधनुष के विविध हल्के रंगों जैसा रेशमी बादल के घूँघट से झाँकता हुआ कुमुद-कला के सदृश सुन्दर मुख अत्यन्त शोभायुक्त एवं भाव-व्यंजक बन गया है। रंगों की यह मिलावट एक बार की है और पृथक्-पृथक् भी है। इसी प्रकार विविध आमों का वर्णन देखिए—

"रुपहले सुनहले आम्र बौर,
नीले, पीले औ' ताम्र भौर !"

इनमें भी वर्ण की समुचित संयोजना है। पन्त के वर्ण-परिज्ञान का विश्लेषण करते हुए डॉ० नगेन्द्र के ये शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं—"पन्त की वर्ण-योजना बड़ी सूक्ष्म है। आप अपने शब्द-चयन के बल पर वही कर दिखाते हैं जो एक चित्रकार रंग, छाया और प्रकाश के चित्रण से कर सकता है। यही नहीं, कहीं तो हमको रूप, रंग के अतिरिक्त स्पर्श और गंध का भी आस्वादन हो जाता है।"

५. ध्वनि-चित्रण—भाव और भाषा के सामंजस्य से तथा स्वरैक्य के द्वारा पन्त जी ध्वनि-चित्रण करने में भी अत्यन्त कुशल हैं। वे ध्वनि के द्वारा ही वर्णित विषय को साकार कर देते हैं। यथा—

"पावस ऋतु थी पर्वत प्रदेश, पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश !
मेखलाकार पर्वत अपार, अपने सहस्र दृग-सुमन फार;
अवलोक रहा है बार-बार, नीचे जल में निज महाकार !"

इस पद में ध्वनि-चित्रण का अत्यन्त प्रभावशाली वर्णन हुआ है। 'पल-पल परिवर्तित' में लघु आकार वाले अक्षरों की आवृत्ति होने के कारण प्रकृति के विविध बदलते चित्रपट के दृश्यों के समान आँखों के समक्ष घूमने लगते हैं।

पर्वत के वर्णन में 'म' का बार-बार प्रयोग उसकी भीमकाय आकृति तथा उसकी विशालता का चित्र उपस्थित कर देता है। इसी प्रकार—

'विरह अहह कराहते इस शब्द को।'

में 'ह' की आवृत्ति से ऐसा ज्ञात होता है जैसे कोई सचमुच ही अपनी मर्मान्तिक पीड़ा से कराह रहा हो।

इस प्रकार यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि पन्त जी की भाषा अत्यन्त सजीव एवं समृद्ध है। श्री राहुल जी के शब्दों में—"पन्त बीसवीं सदी के महान् कवियों में हैं, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन महान् कवि होने के साथ-साथ हिन्दी के लिए उनकी एक और भी बड़ी देन है, वह है हिन्दी की काव्य-भाषा को कोमल और कान्त बनाना। एक सच्चे पारखी की तरह पन्त ने टकसाल से मौजूदा शब्दों को सेर-छटांक में नहीं, रत्ती और परमाणुओं के भार से तोलकर उनके मोल को बड़ी बारीकी से आँका और उसे किसी यूनानी प्रस्तर-शिल्पी की भाँति अपनी छेनी और हथौड़े के बहुत कोमल और दृढ़ हाथों से काटा-छाँटा उसे सुन्दर भावों से प्रकट करने का माध्यम बनाया। शब्दों के सुन्दर निर्माण और विन्यास में पन्त अद्वितीय हैं।"

६. व्याकरण—भाषा और व्याकरण का अटूट सम्बन्ध है। यदि भाषा व्याकरण को जन्म देती है तो व्याकरण भाषा को शुद्ध और परिमार्जित करके उसकी जीवन-शक्ति को बनाये रखता है। छायावादी कवियों को खड़ी बोली का परिमार्जन करके उसे उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित करना था, इसलिए वे व्याकरण के बंधनों को तोड़ने के लिए विवश हुए। पन्त जी के काव्य में यह स्वच्छन्दता अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में परिलक्षित होती है। वे भावों को प्रमुख स्थान देते हैं। यदि व्याकरण उनकी भावाभिव्यंजना में बाधक सिद्ध होता है तो वे बिना किसी झिझक के उसका बहिष्कार कर देते हैं। प्रायः लिंगों के सम्बन्ध में पन्त जी ने हिन्दी व्याकरण को नहीं माना है। उनका कहना है कि जो शब्द केवल अकारान्त या इकारान्त के अनुसार पुल्लिंग अथवा स्त्रीलिंग हो गए हैं और जिनके लिंग का अर्थ के साथ सामंजस्य नहीं मिलता, उन शब्दों का ठीक [illegible] ही आँखों के सामने नहीं उतरता और कविता में उनका प्रयोग [illegible] हो जाती है। इसीलिए उन्होंने व्याकरण-बंधन को [illegible] बना दिया है।

"इस तरह मेरे चितेरे हृदय की, बाह्य प्रकृति बनी चमत्कृत चित्र थी,,
सरल शैशव की सुखद सुधि सी वही, बालिका मेरी मनोरम मित्र थी !"

यहाँ 'मित्र' शब्द का प्रयोग पुल्लिंग के स्थान पर स्त्रीलिंग में किया गया है।

७. मुहावरे एवं कहावतें—पन्त जी की भाषा संस्कृत-तत्सम प्रधान है, अतः उसमे मुहावरों एवं कहावतों का प्रयोग 'नहीं' के बराबर ही है। जो कहावतें आई भी हैं, उन्हें पन्त जी ने ज्यों-की-त्यों न रखकर अपनी भाषा के अनुकूल गढ़ लिया है। यथा—

"यह अनोखी रीति है क्या प्रेम की
जो अपांगों से अधिक है देखता,
दूर होकर और बढ़ता है तथा
वारि पीकर पूछता है घर सदा।"

इसमें अन्तिम पंक्ति में एक कहावत का प्रयोग है। वस्तुतः कहावत इस प्रकार है—'पानी पीकर जात पूछना'—परन्तु पन्त जी ने इसे अपनी भाषा के अनुकूल बनाकर प्रयुक्त किया है।

कहावतों की भाँति मुहावरों का प्रयोग भी पन्त की भाषा में कम ही मिलता है, परन्तु जहाँ भी उन्होंने उनका प्रयोग किया है, वहाँ वे भावों को बहुत ही भावपूर्ण बना देते हैं। एक उदाहरण देखिए—

"अरे वे अपलक चार नयन
आठ आँसू रोते निरुपाय !"

कहीं-कहीं अंग्रेजी के ढंग के मुहावरे भी मिलते हैं। निम्नलिखित पंक्तियों 'रेखांकित' में (Underlined) शब्द का प्रयोग देखिए—

"आज रजनी सी अलक थी डोलती,
भ्रमित हो शशि के बदन के बीच में,
अचल रेखांकित कभी थी कर रही,
प्रमुखता मुख की सुछवि के काव्य में।"

विचित्र प्रयोग—पन्त जी की भाषा में कुछ विचित्र प्रयोग भी मिलते हैं। उदाहरण के लिए 'मनोज' शब्द लिया जा सकता है। इसका रूढ़ि अर्थ कामदेव है, परन्तु कवि ने मन से उत्पन्न व्युत्पत्ति अर्थ में ही गांधी जी के लिए इसका प्रयोग किया है—

"तुम आत्मा के मन के मनोज्ञ !"

इसी प्रकार 'प्रद्रुत' का प्रयोग भी विचित्र है—

"द्रु अमृत स्पर्श से है प्रद्रुत !"

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भले ही पन्त की भाषा में व्याकरण-विषयक त्रुटियाँ हों अथवा शब्दों के विचित्र प्रयोग हों, किन्तु उनकी भाषा युग-परिवर्तिनी भाषा की भाँति सशक्त है। पन्त जी की भाषा की इसी विशेषता का उल्लेख करते हुए डॉ० नगेन्द्र कहते हैं—"हमारा कवि भाषा का सूत्रधार है। भाषा उसके कलात्मक संकेतों पर नाचती है। करुण शृंगार में यदि उसका उन्मन गुंजन सुनाई पड़ता है तो वीर और भयानक में वह अग्नि-कण भी उगल सकती है। भाषा का इतना बड़ा विधायक हिन्दी में कोई नहीं है—हाँ, कभी कोई नहीं रहा !"

: १३ :

अलङ्कार-योजना

मनुष्य सौंदर्योपासक प्राणी है। जिस प्रकार वह अन्य वस्तुओं में सुन्दरता देखना चाहता है, उसी प्रकार भाषा में भी वह सौंदर्य देखने का अभिलाषी है। काव्य में प्रयुक्त अलंकार उसकी इसी अभिलाषा की पूर्ति करते हैं, इसलिए इनकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है—अलंक्रियतेऽनेनेत्यलङ्कारः—अर्थात् जिनके द्वारा भाषा को अलङ्कृत किया जाए, वे अलंकार कहलाते हैं। इनकी एक दूसरी व्युत्पत्ति भी है, जो इस प्रकार है—अलंकरोतीत्यलंकारः—अर्थात् जो भाषा को अलङ्कृत करते हैं, वे अलंकार कहे जाते हैं। दोनों व्युत्पत्ति से यही अर्थ निकलता है कि काव्य में प्रयुक्त अलंकार भाषा की शोभा के विधायक होते हैं।

अलंकार काव्य के अनिवार्य उपकरण हैं अथवा गौण, यह विवाद काफी पुराना है। जो अलंकारों को काव्य का अनिवार्य अंग समझते हैं, वे अलंकार-वादी कहे जाते हैं। दण्डी इनमें से प्रमुख हैं। उन्होंने अलंकारों को काव्य का शोभा-धर्म कहा है—

"काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान्प्रचक्षते।"

इसके विपरीत दूसरे वर्ग—यथा रसवादी वर्ग—अलंकारों को काव्य का गौण उपकरण मानते हैं। वे अलंकारों की अपेक्षा भावों का महत्व प्रतिपादित करते हैं। इसीलिए आचार्य मम्मट ने 'शब्दार्थावनलंकृती पुनः क्वापि' कहकर अलंकारों का गौण स्थान माना है।

छायावादी कवि यद्यपि अलंकारवादी नहीं कहे जाते, तथापि इनकी कृतियों में अलंकारों की भरमार है, विशेषतः पन्तजी तो अपनी अलंकार-योजना में अधिक सतर्क दिखाई देते हैं। अपनी अलंकार-विषयक धारणा की अभिव्यक्ति वे 'पल्लव-प्रवेश' में इन शब्दों में करते हैं—"वे (अलंकार) केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वरन् भावाभिव्यक्ति के भी विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए राग की पूर्णता के लिए वे आवश्यक उपादान हैं।

वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति, नीति हैं, पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के भिन्न-भिन्न चित्र हैं।···वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं।" इन पंक्तियों से सिद्ध होता है कि पन्तजी अलंकारों की महत्ता केवल भाषा की पुष्टि के लिए, राग की पूर्णता के लिए ही स्वीकार नहीं करते, बल्कि भावों के अलंकरण में भी उनका योगदान स्वीकार करते हैं। यद्यपि कहीं-कहीं पन्तजी के काव्य में अलंकारों का प्रयोग केवल चमत्कार-प्रदर्शन के लिए भी मिल जाता है, पर ऐसे उदाहरण विरले ही हैं, अन्यथा उनके अलंकार भाषा और भावों का साथ-साथ अलंकरण करते हैं।

पन्तजी समन्वयवादी हैं। जिस प्रकार उन्होंने भारतीय दर्शन और पाश्चात्य का जीवन-सौष्ठव साथ-साथ गूँथकर भाव-क्षेत्र में एक नये चेतनावाद को जन्म दे दिया है, उसी प्रकार उनकी समन्वय-भावना अलंकारों के क्षेत्र में भी देखी जा सकती है। उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य दोनों प्रकार के अलंकारों का खुलकर प्रयोग किया है। पन्त के काव्य में प्रयुक्त कुछ अलंकार उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किए जाते हैं।

भारतीय अलंकार—भारतीय काव्य-शास्त्र में अलंकारों के दो प्रमुख भेद किये गए हैं - शब्दालंकार और अर्थालंकार। जो अलंकार केवल शाब्दिक चमत्कार उत्पन्न करते हैं, वे शब्दालंकार कहलाते हैं। पन्तजी ने अपने काव्य में इन दोनों प्रकारों को ही प्रयुक्त किया है। शब्दालंकारों में उन्होंने प्रायः अनुप्रास, यमक आदि का प्रयोग है और अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास, अन्योक्ति, क्रम, उल्लेख, समासोक्ति, सन्देह ही अधिकांशतः प्रयुक्त हुए हैं। अब पन्त-काव्य में इनके उदाहरण देखिए—

१. अनुप्रास—जहाँ व्यंजनों की समता हो, वहाँ अनुप्रास अलंकार होता है। यथा—

> "मृदु मंद-मंद मंथर-मंथर,
> लघु तरणि, हंसिनी सी सुन्दर,
> तिर रही खोल पालों के पर!"

इसमें 'म' व्यंजन की समता है। अतः अनुप्रास अलंकार है।

— जहाँ निरर्थक वर्णों या भिन्नार्थक सार्थक वर्णों की पुनरावृत्ति पुनः वृत्ति हो, वहाँ यमक अलंकार होता है। —

"तरणि के ही संग तरल तरंग में,
तरणि डूबी थी हमारी ताल में !"

यहाँ 'तरणि' शब्द का दो बार प्रयोग हुआ है, किन्तु अर्थ भिन्न-भिन्न है। पहले 'तरणि' का अर्थ 'सूर्य' और दूसरे का 'नौका' है। अतः यहाँ यमक अलंकार है।

२. उपमा—दो पदार्थों के उपमान-उपमेय भाव से समान धर्म के कथन करने को उपमा अलंकार कहते है।

यह समानता दो आधारों पर होती है—रूप या आकार के आधार पर और गुणों के आधार पर। पन्तजी मे ये दोनों आधार मिलते हैं, साथ ही अमूर्त के लिए मूर्त उपमानों का भी प्रयोग मिलता है, जो अत्यन्त प्रभावपूर्ण है। 'छाया' को मूर्त रूप प्रदान करने के लिए अमूर्त उपमानों का प्रयोग देखिए—

'तरुवर के छायानुवाद-सी, उपमा-सी भावुकता-सी।
अविदित भावाकुल भाषा-सी, कटी-छँटी नव-कविता-सी॥'

३. रूपक—उपमेय में उपमान के निषेध रहित आरोप को रूपक अलंकार कहते हैं। यथा—

"प्रथम भय से मीन के शिशु बाल जो, पंख फड़काना नहीं थे जानते;
ऊर्मियों के साथ क्रीड़ा की उन्हें, लालसा अब है विकल करने लगी !"

इन पंक्तियों में मीन-शिशु के बहाने सखियों की अपनी एक सखी के प्रति व्यंग्योक्ति है। अत: यह व्यंग्य रूपक है।

४. उत्प्रेक्षा—जहाँ प्रस्तुत की अप्रस्तुत रूप मे सम्भावना की जाए, वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। यथा—

"निराकार तम मानो सहसा ज्योति पुंज में हो साकार,
बदल गया द्रुत जगत जाल में धर कर नाम रूप नाना !"

यहाँ 'तम' प्रस्तुत की अप्रस्तुत 'ज्योति पुंज' मे सम्भावना की गई है।

५. विरोधाभास—जहाँ यथार्थतः विरोध न होकर विरोध के आभास का वर्णन हो, वहाँ विरोधाभास अलंकार होता है। यथा—

"यह अनोखी रीति है क्या प्रेम की जो अपांगों से अधिक है देखता,
दूर होकर और बढ़ता है तथा वारि पीकर पूछता है घर सदा।

यहाँ 'प्रयाणों से अधिक देखने में' और 'दूर होकर बढ़ने में' वस्तुतः विरोध नहीं, बल्कि विरोध का आभास है। अतः यहाँ विरोधाभास अलंकार है।

७ अन्योक्ति—जहाँ वास्तविक विषय का गोपन करके किसी अन्य वर्णन से उसका प्रतिपादन किया जाता है, वहाँ अन्योक्ति अलंकार होता है। पन्तजी की 'द्रुत झरो' कविता इसका सुन्दर उदाहरण है, जहाँ पुरातनता के पुजारी वृद्धों को जीर्ण-शीर्ण पत्र कहा गया है। यथा—

"द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र ! हे स्रस्त-ध्वस्त ! हे शुष्क शीर्ण !
हिम ताप पीत, मधुवात भीत, तुम वीतराग, जड़, पुराचीन !"

८. क्रम—जहाँ क्रमशः कहे हुए पदार्थों का उसी क्रम से अन्वय हो, वहाँ क्रमालंकार होता है। इसे यथासंख्य अलंकार भी कहते हैं। यथा—

"निज पलक मेरी विकलता साथ ही
अवनि से, उर से, मृगेक्षणी ने उठा,
एक पल, निज स्नेह श्यामल दृष्टि से
स्निग्ध कर दी दृष्टि ,मेरी दीप-सी !"

प्रथम पंक्ति की 'पलक' और विकलता' के क्रम के अनुसार ही 'अवनि से और 'उर से' का उल्लेख किया गया है। अतः यह क्रमालंकार है। साथ ही सहोक्ति, उपमा आदि का सम्मिश्रण होने से 'संकर' अलंकार भी है।

९. उल्लेख—जहाँ एक ही वर्णनीय विषय का निमित्त भेद से अनेक प्रकार का वर्णन हो, वहाँ उल्लेख अलंकार होता है। यथा—

"बिन्दु में थी तुम सिंधु अनन्त, एक स्वर में समस्त संगीत,
एक कलिका में अखिल वसंत, धरा पर थी तुम स्वर्ग पुनीत !"

यहाँ प्रेमिका के सौन्दर्य का वर्णन अनेक प्रकार से किया गया है अर्थात् उसे अनेक रूपों में देखा गया है, अतः उल्लेख अलंकार है।

१०. समासोक्ति—जहाँ प्रस्तुत के वर्णन द्वारा समान विशेषणों से—श्लिष्ट हों या साधारण—अप्रस्तुत का वर्णन हो, वहाँ समासोक्ति अलंकार होता है। यथा—

"नीले नभ के शतदल पर वह बैठी शारद-हासिनि !
मृदु कर तल पर शशि-मुख धर नीरव, अनिमिष, एकाकिनि !"

यहाँ प्रस्तुत चाँदनी के वर्णन में अप्रस्तुत नायिका के सौन्दर्य का वर्णन है, अतः समासोक्ति अलंकार है।

११. सन्देह—जहाँ किसी वस्तु के सम्बन्ध में सादृश्यमूलक सन्देह हो, वहाँ सन्देह अलंकार होता है। यथा—

"निद्रा के इस अलसित वन में, वह क्या भावी की छाया?
दृग पलकों में विचर रही, या वन्य देवियों की माया?"

इन पंक्तियों में कवि किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पाया है। उसके मन में बार-बार सन्देह बन रहा है, अतएव यहाँ सन्देह अलंकार है।

इनके अतिरिक्त प्रतीप, तुल्ययोगिता, विषम, असंगति आदि अनेकानेक अर्थालंकार पन्त-काव्य में परिलक्षित होते हैं।

पाश्चात्य अलंकार—भारतीय अलंकारों के प्रचुर प्रयोगों के साथ-साथ पन्तजी ने कुछ पाश्चात्य अलंकारों का भी प्रयोग किया है, जिनमें तीन प्रमुख हैं—

१. मानवीकरण (Personification)
२. विशेषण-विपर्यय (Transferred Epithet)
३. ध्वन्यर्थ व्यंजन (Onomatopoeia)

१. मानवीकरण (Personification)—जब अचेतन में चेतना का आरोप किया जाता है तो वह मानवीकरण कहलाता है। छायावादी कवियों का यह सर्वप्रिय अलंकार है। उन्होंने प्रत्येक जड़ वस्तु को चेतनता प्रदान की है। पन्तकाव्य का एक उदाहरण देखिए—

"विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते थे जब स्वप्न अजान।"

स्वप्न केवल एक भाव है किन्तु उनका 'विचरना' बताकर उनका मानवीकरण किया गया है।

२. विशेषण विपर्यय (Transferred Epithet)—अभिधा वृत्त्यानुसार विशेषण को उसके स्थान से हटाकर कहीं दूसरे स्थान पर रख देना ही विशेषण-विपर्यय कहलाता है। यथा—

"दीनता के ही विकंपित पात्र में
दान बढ़कर है छलकता प्रीति से।"

पात्र दीन का होता है, दीनता का नहीं; अतएव यहाँ विशेषण-विपर्यय अलंकार है।

३. ध्वन्यर्थ व्यंजना (Onomatopoeia)—जहाँ शब्द की ध्वनिमात्र से ही अर्थ की प्रतीति हो जाए, वहाँ ध्वन्यर्थ व्यंजना अलंकार होता है। यथा—

"कभी अचानक भूतों का सा प्रकटा विकट महा आकार;
कड़क-कड़क जब हँसते हम सब थर्रा उठता है संसार!"

इन पंक्तियों में 'आ' स्वर की पुनरावृत्ति से भूतों की विशाल काया का बोध होता है और 'कड़क-कड़क' ध्वनि से उनकी भयंकरता का ज्ञान होता है। अतएव यहाँ ध्वन्यर्थ व्यंजना अलंकार है।

कहने का अभिप्राय यह है कि पन्त-काव्य अलंकारों से पूर्णतया परिप्रोत है। इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र के ये शब्द उल्लेखनीय हैं—"पन्तजी का अलंकार-भंडार बड़ा भरा-पूरा है जिससे भाषा की शक्तियों पर उनके विस्तृत अधिकार का परिचय मिलता है। यद्यपि वे अन्य आधुनिक कवियों की अपेक्षा अधिक अलंकार प्रिय हैं फिर भी उनकी समस्त अलंकार साधना भावों की ही सजावट के लिए है।" यहाँ पर यह कहना भी आवश्यक है कि पन्त की अलंकार प्रियता भी उनके छायावाद-युग के साथ-साथ ही समाप्त हो जाती है। प्रगतिवाद में प्रवेश करने पर वे अलंकारों का मोह छोड़ देते हैं, बल्कि उन्हें बन्धन समझकर त्याग देते हैं और घोषणा कर देते हैं—

'तुम वहन कर सको जन में मेरे विचार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार!"

इसका यह तात्पर्य नहीं कि आगे के पन्त-काव्य में अलंकारों का नितान्त अभाव है। अलंकार तो अब भी मिलते हैं, पर वे अपनी सहज स्वाभाविकता के कारण ही हैं, कवि के अलंकार-मोह का प्रभाव उनमें बिल्कुल नहीं है।

: १४ :

छन्द

युग की मान्यताओं के साथ-साथ काव्य के मान-दण्ड भी बदलते रहते हैं। एक समय था जब छंद काव्य का अनिवार्य अंग था और कोई भी पिंगल पढ़े बिना कवि नहीं बन सकता था। उस समय काव्य हृदय का सहज उच्छलन न होकर अभ्यास का परिणाम होता था। हिन्दी-साहित्य में रीतिकाल तक छंदों की यह परम्परा अक्षुण्ण बनी रही, यह बात दूसरी है कि किसी काल में किसी छन्द का प्रचार अधिक रहा और किसी में किसी का। छायावाद-युग में भी बहुत सीमा तक छंदों का समादर दिखाई देता है। पन्तजी भी छंद की महत्ता स्वीकार करते हुए लिखते हैं—"कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छंद हृत्कंपन। कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते हैं, जिनके बिना वह अपनी ही बन्धन-हीनता में प्रवाह खो बैठती है, उसी प्रकार छंद भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन-कम्पन तथा वेग प्रदान कर, निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल कलरव भर उन्हें सजीव बना देते हैं।" यही कारण है कि अपने छायावादी-युग में पन्तजी छंदों के संकेतों पर नाचते हुए-से दिखाई देते हैं।

छन्द के दो भेद होते हैं—वार्णिक और मात्रिक। जिन छंदों की लय वर्णों पर आधारित होती है। वे वार्णिक और जिनकी मात्राओं पर वे मात्रिक छन्द कहलाते हैं। इनमें पन्तजी ने मात्रिक छन्दों को चुना है और उनका अपने काव्य में प्रयोग किया है। पीयूषवर्षण, रूपमाला, सखी, रोला, पद्धरिका, चौपाई आदि छन्द कवि को अधिक प्रिय जान पड़ते हैं, इसीलिए उन्होंने इनका ही अधिकांश रूप से प्रयोग किया है।

अलंकारों की भाँति पन्तजी ने छन्दों के प्रयोगों में भी अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। वे छंद से अधिक भावों को महत्त्व देते हैं, अथवा यों कह लीजिए कि उनके छंद भावानुसरण करने वाले हैं। जिस प्रकार का भाव है,

उसी प्रकार का छंद मे भी परिवर्तन हो जाता है। 'परिवर्तन' कविता इसका सुन्दरतम उदाहरण है। इस कविता में भावों के अनुसार ही छन्दों की मात्रायें घटाई और बढ़ाई गई हैं। यथा—

"विश्वमय हे परिवर्तन !
अतल से उमड़ अकूल, अपार
मेघ से विपुलाकार
दिशावधि में पल विविध प्रकार
अतल में मिलते तुम अविकार !"

× × ×

"अखिल विश्व की आशाओं का इन्द्र चाप वर
अहे तुम्हारी भीम भृकुटि पर
अटका निर्भर !"

कहीं-कहीं पन्त जी ने अपने छंदों में चित्रोपमता लाने का भी प्रयास किया है। यथा—

"नवोढा बाल लहर
प्रसूनों के ढिग रुक कर
सरकती है सत्वर !"

इनमें दूसरी पंक्ति कुछ लम्बी है, अतः लय में उसी प्रकार व्यवधान पड़ जाता है जैसे लहर की गति रुक गई हो, किन्तु तीसरी पंक्ति की लय में लहर की गति की भाँति ही क्षिप्रता है।

जिस प्रकार पन्तजी ने अलंकारों में भारतीय अलंकारों के साथ-साथ पाश्चात्य अलंकारों को भी अपनाया है, उसी प्रकार पाश्चात्य छंदों को भी प्रयुक्त किया है। एक पाश्चात्य ढंग का छन्द देखिए, इसे 'रन आन लाइन्स' (Run-on lines) कहते हैं—

"और भोले प्रेम ! क्या तुम हो बने—
वेदना के विकल हाथों से, जहाँ—
झूमते गज से विचरते हो, वहीं—
आह है, उन्माद है, उत्ताप है।"

पन्तजी के छंदों के विषय में डॉ० नगेन्द्र का यह निष्कर्ष युक्तियुक्त ही जान पड़ता है—"वास्तव में पन्त की छन्द-योजना विशद है। उनके प्रत्येक छंद मे राग की एक धारा अनिवार्य रूप से व्याप्त मिलती है—कही भी शब्दो की कड़ियाँ अलग-अलग असम्बद्ध नही दिखाई पड़ती—उनकी दरारें लय से भरकर एकाकार कर दी गई हैं। सारांश यह है कि उनमें पूर्ण सामंजस्य है।" यहाँ भी यह ध्यान रखना चाहिए कि जिस प्रकार अपने छायावादी-युग तक ही पन्त का अलंकारों के प्रति मोह रहा, उसी प्रकार छन्दों की महत्ता भी उन्हें तभी तक जान पड़ी प्रगतिवादी पन्त ने छन्दों को कविता की स्वाभाविकता न मानकर उन्हें बन्धन ही माना उनके बन्धन से अपनी कविता को छुड़ाकर उन्हे असीम संतोष का अनुभव हुआ जो उनकी इन पंक्तियों से स्पष्ट है—

"खुल गये छन्द के बन्ध, प्रास के रजत पाश,
अब गीत मुक्त, औ' युग वाणी बहती अयास !"

: १५ :

मूल्यांकन

किसी भी कवि का मूल्यांकन करने के लिए अथवा उसका साहित्य में स्था निर्धारित करने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी समस्त कृतियों का अध्य किया जाये और यह निष्कर्ष निकाला जाए कि साहित्य को उसकी देन क्या है इसी आधार पर हम पन्तजी का मूल्यांकन करेंगे।

पन्तजी के समग्र काव्य-जीवन को तीन युगों में विभाजित किया ज सकता है—

१. छायावादी युग,

२. प्रगतिवादी युग,

३. आध्यात्मिक या चेतनावादी युग।

१. छायावादी युग—हिन्दी-साहित्य में पन्त का आविर्भाव छायावादी कवि के रूप में होता है। वीणा, रश्मि, पल्लव और गुंजन इस काल की रचनाएँ हैं। छायावाद-युग के पूर्व हिन्दी-साहित्य में द्विवेदी-युग का बोल-बाला था जो कविता के क्षेत्र में अपनी इतिवृत्तात्मकता के लिए प्रसिद्ध है। यद्यपि द्विवेदी-युग में खड़ी बोली का परिष्कार एवं परिमार्जन यथेष्ट मात्रा में हुआ, किन्तु काव्य का क्षेत्र प्रायः अविकसित ही रहा, क्योंकि कवियों पर इतिवृत्तात्मकता का कठोर अंकुश लगा हुआ था। परिणामतः भाषा में कोमलता, मार्दव और मधुरता का अभाव ही बना रहा। पन्तजी ने इस इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध विद्रोह किया और हिन्दी में अधिक कोमलता, सुकुमारता एवं अभिव्यंजना-शक्ति लाने का प्रयास किया। 'यदि 'वीणा' से 'गुंजन' तक की कृतियों का सम्मिलित अध्ययन किया जाये तो निम्नलिखित प्रमुख निष्कर्ष निकलते हैं—

१. पन्तजी ने छायावाद में अपना अपूर्व योग देकर उसे पल्लवित और पुष्पित किया। अभिव्यंजना की दृष्टि से उनके काव्य में ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान आदि सभी छायावादी तत्त्वों के दर्शन होते हैं।

२. उन्होंने प्रकृति के मधुरतम चित्रों से काव्य को अलंकृत किया। प्रकृति के प्रति उनका मोह इतना प्रबल था कि नारी का सम्मोहन-आकर्षण भी उन्हें

फीका लगा। वे द्रुमों की मृदुल छाया पर बाला की अद्वितीय लावण्यता को न्योछावर कर गये। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि जिन कवियों ने प्रकृति के सौंदर्यमय उपकरणों से हिन्दी-काव्य का श्रृंगार किया, उनमें पन्त जी का मूर्धन्य स्थान है।

३. प्रेम और सौंदर्य की नवीनतम व्याख्या प्रस्तुत करने का श्रेय भी कविवर पन्त को ही है। उनके प्रेम में मांसलता न होकर सूक्ष्मता एवं पावनता है। प्रेम की सूक्ष्मता के समान ही उनकी प्रियतमा भी सूक्ष्म और पावन है जिसके छूने में प्राण और संग में पावन गंगा-स्नान है।

४. रीतिकाल में नारी की काफी दुर्दशा हो चुकी थी। वह केवल 'काम-पुत्तलिका' ही बनकर रह गई थी। पन्तजी ने नारी के प्रति भी स्वस्थ दृष्टिकोण की स्थापना की और उसे निखिल सौंदर्य की खान बताकर देवी के पद पर प्रतिष्ठित किया। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि पन्तजी ने नारी-सौंदर्य के बाह्य पक्ष की अपेक्षा आन्तरिक पक्ष को महत्व दिया।

५. भाषा-विषयक सुधार तो उन्होंने इतना अधिक किया कि उन्हें छायावादी-युग का भाषा-निर्माता कहा जा सकता है। 'पल्लव' का जन्म उनके भाषा-सुधार का सफल एवं साकार रूप है। इसके काव्य-सौन्दर्य पर मुग्ध होकर सुप्रसिद्ध आलोचक श्री शुकदेवबिहारी मिश्र ने तो यहाँ तक कह दिया—"मैं हिन्दी में केवल नवरत्नों को ही महाकवि मानता आया हूँ, किन्तु 'पल्लव' को पढ़कर मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि यह बालक (पन्त) भी महाकवि है।" यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि 'पल्लव' की पृष्ठभूमि में कवि का भाषा-सुधार का अतुल परिश्रम निहित है। 'पल्लव-प्रवेश' केवल इस कथन का साक्षी ही नहीं, वरन् अन्य कवियों का भी पथ-प्रदर्शन करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि भाषा को छायावादी काव्य के उपयुक्त बना देना पन्तजी की हिन्दी साहित्य को अमर देन है। श्री राहुल जी के शब्दों में—"पन्त की सबसे बड़ी देन हिन्दी-काव्य-साहित्य के लिए है, सुन्दर शब्द-विन्यास और मुक्तक शैली।"

६. 'गुंजन' का गुंजन भी हिन्दी-साहित्य के लिए नवीन वस्तु है। यहाँ एक ओर ध्वनियों के द्वारा वर्णनों को सावयव किया गया है और दूसरी ओर दार्शनिकता की सरसता प्रदान करके यह सिद्ध किया गया है कि दर्शन जैसा

नीरस एवं शुष्क विषय भी सुकुमार कवि के हाथ में पड़कर काव्यमय बन जाता है।

सारांश यह है कि छायावादी कवि का छायावादी-काव्य में अमर योगदान है। उन्होंने भाव और भाषा दोनों ही दृष्टियों से हिन्दी-काव्य को नवीनता, समृद्धता और सजीवता प्रदान की है।

२. प्रगतिवादी युग—छायावाद की काल्पनिक मनोहरता पन्त को अधिक दिनों तक उलझाये न रह सकी। नवीनता का पुजारी छायावादी दर्शन में नवीनता के लिए अवकाश न देखकर प्रगतिवाद के क्षेत्र में अवतीर्ण हो गया। 'युगान्त' से लेकर 'ग्राम्या' तक पन्त का प्रगतिवादी युग है। इसमें उन्होंने गगन की नील-नीलिमा को छोड़कर जीव-प्रसू-भू को अवश्य देखा है, किन्तु केवल बौद्धिक सहानुभूति होने के कारण वे जग-जीवन को अधिक संवेदनशील न बना पाये। कल्पना के आधार पर बनाया गया यथार्थता का प्रासाद यत्र-तत्र दरारें खा गया। विषय की दृष्टि से पन्तजी अपने प्रगतिवादी रूप में सफल नहीं कहे जा सकते, पर दो बातों के लिए उनका यह युग हिन्दी-साहित्य में अमर रहेगा—

१. अलंकारों के आभूषण उतार देने के बाद भी भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति सशक्त और प्रभावोत्पादक बनी रह सकती है, यह प्रगतिवादी पन्त के साहित्य से सिद्ध होता है।

२. छन्दों के बन्धनों को तोड़ देने से कविता में गति और भाव-प्रवणता आ जाती है। यद्यपि हिंदी-साहित्य में मुक्त छन्द के आविष्कारक 'निराला' माने जाते हैं, तथापि इसकी सफलता के प्रयत्नों में पन्त का योगदान भी कम नहीं है।

३. आध्यात्मिक या चेतनावादी युग—जिस प्रकार छायावाद की काल्पनिकता पन्त को अधिक दिनों तक न उलझाए रह सकी, इसी प्रकार प्रगतिवाद की जन और नगरों की अन्धेरी गलियाँ भी उनके लिए कुछ कालोपरान्त आकर्षक न रह सकीं। अपने प्रगतिवादी काल में उन्हें अनुभव हो गया था कि केवल बाह्य विकास में जीवन की सम्पूर्णता नहीं है। उसकी पूर्णता बहिरंतर के समन्वय में है, अतः वे एक ऐसे समाज की स्वर्णिम कल्पना कर बैठे, जहाँ नवीन चेतना का उदय हो रहा है। इसीलिए इसे चेतनावादी युग कहा जाता है। इसका आरम्भ 'स्वर्णकिरण' से होकर अब तक चल रहा है। इस युग की सबसे बड़ी विशेषता है—समन्वय-भावना। इसी भावना में कवि के काव्य का लोक-हित भी सुरक्षित है। कवि की यह धारणा है कि व्यक्ति का कल्याण न तो

केवल भूतवाद से हो सकता है और न केवल अध्यात्मवाद से, बल्कि इन दोनों के समुचित समन्वय से ही हो सकता है। पन्तजी की यह समन्वय भावना, अपने अर्थ में, हिन्दी-साहित्य के लिए एकदम नई चीज है। इसमें उनकी विशाल दृष्टि और व्यापक अनुभवों का समावेश है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि भारतीय दर्शन और पाश्चात्य जीवन-सौष्ठव का समन्वय ही, उनके मत से, जीवन की सम्पूर्णता है।

जहाँ तक कला-पक्ष का प्रश्न है, वह इस युग का विशेष महत्वपूर्ण नहीं है; बल्कि अपनी अब तक की अन्तिम कृति 'कला और बूढ़ा चाँद' में तो काव्य काव्य न रहकर गद्य ही बन गया है, किन्तु भाव-पक्ष की दृष्टि से यह युग अत्यन्त समृद्ध है। इसकी महत्ता का अनुमान पन्तजी के इन शब्दों से सहज ही लग जाता है—"विज्ञान और साहित्य—विशेषतः काव्य साहित्य—ही लोक-मंगल का पथग्रहण कर, अपनी असीम स्थूल सूक्ष्म शक्तियों की सम्भावनाओं से, आज मानव-जगत् तथा मन का बहिरंतर रूपान्तर एवं पुनर्निर्माण कर इस युग के नरक को नये स्वर्ग का रूप दे सकते हैं, इसमें मुझे रत्ती भर सन्देह नहीं। हमारे युवकों तथा छात्रों को मानव-चेतना के नवीन प्रकाश का सन्देहवाह बनकर आज धरती के पथराये मन में अपने नवीन रक्त का संगीत स्पन्दन, तरुण हृदयों के स्वप्नों का जागरण तथा अदम्य प्राणों का सौन्दर्य एवं ऐश्वर्य भरना है—मानवता के प्रति वे अपने इस अमूल्य दायित्व को न भूलें।"

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि पन्त-काव्य ऐसा स्वर्गिक उपवन है, जिसमें कला के मुसकराते हुए सुन्दर पुष्प भी हैं और भाव का अक्षय सौरभ भी। यदि लोक-हित को ही काव्य का मानदण्ड माना जाये—जैसा कि आजकल प्रचलित है—तो कहा जा सकता है कि तुलसी के बाद पन्त का काव्य ही इस श्रेणी में आता है। आज पन्त को काव्य-कला की चिन्ता नहीं, लोक-हित का फ़िक्र है। यही कारण है कि वे कला-पक्ष से विमुख-से हो गए हैं, पर उनकी लोक-हित की भावना आये दिन बढ़ती ही जा रही है।

अब वे अपने जीवन के पैंसठ वर्ष पूर्ण कर चुके हैं। अपनी साठवीं वर्ष गाँठ के अवसर पर उन्होंने कहा था—"आज मेरे तन के साठ वर्ष पूरे हो गए हैं। अब आगे मैं मन के वर्षों में रहूँगा। मैं तो स्वप्न-द्रष्टा हूँ। आदमी का

व्याख्या-भाग

कविता-परिचय—यह कविता 'वीणा' से उद्धृत की गई है। वीणा में कवि पन्त की १९१८ से १९२० तक की अधिकांश कविताएँ सम्मिलित हैं। 'वीणा' कवि का प्रथम संकलन है, अतः इसमें हृदय की सहज एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति होने के कारण भावों की प्रधानता है। प्रस्तुत कविता भी अत्यन्त भावपूर्ण है। इसमें कवि ने प्रकृति माँ से दो बातों की याचना की है। पहली बात तो यह है कि वह उसके जीवन को मधुर बना दे; और दूसरी बात यह है कि वह उसके भाषण में वंशी-जैसा माधुर्य भर दे। जीवन और वाणी का माधुर्य, कवि की दृष्टि में, सफल एवं पूर्ण जीवन का रूप है।

बना मधुर मेरा जीवन""""विकसित मन।

शब्दार्थ—नव-नव=नये-नये। सुमनों=फूलों। सुरभि=सुगन्ध। हिम-कण=बर्फ के टुकड़े, यहाँ शीतलता से अभिप्राय है। मृदु=कोमल।

अर्थ—हे प्रकृति माँ! मेरा जीवन मधुर बना दे। इस माधुर्य के लिए तू अपने ही अवयवों से मधुरता संचित कर, अर्थात् नये-नये फूलों से धूलि, सुगन्ध, मधुरस और शीतलता लेकर मेरे हृदय की कोमल कली में भर दे और इस प्रकार मेरे मन को विकास प्रदान कर।

विशेष—१. नव-नव में वीप्सा अलंकार है। इस पुनरुक्ति से कवि के हृदय में व्याप्त प्रकृति के सौन्दर्य का अपार भण्डार व्यंजित है।

२. उर को मृदु कलिका कहने से हृदय का सारल्य ध्वनित है।

३. 'भर दे, कर दे' में अनुप्रास की छटा दर्शनीय है।

बना मधुर मेरा भाषण"""तन, मन।

शब्दार्थ—मोहन=आकर्षक। अकर्ण अहि=कान-शून्य सर्प। मन्त्र-मुग्ध=अत्यन्त मोहित। राग=गीत, प्रेम। गहन=विषाद।

अर्थ—हे प्रकृति माँ! मेरी वाणी को माधुर्य प्रदान कर। जिस प्रकार वंशी के स्वरों में सरलता और सरसता होती है, उसी प्रकार मेरे प्राण में सारल्य और मेरे कथन में सरसता आ जाए, और जिस तरह वंशी को।

छेड़ा जाता है, उसका स्वर उतना ही मधुर और आकर्षक होता जाता है, इसी प्रकार मेरे प्राण और वचनों में भी इतनी मधुरता और आकर्षण भर दे कि मैं जितना भी अधिक बोलूँ, वे उतने ही गहनतर होते जाएँ। यह मधुरता मात्रा मे इतनी अधिक और गुण में इतनी प्रभावशाली हो कि जिसे सुनकर कर्ण-शून्य सर्प भी सहसा अत्यन्त मोहित हो उठे और अपना फन नीचा कर ले। कवि के कहने का भाव यह है कि जिस प्रकार वंशी के मधुर स्वरों को सुनकर सर्प अपने रोषयुक्त स्वभाव को भूलकर नत-फन हो जाता है, उसी प्रकार मेरे जीवन में—प्राण और वचन में—इतनी मधुरता हो जिससे प्रभावित होकर क्रूरतम व्यक्ति भी पिघल उठे। हे माँ! मेरे प्रत्येक रोम के छिद्र से तेरा ही विशद गीत अथवा प्रेम फूट निकले। इस प्रकार अपने माधुर्य के उपकरणों से तू मेरे तन-मन को माधुर्य प्रदान कर।

विशेष—१. 'वंशी-वचन' में उपमा अलंकार है।

२. 'अकर्ण अहि' में अनुप्रास अलंकार है।

३. 'राग' में श्लेष है।

४. सरलतम भाषा में उदात्त भावों की अभिव्यंजना अत्यन्त सफल एवं प्रभावपूर्ण है।

२. प्रथम-रश्मि

कविता-परिचय—यह कविता 'वीणा' से उद्धृत है। इसमें प्रातःकालीन वर्णन अत्यन्त सूक्ष्म एवं प्रभावपूर्ण है। भाव और कल्पना का अभूतपूर्व संयोग इसमें हुआ है। कला और भाव की दृष्टि से तो यह कविता अद्वितीय ही है, साथ ही इसका ऐतिहासिक महत्व है। कवि पन्त ने स्वयं इस तथ्य को स्वीकार किया है कि इस कविता ने उन्हें प्रकृति के साथ अधिक आत्मसात् करने की प्रेरणा दी और 'पल्लव' में जिस प्रकृति का दर्शन होता है, यह कविता उसकी पृष्ठ-भूमि है। स्वयं कवि के शब्दों में—"वीणा में प्रकाशित 'प्रथम-रश्मि' नामक कविता ने काव्य-साधना की दृष्टि से नवीन प्रभात-किरण की तरह प्रवेश कर मेरे भीतर 'पल्लव' काल के काव्य-जीवन का समारम्भ कर दिया था।" डा० नगेन्द्र ने इस कविता का मूल्यांकन इन शब्दों में किया है—"'वीणा' की ... का आना' कविता पन्त जी की सर्वोत्कृष्ट कविताओं में है। उसमें

अनुभूति, कल्पना, सूक्ष्मदर्शिता और संगीतमय प्रवाह सभी का सुन्दर संयोग है। भाषा सकेतात्मक और प्रांजल है। प्रथम रश्मि के अभ्यास मात्र को ही पाकर बाल-विहगिनी एक साथ कूक उठी और क्षण-भर में उस नभ-चारिणी ने श्री, सुख, सौरभ का ताना-बाना गूँथ दिया।" डा० नगेन्द्र के ये शब्द अत्युक्तिपूर्ण नहीं, बल्कि प्रस्तुत कविता का यथार्थ मूल्यांकन है। इस कविता में कवि ने परम्परागत उपमानों का प्रयोग भी किया है, कुछ जन-विश्वासों का भी उल्लेख है और कुछ अपनी मौलिक कल्पना का भी समावेश है। इस प्रकार त्रिवेणी का सा पावन संगम बन कर यह कविता भाव और कला दोनों ही दृष्टियों से अभूतपूर्व बन गई है और इसने 'पल्लव' की महानता के लिए कवि के मन में भाव और कला के बीजवपन कर दिये हैं।

प्रथम रश्मि⋯उसका आना।

शब्दार्थ—रश्मि=किरण। रंगिणि=अनुरागमयी। नीड़=घोंसला। कामरूप=सिद्धियुक्त, जो स्वेच्छा से अपना यथेच्छ रूप धारण कर सकें, कामवासना में डूबे हुए। नभचर=आकाश में विचरण करने वाले देव, अप्सरा आदि। नवल=नई। स्नेहहीन=धुँधले। अवनि=पृथ्वी। तम=अन्धकार। तरुवासिनी=पेड़ पर निवास करने वाली। अन्तर्यामिनी=दूरदर्शिनी।

अर्थ—प्रातःकाल होते ही पक्षी चहचहाने लगते हैं। इसी घटना को लेकर कवि बाल-विहगिनी से भाँति-भाँति के प्रश्न करता हुआ पूछता है कि हे अनुरागमयी बाल विहगिनी! तुझे किस प्रकार प्रथम किरण के उदय का पता चल गया जो तू उसके प्रकट होते ही तुरन्त बोल उठी—अपने मधुर स्वरों में गा उठी? यह भी बता कि तुझे यह माधुर्ययुक्त स्वर कहाँ से प्राप्त हुए हैं? भाव यह है कि प्रथम किरण के प्रकट होते ही पक्षी अपने मधुर स्वरों में गाने लग जाते हैं।

आगे की पंक्तियों में कवि अपने प्रश्न का कारण बताता हुआ कहता है कि तू तो सुख से पंखों में छिपकर और अनेक मनोहर स्वप्नों को अपने हृदय में उतार कर अपने घोंसले में सोई थी जहाँ अनेक जुगनू (रात में चमकने वाले कीड़े) पहरेदारों की भाँति तेरे द्वार पर झूम-झूमकर घूम रहे थे और चन्द्रमा की किरणों के सहारे अनेक कामरूप नभचारी देव एवं अप्सरा आदि पृथ्वी पर

उतर-उतरकर और कोमल कलियों के मुखों को चूम-चूम कर उन्हें मुस्कराना—प्रणय का व्यापार—सिखा रहे थे। उस समय वह वातावरण भी अजीब मादक था। आकाश में धुँधले तारे टिमटिमा रहे थे ठीक उसी प्रकार जैसे तेल से रहित दीपक होता है। इस शान्त और निस्तब्ध थे, जैसे उनके साँस ही समाप्त हो गये हों और उनमें चेतना का कोई चिन्ह न रहा हो। समूची पृथ्वी पर स्वप्न विचर रहे थे; अर्थात् सारा विश्व नींद की प्रगाढ़ता के कारण मनोहर स्वप्नों में डूबा हुआ था और चारों ओर अन्धकार का वितान तना हुआ था। ऐसे स्तब्ध वातावरण में हे तरुवासिनि! तू सहसा स्वागत-गीत गाती हुई कैसे कूक उठी। हे दूरदर्शिनि! तुझे प्रथम किरण का आना किसने बताया?

विशेष—१. पन्त जी शब्दों की ध्वनि के पूर्ण ज्ञाता हैं, यह तथ्य इस कविता से सिद्ध है। इसमें सर्वत्र अत्यन्त संयत एवं भावपूर्ण शब्दों का प्रयोग किया गया है। 'तूने' संबोधन कवि की पक्षी के प्रति गहन आत्मीयता प्रकट करता है। 'रंगिणी' संबोधन भी बहुत ही भावपूर्ण है। इससे पक्षी और प्रातःकालीन प्रकृति का चिर-प्रथित सम्बन्ध व्यंजित होता है। 'कहाँ-कहाँ' में वीप्सा अलंकार है जिससे कवि की आतुरतामयी जिज्ञासा ध्वनित होती है।

२ कवि ने प्रातःकालीन प्रकृति का मूर्तिमन्त चित्रण किया है, साथ ही कुछ रूढ़ियाँ भी समाविष्ट कर दी गई हैं; यथा प्रातःकाल में देव और अप्सरा आदि का नभ में विचरण करना। इस प्रकार के समावेश से वर्णन अत्यन्त प्रभावशाली और स्वाभाविक बन गया है।

३. 'कामरूप' का प्रयोग सार्थक है। साभिप्राय विशेषण होने से यहाँ परिकर अलंकार है। इससे देवों के तीन प्रकार के स्वरूप का ज्ञान होता है—सिद्धियों से युक्त देव; स्वेच्छा रूप धारण करने की शक्ति रखने वाले देव और काम-वासना से प्रताड़ित देव।

४. 'उतर-उतर' कर शब्द की पुनरुक्ति भी साभिप्राय है। इससे देवों की मन्द किन्तु अनवरत गति और संख्या का बोध होता है।

५. 'नवल' विशेषण कवियों के सारल्य और प्रेम-व्यापार में अनभिज्ञता का द्योतक है, तभी तो नभचरों को उन्हें मुस्कराना सिखाने की आवश्यकता हो है।

६. 'स्नेह हीन' श्लिष्ट प्रयोग है जिसके अर्थ हैं तेल-विहीन और प्रेम-शून्य। जिस प्रकार तेल-विहीन दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार तारे बुझ रहे हैं। दूसरा अर्थ यह है कि एक ओर जहाँ नभचर प्रणय-व्यापार कर रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर प्रणय-विमुख तारे धुँधले पड़ गए हैं। इस व्यापार से नभचरों के प्रणय-व्यापार का वातावरण और प्रभाव गहनतर बन जाता है।

७. 'विचर रहे थे स्वप्न अवनि में' लक्षणा है। इसका तात्पर्य यह है कि भू-वासी स्वप्न देख रहे थे।

८. प्रकृति का मानवीकरण, कौतूहल, जिज्ञासा आदि भावनाएँ छायावाद की प्रमुख विशेषताएँ हैं जो इन पंक्तियों में विद्यमान हैं।

निकल सृष्टि के ·····ताना बाना।

शब्दार्थ—अन्ध गर्भ = अन्धकारमय संसार। छाया-तन = छाया के समान शरीर वाले। खल = दुष्ट। निशिचर = राक्षस। कुहक = जादू। क्रोड़ = गोद। स्तब्ध = शान्त।

अर्थ—अन्धकारमय संसार के अन्तस् से निकलकर छाया-जैसे शरीर वाले छाया-हीन दुष्ट राक्षस (परम्परा है कि राक्षसों के शरीर की छाया नहीं होती) अपने जादू और टोना-माना का कुचक्र रच रहे थे। रात के परिश्रम से थकी हुई शशि-बाला का मुख शोभाहीन हो गया जिसे वह छिपाने का प्रयास कर रही थी। भौंरा कमल की गोद में (पंखुड़ियों) में बन्दी और चक्रवाक अपनी प्रियतमा चकवी के विरह दुख से दीवाना बन रहा था। समूचे विश्व की कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानशून्य थी, सारा जग शान्त था, इसलिए चेतन और जड़ वर्ग सभी प्राणी एवं वस्तुएँ एक समान हो बने हुए थे अर्थात् चेतन वर्ग भी जड़ की भाँति ही निस्तब्ध था। इसका दूसरा अर्थ यह भी है कि गहनतम अन्धकार के कारण जड़ और चेतन का कोई पार्थक्य दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था। शून्य विश्व के हृदय में केवल सोते हुए चेतन वर्ग की साँसों का ही भकार हो रहा था।

ऐसे शान्त और निस्तब्ध वातावरण में हे बहुदर्शिनि! सबसे पहले तूने ही जागरण का गीत गाया, अर्थात् सबसे पहले तू ही जगी। हे नवचारिणि! तो इस आकृति-नाश के माधुर्य ने शोभा, सुख और सुगन्ध का ताना-बाना बुन दिया; अर्थात् सर्वत्र शोभा, सुख और सुगन्धित परिलक्षित होने लगी। (प्रातः-काल का वातावरण अत्यन्त सुखद और शोभायुक्त होता है तथा नवीन खिले

पुष्पों की सुगन्ध से परिपूर्ण होता है। कवि ने कल्पना की है कि यह सब कुछ बाल विहगिनी के जागृति गान से ही प्रादुर्भूत हुआ है)।

विशेष – १. रात्रि के अवसान का यह वर्णन अत्यन्त प्रभावोत्पादक और परम्परायुक्त है। सुना जाता है कि रात्रि में विचरण करने वाले राक्षसों के शरीर तो होता है परन्तु मानव के शरीर की भाँति उनकी छाया नहीं पड़ती। इसलिए कवि ने उन्हें 'छाया-हीन' कहा है।

२. पन्त भाषा को अक्षुण्ण रखने के लिए व्याकरण की प्रायः उपेक्षा कर जाते हैं। यहाँ प्रयुक्त 'शशिबाला' इसका उदाहरण है। हिन्दी में 'शशि' पुल्लिंग माना जाता है, परन्तु यहाँ वह स्त्रीलिंग में प्रयुक्त हुआ है। अपनी लिंग सम्बन्धी मान्यता का उद्घोष पन्तजी ने 'पल्लव' के 'प्रवेश' में इन शब्दों में किया है—"लिंग का अर्थ के साथ सामंजस्य होना चाहिए, नहीं तो शब्दों का ठीक-ठीक चित्र सामने नहीं उतर ता और कविता में उनका प्रयोग करते समय कल्पना कुण्ठित-सी हो जाती है। "अंग्रेजी में Moon शशि को स्त्रीलिंग माना गया है। जे० सी० नेस्फील्ड अपने व्याकरण के लिंग-प्रकरण में लिखते हैं—

'On the other hand, states or qualities expressed by abstract nouns, and whatever is supposed to possess beauty, fertility, grace, inferiority etc. are regarded as females...The Moon is regarded as Feminine because she is an inferior luminary to her supposed brother, the Sun from whom her rays are borrowed."

नेस्फील्ड ने शशि को इसलिए स्त्रीलिंग बताया है क्योंकि उसमें अपना प्रकाश न होकर सूर्य का प्रकाश है। दूसरे शब्दों में, इसे शशि की 'हीनता' का कारण कह सकते हैं। पन्तजी का यहाँ यह प्रयोग निस्संदेह, शशिबाला की हीनता का द्योतन करने के कारण बहुत ही सूक्ष्म और पाश्चात्य प्रभाव से पूर्ण है।

३. 'कमल क्रोड में बन्दी था अलि' और 'कोक शोक से दीवाना' में कवि-प्रौढ़ोक्तियाँ हैं।

४. 'स्तब्ध जग' में विशेषण विपर्यय अलंकार है, क्योंकि जग नहीं, जग के निवासी स्तब्ध थे।

५. 'मूर्छित थीं इन्द्रियाँ ··आना-जाना' इन पंक्तियों में कवियों पाश्चात्य

का प्रभाव स्पष्ट है। वर्ड्सवर्थ ने अपनी कविता 'अपोन दी वेंस्टमिस्टर ब्रिज' में लिखा है—

> "The river glideth at his own sweet will;
> Dear God; the very houses seen asleep;
> And all that mighty heart is lying still!"

अद्भुत साम्य है इन दोनों कवियों की इन पंक्तियों में।

६. 'जड़ चेतन सब एकाकार' में अन्धकार की गहनता और विश्व की स्तब्धता का अत्यन्त भावपूर्ण चित्रण हुआ है।

निराकार तम मानो सहसा·····स्वर्गिक गाना ?

शब्दार्थ—निराकार=आकार रहित । ज्योति पुञ्ज=प्रकाश-समूह। साकार=आकार सहित । द्रुत=शीघ्र । द्रुम=वृक्ष । सुवर्ण=सुन्दर रंग वाली, सुनहली। मधु बाल=भ्रमर। स्वर्गिक=स्वर्ग का-सा, अलौकिक।

अर्थ—आकार रहित अन्धकार साकार होकर प्रकाश-समूह में इस प्रकार शीघ्रता से परिवर्तित हो गया जिस प्रकार अव्यक्त ब्रह्म जगत् के रूप में व्यक्त होकर तथा नाना रूप और नाम धारण करके व्यक्त हो जाता है (इन पंक्तियों में भारतीय दर्शन का जगदुत्पत्तिविषयक सिद्धान्त स्पष्टतः मुखरित है)। प्रकाश के आने से वृक्षों के समूह प्रसन्न होकर सिहर उठे और सोती हुई हवा भी अधीर होकर बह निकली; अर्थात् हवा के मन्द झोंके अनवरत गति से चलने लगे। पुष्पों पर पड़ी हुई ओस की बूँदें हिलीं, मानो उनके अधरों पर हँसी झलकने लगी हो। सोते हुए संसार ने अपनी पलक खोल दी, सर्वत्र सुनहली आभा फैल गई, सुगंध उड़ने लगी और भ्रमर गूंजने लगे। इस प्रकार मानो प्रथम रश्मि से चेतना-शून्य जगत् ने स्पन्दन, कम्पन और नवजीवन प्राप्त करना सीख लिया हो।

हे अनुरागमयी बाल विहंगिनि! तूने प्रथम किरण का आना कैसे पहचान लिया? और यह स्वर्ग जैसा अलौकिक गाना तुझे कहाँ से मिला?

विशेष—१. प्रथम चार पंक्तियों में भारतीय दर्शन की पुट है। भारतीय दर्शन के अनुसार जगदुत्पत्ति से पूर्व ब्रह्म अव्यक्त दशा में रहता है। सृष्टि कर के वह अपने को व्यक्त कर नाना रूप और नाम धारण कर लेता है। प्रलय-काल में वह फिर अव्यक्त ही जाता है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन गीता में इस प्रकार किया गया है—

"अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रै वाव्यक्तसंज्ञके॥

२. प्रातःकाल का वर्णन अत्यन्त सजीव है। प्रातःकालीन प्रक्रियाओं को भावना और कल्पना से आबद्ध करके काव्यमय बना दिया है; यथा द्रुम दल का पुलकित होना, कुसुमों का हँसना, सुप्त समीरण का अधीर होकर बहना आदि।

३. शब्द-चयन अत्यन्त मार्मिक है। 'बदल गया द्रुत-जगत् जाल में' का संगीत द्रुतगति से बदलने की ध्वनि से पूर्ण है।

४. प्रकृति मानव को अपूर्व प्रेरणा देती है, पन्त ने अपनी इस मान्यता का 'स्पन्दन कम्पन औ' नवजीवन सीखा जग ने अपनाना कहकर प्रतिपादन किया है।

५. 'निराकार···नाना!' और 'झलका हास···दाना' में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

६. 'स्पन्दन, कम्पन औ' नवजीवन में अनुप्रास अलंकार है।

३. ग्रंथि से

कविता-परिचय—'ग्रंथि' का प्रणयन जनवरी १९२० में हुआ था। 'उच्छ्वास' की भाँति इसमें भी कथा-भाग बहुत ही थोड़ा है। इसकी कथा केवल इतनी सी है कि एक बार नायक संध्या के समय किसी तालाब की सैर कर रहा था कि सहसा उसकी नौका डूब गई और वह बेहोश हो गया। जब उसकी चेतना लौटी तो उसने देखा कि एक सुकोमल बालिका अपनी जंघा पर उसका सिर रखे हुए अत्यन्त व्यग्र दृष्टि से उसकी ओर देख रही है। उसकी दृष्टि में प्रेम का अथाह सागर तरंगित था। नायक का आकर्षण भी उसके प्रति बढ़ा और तब तक बढ़ता ही गया जब तक उसकी आँखों के सामने ही वह किसी दूसरे की न हो गई। बस इतनी सी ही इसकी कथा है। यदि इसे कथा न कहकर कविता की पृष्ठभूमि भर कह दिया जाये तो अधिक उपयुक्त होगा। इस प्रकार 'ग्रंथि' विप्रलम्भ शृंगार की कविता है।

कुछ आलोचकों का मत है कि यह बालिका अवश्य कोई भौतिक शरीरधारी कवि की प्रेमिका रही होगी, जिसने कवि के हृदय में ऐसी ग्रन्थि डाली जो आज तक भी न खुल सकी है। आलोचकों का यह मत केवल धारणा नहीं,

बल्कि एक ठोस अनुमान है। डॉ० नगेन्द्र ने भी इसी मत की पुष्टि की है, यद्यपि कुछ झीना-सा आवरण डालकर। वे लिखते हैं—"बहुतों से सुना कि ग्रन्थि पन्त जी के अपने अनुभव पर आधृत है, उसमें उन्होंने अपनी प्रणय-कहानी लिखी है। वास्तव में इस लेख का लेखक (डॉ० साहब का अपनी ओर संकेत है) कवि के आन्तरिक जीवन के इतने निकट नहीं है कि इस विषय में कुछ निश्चयपूर्वक कह सके—और न किसी के व्यक्तिगत जीवन की चर्चा श्लाघ्य ही है। हाँ, इतना अवश्य प्रतीत होता है कि उनकी उच्छ्वास, आँसू और ग्रन्थि ये तीन कविताएँ किसी विशेष प्रेरणा-भार से दबकर लिखी हुई हैं और इनमें आत्म-जीवन सम्बन्धी कुछ स्पर्श अवश्य है।"

'ग्रंथि' का मूल्यांकन करने के लिए उस पर दो दृष्टियों से विचार करना अपेक्षित है—काव्य-रूप और कला। जहाँ तक काव्य-रूप का सम्बन्ध है, कतिपय आलोचक इसे खण्ड-काव्य मानते हैं। उनकी इस मान्यता का आधार सम्भवतः 'ग्रन्थि' में वर्णित कथा है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि 'ग्रंथि' की कथा कथा न होकर कविता की पृष्ठभूमि मात्र है। अतः इसे खण्ड-काव्य नहीं कहा जा सकता। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में—"वास्तव में ग्रंथि गीति-काव्य ही है, उसे खण्ड-काव्य कहना उसके समझने में बाधक होगा। हाँ, कहीं-कहीं चिन्तन का अत्यधिक समावेश अवश्य उसकी गीतिमयता और काव्य दोनों में व्यवधान डालता है।"

जहाँ तक कला का सम्बन्ध है, 'ग्रंथि' भाव और कला दोनों ही दृष्टियों से कवि की अपूर्व कृति है। जीवन की वास्तविक कथा होने से इसमें कवि का हृदय अपने स्वाभाविक स्वरों में बोल उठा है। यहाँ 'ग्राम्य' में जैसी बौद्धिक सहानुभूति नहीं, जहाँ चिन्तन हृदय पर अंकुश किये हुए है, अथवा हृदय के स्वरों में स्वाभाविकता का नितान्त अभाव है। यहाँ तो कवि का 'हृदय में दान-सी प्रेमिका' के अभाव में हृदय का चीत्कार है।

'ग्रन्थि' में अलंकारों की एक विचित्र छटा है। साधारण से साधारण बात भी कलात्मक अलंकारों की सहायता से व्यक्त की गई है। कहीं-कहीं तो अलंकारों का इतना बाहुल्य है कि एक प्रदर्शनी-सी दृष्टिगोचर होने लगती है। यथा—

> "निज पलक, मेरी विकलता, साथ ही
> अवनि से, उर से मृगेक्षिणि ने उठा,

एक पल, निज स्नेह श्यामल दृष्टि से
स्निग्ध कर दो दृष्टि मेरी दीप-सी।"

यहाँ सहोक्ति, यथासंख्या श्लेष, उपमा आदि का अनूठा संकर है। उपमाओं का प्रयोग केवल उपमित करने के लिए ही नहीं, बल्कि प्रसंगानुकूल भाव-व्यंजना और चमत्कार उत्पन्न करने के लिए भी किया गया है। हाँ, कहीं कहीं उपमाओं की अनावश्यक रूप से भरमार भी हो गई है जो भाव की क्षीणता और शब्दाडम्बर की द्योतक है। कदाचित् इसका कारण कवि का लज्जालु स्वभाव और संयत अभिव्यक्ति का प्रयास है। भारतीय अलंकारों के अतिरिक्त 'ग्रंथि' में पाश्चात्य अलंकारों का भी प्रचुरता से प्रयोग हुआ है। इन अलंकारों में मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय, ध्वनि-चित्रण आदि विदेशी अलंकार प्रमुख रूप से उल्लेखनीय है। 'ग्रंथि' की उक्तियाँ भी भावपूर्ण और वक्रता-समन्वित है। सारांश यह है कि 'ग्रंथि' कवि की अनुपम एवं अद्वितीय कृति है जो काव्य कला के सब ही निष्कर्षों पर बिल्कुल खरी उतरती है।

यह मधुर मधुमास···ईश से।

शब्दार्थ—मधुमास=वसन्त ऋतु। मधुप=भ्रमर। पिक=कोयल। तरुण=युवक; यहाँ भली प्रकार फलने-फूलने से तात्पर्य है। अवनि=पृथ्वी। मृदुल=कोमल। कई=अनेक, असंख्य।

अर्थ—कवि ने 'ग्रंथि' का समारम्भ प्रकृति के उद्दीपन रूप से किया है जो विरहाग्नि में अनादि काल से आहुति का कार्य करता आया है। कवि कहता है कि वह वसन्त ऋतु का था जब भौंरों के समूह पुष्प सुगंधियों से मस्त होकर इधर-उधर घूमते फिरते थे। रसाल के वृक्ष इस प्रकार हरे-भरे, पुष्पित और पल्लवित तथा रस से पूर्ण थे जिस प्रकार रसिक पिक होती है। (यहाँ कोयल से रसाल वृक्षों की उपमा अत्यन्त प्रभावपूर्ण है)। कहने का भाव यह है कि पृथ्वी के वैभव इस प्रकार निरन्तर बढ़ते जा रहे थे जिस प्रकार दिन लगातार वृद्धि को प्राप्त होता है।

वसन्त ऋतु में अनेक प्रकार के पुष्प विकसित होते हैं। इस घटना पर अपनी कल्पना का रंग चढ़ाता हुआ कवि कहता है कि ऋतुराज वसन्त का आगमन जानकर मानो पृथ्वीपति से सफल होने को असंख्य कोमल सुमनों के रूप में पृथ्वी की समस्त कोमल इच्छाएँ खिल उठी हों। (कवि की यह कल्पना अत्यन्त सूक्ष्म और भावपूर्ण है)।

विशेष - १. प्रकृति का उद्दीपन रूप में वर्णन यहाँ कृति की पृष्ठभूमि के हुआ है जो बहुत ही प्रभावपूर्ण एवं सार्थक है।

२. "रसिक पिक से सरस तरुण रसाल थे,
अवनि के सुख बढ़ रहे थे दिवस-से।"

इन पंक्तियों में उपमा अलंकार है जो प्रसंगानुकूल होने के कारण भावना में एक प्रकार का चमत्कार उत्पन्न कर देता है। अवनि की सुख-वृद्धि तथा दिवस की वृद्धि से देना बहुत ही भावपूर्ण है। डा० नगेन्द्र के शब्दों 'बसन्त ऋतु में पृथ्वी का वैभव इस प्रकार बढ़ रहा था जैसे उसके दिवस उसी उपयुक्त उपमा है।'

३. अन्तिम चार पंक्तियों में उत्प्रेक्षा अलंकार है। विकसित सुमनों पर की कोमल कामनाओं का अध्यारोप करना अत्यन्त भावपूर्ण एवं काव्य- ।

४. अतुकान्त छन्द में होते हुए भी इन पंक्तियों में अबाध प्रवाह और संगीतमयता है।

स्तमित निज कनक……हमारी सो गई।

शब्दार्थ—अस्तमित=अस्तप्राय:, डूबने वाला। कनक=स्वर्ण। कृपण=अरुण=लाल। आभा=ज्योति। विपुल=अत्यधिक। तरणि=सूर्य, तरल=चपल। नि:स्वन=स्तब्ध, शान्त। तन्मय हो गया=डूब गया। चंचल। अथिर=अस्थिर, नाशवान्। उत्पात=भटकाव। लहरें=भनों से अभिप्राय है।

—इन पंक्तियों में कवि अपनी नौका के डूबने की घटना का वर्णन हुए कवि कहता है कि वह सन्ध्या का समय था और अस्त होने वाला सूर्य पर पहुँचकर अपनी सुनहली किरणों के धन को इस प्रकार बटोर जैसे कोई कंजूस अपनी सम्पत्ति को समेटता है। (डूबते हुए सूर्य का हो जाता है, अतः कवि कहता है) सूर्य का वह पतन लाल प्रकाश से था और इस पतन का कारण था—रक्तवर्णी की विपुल वासनाएँ र वासनाएँ मनुष्य को अधोगति की ओर ले जाती हैं उसी प्रकार की विपुल वासना ही सूर्य के पतन का कारण हुई।

ऐसे समय में, जब सूर्य डूब रहा था, उसी के साथ चंचल लहरों में हमार नौका भी तालाब में डूब गई। सन्ध्या के समान धूमिल और स्तब्ध गहरे ज में हमारा विश्व भी डूब गया, हमारी सारी इच्छायें, आकांक्षाएँ, स्वप्न विली हो गए।

लहरों के संघर्षण से जिन बुलबुलों का जन्म हो रहा था और जो बुलबु उठ-मिट कर पहले चपल लहरों के साथ जीवन की अस्थिरता का राग गा र थे; अर्थात् जीवन की क्षणभंगुरता का संकेत दे रहे थे, थोड़ी देर में ही उ लहरों के भारी उठाव से हमारे हृदय की धड़कनें सो गईं; अर्थात् हम चेतना शून्य हो गये।

विशेष—१. "कवि ने वास्तव में अपने परिचित प्राकृतिक विधानों से अप्रस्तुत ग्रहण किया है, अतः वह सूक्ष्म को स्थूल रूप देने में बड़ा सफल हुआ है, और उसके अलंकार प्रायः चित्रमय हो गए हैं।" डा० नगेन्द्र

२. प्रकृति का वर्णन उपदेशात्मक रूप में हुआ है। यथा—

"अरुण अम्बर में रंगा था वह पतंग
रजकणों सी वासनाओं से विपुल।"

× × ×

"बुदबुदे जिन चपल लहरों में प्रथम
गा रहे थे राग जीवन का अचिर।"

3. 'तरणि' शब्द में यमक अलंकार है। 'तरणि के ही संग तरल तरंग में' में सहोक्ति और अनुप्रास अलंकार है।

४. "सान्ध्य निःस्वन-से गहन जल गर्भ में
था हमारा विश्व तन्मय हो गया।"

ये पंक्तियाँ अत्यन्त भावपूर्ण हैं। डा० नगेन्द्र ने इनका मूल्यांकन इस प्रकार किया है—

(अ) 'गहन-जल-गर्भ' की रूप-रेखा में सान्ध्य निस्वन की उपमा ने रंग भर दिया है और उसकी गहनता मुखरित हो उठी है, साथ ही यह चित्र वातावरण में भी 'फिट' हुआ है।'

(आ) "...अलङ्कृत प्रयोगों के अतिरिक्त ग्रन्थि में ऐसी बहुत-सी उक्तियाँ भरी पड़ी हैं जो किसी आलंकारिक चमत्कार पर आश्रित नहीं हैं, वरन् उनमें

: भावुकता समन्वित वकता, एक ध्वनि मिलती है जो तुरन्त ही हृदय को
र्श करती है।······विश्व के तन्मय होने में एक गम्भीर भाव है जो जल में
ने की अवस्था का भी चित्र उपस्थित करता है। 'हमारा विश्व' कहने से
में करुणा की पुकार और अधिक तीव्र हो गई है।"

८. बुदबुदों से जीवन की क्षणभंगुरता की अभिव्यक्ति परम्परागत प्रयोग
कबीर ने लिखा है—

'पानी केरा बुदबुदा अस मानुस की जात।'

जब विमूर्च्छित नींद से ······चिन्तित दृष्टि से

शब्दार्थ—पीयूष=अमृत। समव्यथित=समान दुःखी। निःश्वास=
ञ्चित् आशा का सूचक सांस। व्यग्र=आतुर। अचल=स्थिर। सदय=
क। भीरु=भय।

अर्थ—नौका के डूबने पर कवि मूर्छित हो गया था। जब उसकी चेतना
ी तो उसने एक अद्भुत परिस्थिति का अवलोकन किया। उस परिस्थिति
र्णन करता हुआ कवि कहता है कि जब मैं मूर्च्छा की नींद से जगा (मैं
जगा, इस बात का मुझे पता नहीं) तो एक अमृत के समान प्राणदायक,
र, समान दुःखी तथा यत्किंचित् आशा से भरा हुआ सांस मुझे फिर से
र दे रहा था।

एक मधुर बाला, जिसका सौंदर्य शशि की कलाओं के समान था, अपनी
ी जंघा पर मेरा सिर रखकर मेरे म्लान-मुख को स्थिर, भावुक, भययुक्त,
और चिन्तित दृष्टि से देख रही थी।

विशेष—१. पन्त शब्द-चयन में बड़े सतर्क रहते हैं। प्रस्तुत पंक्तियों में
'निःश्वास' शब्द इसी सतर्कता का द्योतक है। साँसों के दो भेद किए
—उच्छ्वास और निःश्वास। उच्छ्वास एकदम निराशा-सूचक है और
स में यत्किंचित् आशा का अंकुर रहता है। महादेवी वर्मा ने इन शब्दों
हीं अर्थों में प्रयुक्त किया है—

उच्छ्वास बताते यह जाता
ःश्वास बताते वह आता।"

. 'जाँघ' शब्द में ग्राम्यत्व दोष है।

३. सदय, भीरु, अधीर, चिंतित दृष्टि से, इस पंक्ति में भावों का बृहद् प्रवाह और बाला की चेष्टाओं की सुन्दर संयोजना है।

४. 'पीयूष-सा' और 'शशिकला-सी' में उपमा अलंकार है।

(१०) इन्दु पर उस इन्दु मुख पर'''सुछवि के काव्य में।

शब्दार्थ—इन्दु=चन्द्रमा। इन्दु-मुख=चन्द्रमा के समान शोभा-सम्पन्न मुख। रक्तिम=लाल। पूर्वथा=पूर्व दिशा में था। अपूर्व=अद्भुत, अद्वितीय बाल रजनी=सन्ध्या। अलक=लट। वदन=मुख। प्रमुखता=प्रधानता। सुछवि=सौन्दर्य।

अर्थ—मूर्च्छा के टूट जाने पर कवि ने उस व्यग्र एवं आतुर बाला के मुख को देखा। इन पंक्तियों में कवि बाला के मुख-सौंदर्य का वर्णन करते हुए कहता है कि आकाश में उगते हुए चन्द्रमा पर और चन्द्रमा के समान शोभायुक्त बाला के मुख पर मेरी दृष्टि एक साथ ही पड़ी। आकाश का चन्द्रमा अपने उदय के कारण लाल था और बाला का मुख लज्जा के कारण लाल हो गया था। आकाश का चाँद पूर्व दिशा में उदित हो रहा था, किन्तु उस बाला का मुख तो अपूर्व ही था उसकी किसी से समता नहीं की जा सकती।

आकाश के चन्द्रमा के चारों ओर सन्ध्या के तम की रेखायें खिंची हुई थीं और उस बाला के मुख के चारों ओर उसकी लटें थीं। वायु की गति रुकने के कारण जब लट स्थिर हो जाती तो ऐसा ज्ञात होता मानो उसके मुख की प्रधानता पर ध्यान आकर्षित करने के लिए सौन्दर्य के काव्य में उसके मुख को रेखांकित कर दिया गया हो।

विशेष—१. पन्त जी की एक विशेषता यह है कि वे थोड़े से शब्दों में बहुत-कुछ कह जाते हैं। 'इन्दु पर' कहने से उन्होंने अपनी मूर्च्छा के समय का संकेत दे दिया है। कवि की मोहा तब टूटी थी जब सूर्य अस्त हो रहा था और उसकी मूर्च्छा तब टूटी जब चन्द्रमा उदय हो रहा था। इसका तात्पर्य यह है कि कवि काफी देर तक मूर्छित रहा।

२. प्रथम चार पंक्तियों में अनुप्रास, यमकालंकार और पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार हैं।

३. "अचल रेखांकित कभी थी कर रही
प्रमुखता मुख की सुछवि के काव्य में!"

इन पंक्तियों में अंग्रेजी ढंग का प्रयोग बड़ा ही चमत्कारिक और भाव-पूर्ण है।

एक पल...सीप से।

शब्दार्थ—एक पल=बहुत थोड़ी देर, पलक भर। चपलता=चंचलता। विकंपित=कांपती हुई। पुलक=सिहरन। प्रणय=प्रेम। सुरा=शराब। सस्मित=हँसीयुक्त।

अर्थ—कवि उस बाला के सौंदर्य का वर्णन करता हुआ कहता है कि मेरे और मेरी प्रिया के दृग-पलक बहुत थोड़ी देर ऊपर उठे, अर्थात् पलक भर तक ही हम एक दूसरे को देख सके, फिर पलकें अपनी स्वाभाविक गति से नीचे झुक गई। क्योंकि दोनों ने एक दूसरे को देखा, अतः चंचलता के कारण शरीर में एक कांपती हुई सिहरन दौड़ गई, मानो एक सिहरन ने हम दोनों के प्रेम-व्यापार को मजबूत कर दिया था; अर्थात् इस सिहरन से हम दोनों को यह पता चल गया कि हम परस्पर प्यार करते हैं।

इस व्यापार से बाला के कपोलों पर लज्जा की लालिमा दौड़ गई जिसका रूप और प्रभाव मादक शराब की भाँति था। यह लालिमा नवीन गुलाब के पुष्पों जैसी लाल और मोहक थी। इस प्रकार अधखुले एवं हँसते हुए कपोलों के गड्ढों से मानों सौंदर्य की बाढ़-सी छलक गई, अर्थात् संयत हास्य से बाला के मुख पर जो प्रतिक्रिया हुई, उससे उसके सौंदर्य में और भी चार-चाँद लग गए, ठीक उसी प्रकार जैसे सीप से ज्योति की आभा प्रस्फुटित हो जाती है।

विशेष—१. इन पंक्तियों में नारी की सहज स्वाभाविक लज्जा का और मुख-सौन्दर्य का अत्यन्त सयत और प्रभावपूर्ण भाषा में वर्णन हुआ है।

२. कपोलों का अथवा ठोढ़ी का गड्ढा नारी के सौन्दर्य का विशेष आकर्षण माना है। बिहारी के निम्नलिखित दोहों में ठोढ़ी के गड्ढे का वर्णन देखिए—

> अ—"डारे ठोढ़ी गाड़ गहि, नैन बटोही मारि।
> चिलक चौंधि में रूप ठग हाँसी फाँसी डारि॥"
>
> आ—"लो ललि लो मन को लह्यो सो गति कहि न जाति।
> ठोड़ी गाड़ गड़यौ तऊ, उड़यौ रहै दिन राति।"
>
> इ—"कुच गि.रि चढ़ि अति थकित ह्वै चली डीठि मुख चाड़।
> फिरि न टरी परियै रही, परी चिबुक की गाड़।"

३. प्रथम चार पंक्तियों में सूक्ष्म भावुकता के साथ कल्पना का मधुर संयोग है। इनमें उत्प्रेक्षा अलंकार है।

४. 'गुलाब-से', 'बाड़-सी', 'सीप-से' में उपमा अलंकार है।

५. 'गालों' में ग्राम्यत्व दोष है।

इन गाड़ों में · छिपाना चाहती !

शब्दार्थ—आवर्त्त = भँवर। सुभग = सुन्दर। जड़ पलों की पृष्ठना = विरह की दुःखमय घड़ियाँ।

अर्थ—जब बाला मुस्कराई तो उसके कपोलों में गड्ढे हो गए (जिससे यह प्रतीत होता है कि बाला का स्वास्थ्य सुन्दर था) उन गड्ढों के प्रभाव का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि जिस प्रकार भँवर में पड़ी हुई नाव इधर-उधर चक्कर काटने पर भी भँवर मे ही पड़ी रहती है, उसी प्रकार इन गड्ढों में-रूप की भँवर मे—इधर-उधर चक्कर काटकर भी और तरुण सौंदर्य के भार से दबकर किसके नेत्र नही डूबे ? अर्थात् सबके डूब जाते हैं। इन पंक्तियों मे कवि की सूक्ष्म दृष्टि अवलोकनीय है। जिस प्रकार नौका को डुबाने का कारण भार होता है, उसी प्रकार नेत्रों को डुबाने के लिए सौंदर्य-भार का वर्णन किया गया है।)

यों तो गुलाब का पुष्प सदैव अपनी सहज-सुषमा के कारण सुन्दर लगता है, किन्तु उस पुष्प का तो कहना ही क्या जो ऊषा के सुनहले वातावरण में प्रफुल्लित हुआ हो ! सेब की सरसता और सुकुमारता का कारण उनकी लालिमा है। (इसी प्रकार तारुण्य वैसे ही आकर्षक होता है, किन्तु जब उस पर लज्जा की लालिमा दौड़ जाती है तो वह और भी द्विगुणित हो जाता है)।

जो विरहिणी नारी अपने पद-नखों से पृथ्वी को सुरच कर विरह की अवधि के व्यवधान से परिचित होकर समय के भार को घटाती थी, वह मानो अपने विरह की दुःखमयी घड़ियों को छिपाना चाहती थी।

विशेष—१. इन पंक्तियों में गड्ढों का वर्णन परम्परागत है। उदाहरणार्थ, बिहारी के उपर्युक्त दोहों को देखिए।

२. कवि की सूक्ष्म कल्पना का अच्छा प्रस्फुटन हुआ है।

३. पद-नखों से पृथ्वी को सुरचकर विरह के दिन बिताना भी परम्परागत

ंत है। विद्यापति की विरहिणी राधा के नाखून तो अवधि लिखते-लिखते ट भी हो गए थे—

"सखि मोर पिया।
अबहु न आओल कुलिस हिया।
नखर खोआओलुँ दिवसि लिखि-लिखि।
नयन अँधा ओलुं पिया पथ देखि।"

४. अन्तिम दो पंक्तियों में उत्प्रेक्षा अलकार है।

इन्दु की छवि में······दीप सी।

शब्दार्थ—तिमिर=अन्धकार। अनिल=वायु। सलिल=नदी। वीचि=र। मृगेक्षिणी=हिरणी जैसे नेत्रों वाली। स्नेह=प्रेम तेल। स्निग्ध=वान् तरल।

अर्थ—इन पंक्तियों में कवि ने प्रकृति का प्रतिबिम्ब भाव का चित्रण किया मिलन का अवसर है, इसलिए कवि का मानस मिलन-सुख से प्रफुल्लित है, : उसे समूची प्रकृति अपने मानस की भाँति ही प्रफुल्ल दिखाई देती है। मा की शोभा में, अन्धकार के हृदय में वायु की ध्वनि में, नदी की लहर पुष्प की सहज मुस्कान में और लता के अधर में एक उत्सुकता विचरती हुई ई दे रही थी, (ठीक वैसी ही जैसी कवि के अपने हृदय में अपने प्रिया से कहने-सुनने की थी।)

कवि अपनी इस उत्सुकता में डूबा हुआ ही था कि हरणी जैसी सुन्दर नेत्रों । उस बाला ने अपनी आँखें ऊपर उठाई। इससे कवि की व्यग्रता समाप्त ई। उसी का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि अपनी पृथ्वी से उठती लकों के साथ उस मृगेक्षिणी ने मेरे हृदय से मेरी व्याकुलता को भी समाप्त दिया और पलभर मुझे देखकर ही अपनी प्रेमपूर्ण सजल आँखों से उसने दृष्टि को इस प्रकार प्राणवान् बना दिया जिस प्रकार तेल मिलने से दीपक र से तरलता आ जाती है।

विशेष—१. प्रथम चार पंक्तियों में प्रकृति का वर्णन विम्बप्रतिविम्ब भाव ा है। साहित्य के लिए प्रकृति का यह रूप नया नहीं है। अनादिकाल से स प्रकार का प्रकृति-चित्रण होता आया है। उदाहरणार्थ, किसी भी शृंगार काव्य को लिया जा सकता है।

२. अन्तिम चार पंक्तियाँ पन्त काव्य की अत्यन्त प्रसिद्ध पंक्तियों में से हैं। भाव और कला की दृष्टि से ये अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इनमें 'सहोक्ति, यथासंख्य, श्लेष, उपमा' आदि का अनूठा संकर है; साथ ही प्रत्येक अलंकार एक पृथक् भाव का द्योतक है, उसका स्वतन्त्र प्रयोग नहीं हुआ और अन्तिम उपमा 'दीपसी' में तो कवि ने कमाल कर दिया है। —डॉ॰ नगेन्द्र

प्रथम केवल मोतियों······साथ ला ?

शब्दार्थ—वाचक = पाठक। समुत्सुक = उत्सुक। कृपण = कंजूस, संकीर्ण। वीथि = गली। सलिल = जल।

अर्थ—कवि के ऊपर प्रेम-व्यापार की क्या प्रतिक्रिया हुई, इसका वर्णन करते हुए वह कहता है कि पहले जो हंस केवल मोतियों के लिए तरसता था, अर्थात् जिसे केवल मोती पाने की इच्छा थी, वही अब अगाध जल में कमलिनी के साथ सुखद क्रीड़ा की लालसा से हर समय विकल हो रहा था। कहने का भाव यह है कि इस प्रणय-सम्बन्ध से पूर्व कवि के हृदय में प्रेम का कोई विशेष महत्त्व नहीं था, वह उसे केवल एक प्रकार की सहज प्रवृत्ति समझता था, किन्तु जब उसे प्रणय व्यापार का पता चला तो वह इसकी सत्ता से अवगत ही नहीं हुआ, बल्कि उसके जीवन में विरहाग्नि भड़क उठी और वह और भी अधिक प्रणय-सागर में निमग्न होने को आतुर हो उठा।

अपनी इस स्थिति पर पहुँचकर, सम्भवतः अपने प्रणय-व्यापार की सुरक्षा-हेतु, कवि अपने पाठकों से ही प्रश्न करता है कि हे रसिक पाठक ! जो व्यक्ति अभिलाषाओं की चंचलता लेकर, उत्सुक और व्याकुल पगों से प्रेम की संकीर्ण गली में प्रवेश करता है, वह न तो सकुशल लौट ही सकता है और न वह अपने हृदय को ही सम्भाल सकता है। यदि कोई ऐसा व्यक्ति है जो प्रेम करके भी दुखी न हुआ हो और जिसने अपना हृदय न खोया हो तो मुझे बताओ। कवि के कहने का भाव यह है कि जो भी प्रेम करता है, उसे विरहाग्नि में अवश्य जलना पड़ता है, यह जग-जीवन का शाश्वत सत्य है।

विशेष—१. अपनी विरहावस्था का वर्णन कवि ने बड़े ही अनूठे ढंग से किया है। इस का उदाहरण रखने से यह वर्णन और भी प्रभावशाली बन गया है।

२. 'रसिक वाचक' सम्बोधन बहुत ही उचित और वातावरण के अनुकूल है।

३. घनानन्द ने प्रेम-व्यापारको 'तलवार की धार पै धावनो' कहा है। ऐसा ही कुछ भाव अन्तिम चार पंक्तियों का है।

४. कवि की प्रश्नवाचक पद्धति के प्रयोग ने भावों के प्रभाव को द्विगुणित कर दिया है। साथ ही इससे कवि के मन की विवशता भी प्रकट होती है।

४. पर्वत प्रदेश में पावस

कविता-परिचय—यह कविता १६२१ में रची गई थी। छायावाद में आलम्बन रूप में प्रकृति का वर्णन अपेक्षाकृत कम हुआ है और पन्त के काव्य में तो वह और भी कम है। इस कविता का प्रकृति-वर्णन (अंतिम चार पंक्तियों को छोड़कर) आलम्बन रूप में ही हुआ है। कला की दृष्टि से यह कविता पंत की सर्वोत्कृष्ट कविताओं में से है। डॉ० नगेन्द्र ने पंत की कला की कोमलता और सूक्ष्मता की ओर संकेत करते हुए लिखा है—"इनकी रंगीन कला इतनी कोमल है कि विश्लेषण करते ही वह तितली के पंखों की तरह बिखर जाती है और समालोचक को अपनी कृति पर पश्चात्ताप करने की ही अधिक सम्भावना रहती है।" इस कविता के सम्बन्ध में भी यह मत उपयुक्त ही प्रतीत होता है।

चित्रण-शक्ति और वर्ण परिज्ञान (sense of colour) पंत की कला की दो प्रमुख विशेषतायें मानी जाती हैं। इस कविता में इन दोनों का पूर्णतया परिपाक परिलक्षित होता है। शब्दों की ध्वनि से इसमें सर्वत्र भाव-चित्र एवं रूप-चित्र प्रस्तुत किए गए हैं। उदाहरणार्थ, प्रकृति की पल-पल परिवर्तनशीलता का ध्वनि के आधार पर कितना रूपमय चित्रण इन शब्दों से हुआ है—

"पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश!"

यहीं नहीं, पर्वत की विशालता, कठोरता एवं असीमता का आभास 'र' की ध्वनि से प्रस्तुत किया गया है—

"मेखलाकार पर्वत अपार
× ×
नीचे जल में निज महाकार,"

इसी प्रकार निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं जिनमें ध्वनि और भाव का अपूर्व साम्य है—

"गिरि का गौरव गाकर झर्-झर्।"
× × ×

"उड़ गया अचानक लो भूधर
फड़का अपार वारिद के पर !"

अतः यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि इस कविता में पन्त की कला का प्रस्फुटन अत्यन्त प्रौढ़ एवं सजीव रीति से हुआ है। कल्पना और भावों का अभूतपूर्व संयोग है। साधारण-सी घटना कवि की काव्यमयता से प्रथित होकर असाधारण बन गई है।

इस कविता का अवसान व्यक्तिगत संस्पर्शों में हुआ है, ठीक उसी तरह जैसे प्रकृति कवि वर्ड्सवर्थ की प्रसिद्ध कविता 'टिन्टर्न एब्बी' (Tintern Abbey) का हुआ है। प्रकृति का विशद, सजीव और सूक्ष्म चित्रण करते हुए वर्ड्सवर्थ अन्त में कह उठते हैं—

" ·····Nor wilt thou then forget
That after many wanderings, many years
Of absence, these steep woods and lofty cliffs,
And this green patoral landscape, were to me
More dear, both for themselves and for thy sake."

अतः यह सम्भावना निर्मूल नहीं कि इस कविता पर वर्ड्सवर्थ की उपर्युक्त कविता का प्रभाव है।

३ ✓ पावस ऋतु थी ·····प्रकृति वेश !

शब्दार्थ—पावस ऋतु=वर्षा ऋतु। परिवर्तित=बदला हुआ। वेश=रूप।

अर्थ—पर्वत प्रदेश पर वर्षा ऋतु के प्रभाव का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि पर्वत प्रदेश पर वर्षा ऋतु आई जिससे प्रकृति हर क्षण नये-नये रूप बदलने लगी।

विशेष—१. पन्त जी ध्वनि-चित्रण और रूप-चित्रण के सिद्धहस्त कवि हैं। वर्षा में प्रकृति का रूप स्थिर नहीं होता। कभी धूप निकलती है तो कभी मूसलाधार वर्षा होने लगती है। कभी बादल उमड़ते हैं तो कभी आकाश स्वच्छ हो जाता है। प्रकृति की इसी परिवर्तनशीलता की ध्वनि द्वितीय पंक्ति—'पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश' से निकलती है। ध्वनि के अनुरूप ही भाषा प्रवाह भी है।

२. पल-पल में वीप्सा अलंकार है।

मेखलाकार पर्वत ·····है विशाल !

शब्दार्थ—मेखलाकार=गोलाकार । सहस्र=हजार, यहाँ असंख्य में
ं है। दृग-सुमन=पुष्प रूपी नयन। अवलोक रहा है=देख रहा है।
ार=विशाल आकृति। दर्पण=शीशा।

अर्थ – असीम गोलाकार पर्वत अपने असंख्य पुष्प रूपी नयनों को फाड़कर
नीचे एकत्रित जल-राशि में अपनी विशाल आकृति को देख रहा था—
ल-राशि तालाब के रूप में उसके नीचे विशाल शीशे की भाँति फैली
ी।

कहने का भाव यह है कि वर्षा-ऋतु में पर्वत पर विभिन्न प्रकार के पुष्प
उठते हैं और उसकी तलहटी में विशाल जल-राशि इकट्ठी हो जाती है।
का प्रतिबिम्ब उस जल-राशि में पड़ रहा था। इसी की उत्प्रेक्षा करता
वि कहता है मानो यह पर्वत अपने विशाल आकार को सुमन-दृगों से उस
। जल-रूपी दर्पण में देख रहा है।

विशेष—१. पन्त का शब्द-चयन इतना सार्थक है कि ध्वनि के माध्यम से
त्रण हो गया है। 'मेखलाकार', 'अपार', 'महाकार' शब्दों में 'आ' का
पर्वत की विशालता का चित्र अनायास ही आँखों के समक्ष प्रस्तुत कर
। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में—'पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश' में यदि
ङ्गों की आकृति देखी बादलों में घूमते हुए चित्रों की भाँति प्राकृतिक
के परिवर्तन का आभास देती है तो 'मेखलाकार पर्वत अपार' का 'आ'
विस्तार का चित्र सम्मुख उपस्थित करता है।

'फाड़' शब्द का प्रयोग बहुत ही भावमूलक है। इस शब्द से जिस ध्वनि
त्व का बोध होता है वह बोध 'अनिमेष' अथवा 'निर्निमेष' जैसे शब्दों
होता।

प्रकृति का मानवीकरण छायावाद की प्रमुखतम विशेषता है। पन्तजी
प्रकृति का मानवीकरण किया है।

कल्पना अत्यन्त सजीव एवं प्रभावपूर्ण है।

गिरि का गौरव······निर्झर !

शब्दार्थ—गौरव=महिमा। उत्तेजित होकर=प्रेरित करके। निर्झर=

अर्थ—वर्षा ऋतु में पर्वतों से झरने बह निकलते हैं। उन्हीं का काव्यमय वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि बहते हुए झरने झर्-झर् की आवाज कर रहे हैं, मानो पर्वत की महिमा का गान कर रहे हों। उन झरनों के प्रवाह को देखकर नस-नस में मदभरी उत्तेजना उत्पन्न हो जाती है; अर्थात् एक प्रकार का सौंदर्य का नशा-सा छा जाता है। वे झरने बहते हुए ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे मोतियों की कोई सुन्दर लड़ी हो। इस प्रकार वे झाग भरे झरते बह रहे हैं।

विशेष—१. पन्तजी अपने ध्वन्यात्मक चित्रण के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। यहाँ प्रयुक्त 'झर्-झर्' शब्द इसी ध्वन्यात्मकता का बोध कराते हैं।

२. निर्झरों को मोतियों की लड़ियों से उपमित करना निर्झर के प्रवाह का अत्यन्त सजीव रूप चित्रण कर देना है।

३. 'झाग भरे' शब्द में निर्झरों की अनवरत प्रवाहशीलता सन्निहित है।

४. 'मोती की लड़ियों से' में उपमा अलंकार है।

'(८) गिरिवर के उर से ······चिन्ता पर !

शब्दार्थ गिरिवर=पर्वतराज। उर=हृदय। उच्चाकांक्षाओं से=बड़ी-बड़ी अभिलाषाओं के समान। नीरव=शान्त। अनिमेष=एकटक। अटल=स्थिर होकर।

अर्थ—पर्वत पर अनेक वृक्ष उगे हुए हैं। उन्हीं का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि जिस प्रकार मनुष्य के हृदय में विविध भाँति की बड़ी-बड़ी अभिलाषाएँ उठा करती हैं, उसी प्रकार उन अभिलाषाओं के समान पर्वतराज के हृदय पर तरुवर उगे हुए ये जो एकटक दृष्टि से, स्थिर होकर शान्त आकाश को देख रहे थे, किन्तु कुछ-कुछ चिन्ताग्रस्त से भी वे दिखाई पड़ते थे।

विशेष – १. तरुवर के लिए 'उगना' न कहकर 'उठना' कहा गया है जो अत्यन्त मार्मिक है और 'उच्चाकांक्षाओं' से उपमित करके भाव को द्विगुणित कर दिया गया है। 'झाँकना' कहकर तो इस भाव में और भी चार चाँद लगा दिए हैं। कुछ टीकाकारों ने 'झाँकना' शब्द का प्रयोग अनुपयुक्त बताया है, किन्तु यह उचित नहीं है।

२. 'अनिमेष, अटल, कुछ चिन्ता पर' इस पंक्ति में विविध भावों का अनूठा सामञ्जस्य है।

३. प्रथम दो पंक्तियों में उपमा अलंकार है।

[7] उड़ गया अचानक······अम्बर !

शब्दार्थ—भूधर=पर्वत। वारिद=बादल। रव=आवाज। अम्बर=आकाश।

अर्थ—वर्षा ऋतु में बादल इधर-उधर दौड़ते हैं। कभी ऊपर जाते हैं और कभी नीचे आते हैं। इसी का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि जैसे ही बादल पर्वत से ऊपर गया, ऐसा प्रतीत हुआ, मानो बादल के अपार पंखों को फड़फड़ाता हुआ (गर्जन करता हुआ) पर्वत ही ऊपर उड़ गया हो। फिर बादल नीचे आते हैं जिससे सारा वातावरण धूमिल हो जाता है और कुछ भी दिखाई नहीं देता। इसी का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि ज्योंही बादल फिर नीचे आये तो ऐसा मालूम हुआ कि सारा आकाश ही पर्वत पर टूट गिर गया हो जिससे वातावरण इतना धुँधला हो गया कि झरने भी अदृश्य हो गए, केवल उनकी आवाज ही शेष रह गई है; अर्थात् केवल आवाज ही सुनाई दे रही है, वे दिखाई नहीं देते।

विशेष—१. प्रथम दो पंक्तियों की लय ठीक किसी पक्षी के अचानक उड़ जाने से साम्य रखती है।

२. द्वितीय पंक्ति में 'वारिद' के स्थान पर 'पारद' भी पाठान्तर है। इससे भी उपर्युक्त भाव ही निकलता है। आग में तपाया जाने पर पारा (पारद) अनजाने ही उड़ जाता है। इसी प्रकार बादल भी आकाश में उड़ गये।

३. कल्पना और भावों का अद्भुत संयोग है।

[7] धँस गए धरा······बादल धर।

शब्दार्थ—सभय=डरकर। शाल=शाल के वृक्ष। जलद-यान=बादल रूपी विमान। इन्द्र=वर्षाऋतु का देवता। इन्द्रजाल=जादू।

अर्थ—बादलों के नीचे आ जाने से ऐसा प्रतीत हुआ मानो अम्बर ही भू पर टूटकर गिर गया हो। इससे सारा वातावरण कुहराच्छन्न हो गया। सभी दृश्यमान पदार्थ अदृश्य हो गये। प्रकृति और धरा के इस संघर्ष से डर कर मानो शाल के वृक्ष पृथ्वी में छिप गए (क्योंकि वे अब दिखाई नहीं देते) बादलों के फैले हुए टुकड़े ऐसे प्रतीत होते हैं मानो धुआँ उठ रहा हो और सारा तालाब जल गया हो। इन प्रक्रियाओं को देखकर (आग लगाना और पानी बरसाना) तो ऐसा ज्ञात होता है मानो वर्षाऋतु का देवता इन्द्र बादल रूपी विमान

में बैठकर अपने जादू की करामात दिखा रहा हो'। (जादू की करामात का अर्थ यह है कि जो क्रिया वास्तविक न होकर वास्तविक दीख पड़े अथवा जान पड़े। बादलों का भय से पृथ्वी में धँसना, तालाब का जलना आदि ऐसी ही क्रियायें हैं, जो वस्तुतः नहीं हैं, किंतु भासित होती हैं।) सरला उस पर्वत को बादलों का घर कहती थी।

विशेष—१. कवि की कल्पना ने वर्णन में अपूर्व प्रभाव उत्पन्न कर दिया है।

२. 'टूट पड़ा' मुहावरे का प्रयोग अत्यन्त सार्थक और प्रभावोत्पादक है।

३. 'वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल-घर' यह पंक्ति अत्यन्त सरल एवं भावपूर्ण है। डॉ॰ नगेन्द्र ने इसका मूल्यांकन इन शब्दों में किया है—"पन्तजी अलंकारों की सहायता के बिना भी कहीं-कहीं बड़ी भव्य भाव-व्यंजना करने में समर्थ होते हैं—"वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल-घर' में बालिका के अबोध भोलेपन की कितनी सूक्ष्म-व्यंजना की गई है।"

इस तरह ... मनोरम मित्र थी!

शब्दार्थ—चितेरे=चित्रकार। चमत्कृत=चमत्कार उत्पन्न करने वाली। शैशव=बचपन। सुधि=स्मृति। मनोरम=सुन्दर।

अर्थ—इन पंक्तियों में कवि अपने हृदय पर पड़े प्रकृति के प्रभाव का वर्णन करता है। वह कहता है कि इस तरह बाह्य प्रकृति ने मेरे चित्रकार हृदय को बहुत चमत्कृत किया और उसने उसी चमत्कार के वशीभूत होकर ये चित्र बना डाले। इन चित्रों का कारण था कवि का प्रकृति के प्रति लगाव, क्योंकि इनमें उस बालिका की—जो कवि की सुन्दर मित्र थी—सरल बचपन की सुख देने वाली स्मृति की भाँति स्मृति लिपटी हुई थी। (बचपन की स्मृतियाँ बड़ी सुखद होती हैं।)

विशेष—१. इन पंक्तियों का प्रकृति-वर्णन उद्दीपन के रूप में किया गया है।

२. 'सरल शैशव की सुखद सुधि सी' में उपमा अलंकार है।

३. लिंग भेद पन्तजी भावों के अनुरूप ही ग्रहण करते हैं। अपनी इस मान्यता का कारण उन्होंने 'पल्लव-प्रवेश' में स्पष्ट कर दिया है। फलतः यहाँ 'मित्र' का प्रयोग पुल्लिंग में न करके स्त्रीलिंग में किया गया है।

४. अंग्रेजी के प्रकृति कवि वर्ड्सवर्थ ने जिस प्रकार अपनी प्रसिद्ध कविता 'टिन्टर्न एबी' (Tintern Abbey) का वर्णन व्यक्तित्व सापेक्ष (Personal

Touches) में किया है, ठीक इसी प्रकार पन्तजी ने भी इस कविता का किया है। अतः इस कविता पर वर्ड्सवर्थ की कविता का प्रभाव परिलक्षित होता है।

५. आँसू की बालिका

कविता-परिचय—पन्तजी की तीन विरह कृतियाँ हैं—ग्रंथि, उच्छ्वास और आँसू। प्रस्तुत कविता 'आँसू' का ही एक अंश है। आँसू' की रचना १९२२ में की गई थी, तब तक कवि ग्रंथि और उच्छ्वास का प्रणयन कर चुका था। फलतः कवि के हृदय की अनुभूतियाँ और भी सजग और उन्मुक्त हो गई। वह अपने हृदय की यथार्थ कसक को लेकर और अपने चिर संजोए संयम के बन्धनों को काफी शिथिल करके बच्चों की तरह फूट पड़ा—

> 'बालकों-सा ही तो मैं हाय !
> याद कर रोता हूँ अनजान !"

इस कविता में जहाँ एक ओर पन्तजी का नारी-विषयक पावनतम दृष्टि-कोण अभिव्यक्त है, वहाँ दूसरी ओर प्रेम-विषयक मान्यताओं का भी उद्घाटन हुआ है। बालिका के रूप-वर्णन में कवि ने अत्यन्त संयम एवं उदात्त भावना से काम लिया है; फिर भी कवि का हृदय 'विधुर उर के मृदु भावों से' स्पष्ट ही चीत्कार कर उठा है। उसकी कसक कवि के चिर-संजोये संयम की परिधि को तोड़कर अपने सहज स्वाभाविक प्रवाह में बही है। डा० नगेन्द्र के शब्दों में—'आँसू' कविता में कवि का गीला गान है। वास्तव में जिन बातों को संसार ने पीड़ामय और दुखद समझ रखा है—उनमें कवि को एक विशेष माधुर्य का दर्शन होता है।" यह दर्शन केवल भावों की दिशा बदलने के लिए ही है, इसमें सन्देह नहीं। 'पल्लव' का प्रतिपाद्य कवि की इन पंक्तियों में व्यक्त किया जा सकता है—

> "हृदय के प्रणय-कुंज में लीन,
> मूक-कोकिल का मादक गान।
> बहा जब तन-मन-बन्धन हीन,
> मधुरता से अपनी अनजान
> खिल उठी रोओं-सी तत्काल !
> पल्लवों की यह पुलकित डाल।"

ठीक यही बात 'आँसू' के प्रतिपाद्य के विषय में भी कही जा सकती है।

एक कोमल कौ······लहरों का गान।

शब्दार्थ—मृदु=कोमल। प्राण=प्राणशक्ति, जीवन। पावन=पवित्र। त्रिवेणी=गंगा, यमुना और सरस्वती का संगम जो हिन्दू धर्म के अनुसार पवित्रतम माना जाता है।

अर्थ—कवि बालिका के अभूतपूर्व सौंदर्य की प्रशंसा करता हुआ कहता है कि हे बाला! तुम्हारी बोली अत्यन्त सरल और कोमल थी। जिस प्रकार वीणा की झंकार में मृदुलता होती है उसी प्रकार तुम्हारी बोली में सरलता थी। तुम्हारा सौंदर्य अपार था, उसका पार किसी भी प्रकार नहीं पाया जा सकता। हे मृदुमूर्ति! तुम्हारा रूप-सौंदर्य इतना अपार और दिव्य था कि ऐसा कोई दर्पण नहीं जिसमें मैं तुम्हारे अमित सौंदर्य को साकार कर सकूँ। कहने का भाव यह है कि उस बाला का सौंदर्य इतना अतुल, असीम और दिव्य था कि उसका वर्णन किसी भी प्रकार नहीं किया जा सकता।

तुम्हारा स्पर्श अपूर्व था। तुम्हें छूने से मन में वासना की जागृति नहीं होती थी, बल्कि एक प्रकार से प्राणदान की प्राप्ति होती थी। तुम्हारे साथ रहने से भी वासना का उदय नहीं होता था, बल्कि उसी प्रकार की सात्विक अनुभूति उत्पन्न होती थी जैसे गंगा जी में स्नान करने से होती है। हे कल्याणि! तुम्हारी वाणी में उसी प्रकार की पवित्रता और शिव-शक्ति निहित थी जिस प्रकार त्रिवेणी की लहरों के गान में होती है, अर्थात् जिस प्रकार त्रिवेणी के तट पर खड़े होकर और उसकी लहरों का कलगान सुनकर मनुष्य पवित्रतम भावनाओं में डूब जाता है उसी प्रकार तुम्हारी वाणी सुनकर मन में पवित्रता का [illegible] संचार हो जाता था।

विशेष—१. पन्त का नारी के प्रति दृष्टिकोण अत्यन्त पवित्र एवं आदर्श है। वे नारी को केवल वासना-पूर्ति की वस्तु न समझकर उच्चतम प्रेम का [illegible] है। [illegible] वर्णन किये गए हैं, उनमें ही [illegible] है। [illegible] की [illegible] [illegible] तथा [illegible] नहीं, बल्कि [illegible], जिसका [illegible] की [illegible] है।

[illegible] [illegible] के [illegible] है।

अपरिचित चितवन······आकार ।

शब्दार्थ—अपरिचित=अनजानी, यहाँ भोली एवं पावन से तात्पर्य है। चितवन=तिरछी दृष्टि से देखना। सुधामय=अमृत से पूर्ण। उपचार=इलाज, आनन्द प्रदान करना। चेष्टाएँ=संकेत। करुण=करुणा से पूर्ण। आकाश=यहाँ आकाश से तात्पर्य आकाश जैसी निर्द्वन्द्वता एवं शान्ति से है।

अर्थ—बालिका के रूप का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि तुम संसार की विषय-वासनाओं से अपरिचित थी अतः तुम्हारी चितवन में मन की कलुषित भावना न होकर जीवन का भोलापन एवं पावनता थी, इसीलिए तुम्हारी भोली एवं पावन चितवन से वासनाओं का उद्रेक न होकर उसी प्रकार की स्फूर्ति और जीवन-शक्ति मिलती थी जिस प्रकार की प्रातःकाल से प्राप्त होती है। तुम्हारी साँसों में प्रेम के उच्छ्वास-निःश्वास नहीं थे, जिनसे विरहाग्नि तीव्रतर होती है, बल्कि उनमें अमृत भरा माधुर्य था जो मुझे सदा आनन्द देते थे और मेरे मानसिक एवं भौतिक दोनों प्रकार के क्लेश दूर कर देते थे। जिस प्रकार एक ग्रीष्म-सन्तप्त राही को वृक्षों की छाया का आधार ग्रहण करने से अपूर्व परितोष मिलता है, उसी प्रकार तुम्हारी छाया का आधार पाकर मैं अपने सब कष्टों को भूल जाता था। तुम्हारी चेष्टाओं में—हाव-भाव भरे संकेतों में—न तो मन की मलिनता ही थी और न यौवनजन्य गर्व ही था, बल्कि वे सुख देने वाली थीं और उनमें कृतज्ञता का भाव भरा हुआ था।

तुम्हारी भौंहें क्रोध की अथवा उदासीनता की प्रतीक नहीं थीं। उनमें करुणा भरी हुई थी और आकाश जैसी निर्द्वन्द्वता एवं अपार शान्ति थी। तुम्हारे हँसने में भी किसी प्रकार की वासनात्मक प्रवृत्ति नहीं थी, बल्कि उसमें उसी प्रकार का भोलापन समाहित था जो बच्चों की हँसियों में हुआ करता है। अतः यह कहना अनुचित नहीं कि तुम्हारी आँखों में निवास करके ही प्रेम को रूप मिला; अर्थात् तुम्हारी आँखों में सदैव प्रेम का अपार सागर तरंगित होता रहता था।

विशेष—१. इन पंक्तियों का शब्द-चयन और अप्रस्तुत योजना अत्यन्त सूक्ष्म एवं भावपूर्ण है।

२. वर्णन में समास पद्धति होने से गागर में सागर-सा भरा हुआ है।

कपोलों में उर के······ स्वर्ग पुनीत !

शब्दार्थ—मृदु=कोमल। श्रवण=कान। दुराव=छिपाव। आवास
निवास। मुकुल=कली। भास=चमक, ज्योति। पुनीत=पवित्र।

अर्थ—कवि अपनी प्रेमिका बाला के सहज एवं अपूर्व सौन्दर्य का व
करता हुआ कहता है कि उसके सौन्दर्य का सृजन प्रकृति के विविध सु
उपकरणों से हुआ था। वह बालिका अत्यन्त लज्जा और सहज स्वभाव
थी। उसके हृदय की यह लज्जा और सरलता कपोलों से प्रकट हो रही थ
उसके कानों और नयनों का व्यवहार प्रिय था, अर्थात् वह अपने प्रिय की ब
बातें बड़े ध्यान और आतुरता से सुनती थी तथा उसे स्नेह भरी दृष्टि से देख
थी। उसके संकेतों में—चेष्टाओं में—यद्यपि स्वभाव की सरलता प्रतिबिम्ब
थी, तथापि उसमें यौवन-सम्भव संकोच भी विद्यमान था। वह होठों के इश
से ही अपनी दुराव-छिपाव की दशा को प्रकट कर देती थी, किन्तु उसका
व्यवहार भी इस ढंग से होता था कि उसका दुराव भी मधुर लगता था (
प्रिय को प्रेमिका का दुराव बहुत अखरता है)।

उसका हृदय इस प्रकार प्रेम की रंगीनी से रंगा हुआ था जिस प्रकार उ
का हृदय लालिमा से भरा हुआ होता है (अनुराग का रंग लाल माना जा
है)। उसके मुख का कोमल विकास नन्हीं कलिका के समान था; अर्थात् जि
प्रकार कलिका का मुख सौरभ और दीप्ति से परिपूर्ण होता है, उसी प्रकार
स्निग्ध आभा उसके मुख-मण्डल पर भी थी। उसका स्वभाव चाँदनी के समा
दीप्तिमान् और निर्मल था, उसमें वासना की कोई कालिमा नहीं थी। उस
विचार बच्चों के भावों की तरह सीधे-सादे और भोले थे।

कवि कलिका को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि हे बाले! तुम्हारा
व्यक्तित्व इस प्रकार का था जैसे बूँद में अनन्त सागर समाया हुआ हो, अर्थात्
तुमने अपना लौकिक व्यक्तित्व में लघु कर, गुण एवं गाम्भीर्य का आगार
लिए हुए थी। तुम्हारे एक स्वर में समस्त संगीत का समावेश हो जाता था
तुम अपने लौकिक अस्तित्व में एक कली के समान थी, किन्तु तुम्हारा अनन्त
सौन्दर्य अनन्त वसन्त ऋतु के बराबर था; अर्थात् अपने तन-सौन्दर्य में तुम वस
कान्ति से परिपूर्ण थी। तुम्हारे अनुपम रूप और गुणों को देखकर वह कहा
करता है कि इस पृथ्वी पर तुम पवित्र स्वर्ग का रूप धारण करके आई थी;

अर्थात् तुम्हारे कारण यह समस्त भूतल (मेरे लिए) स्वर्ग के समान आनन्द-दायक बना हुआ था।

विशेष—१. प्रकृति के उपकरणों से मानवीय सौन्दर्य की सज्जा करना अथवा उसका वर्णन करना तो साहित्य की काफी पुरानी परिपाटी है, किन्तु पन्तजी ने उस परिपाटी का अनुकरण करके भी अपनी मौलिक प्रतिभा एवं भावमयता का मधुर परिचय दिया है।

२. कवि का सौन्दर्य के प्रति दृष्टिकोण व्यापक और पावन है।

३. अन्तिम चार पंक्तियों में उल्लेख अलंकार है।

विधुर उर के······ जल धार !

शब्दार्थ – विधुर=वियोगी। अचल=स्थिर। दृग जल धार=आँसू।

अर्थ – इन पंक्तियों में कवि अपने जीवन पर विरह का प्रभाव और उसकी प्रतिक्रिया का वर्णन अत्यन्त संयत शब्दों में करता है। वह अपनी प्रेमिका को सम्बोधित करते हुए कहता है कि हे कुमारि ! वियोगी के हृदय में अपनी बिछुड़ी हुई प्रेमिका के प्रति जो भी भाव उत्पन्न हो सकते हैं, उन सभी मृदुल भावों को सँजोकर जब मैं (अपनी कल्पना के द्वारा) तुम्हारा नित नया शृंगार किया करता हूँ और (मन-ही-मन) तुम्हारी पूजा करता हूँ तथा अपनी दोनों आँखों को मूँदकर और स्थिर पलकों पर तुम्हारी मूर्ति की अवतारणा करके (ध्यान करके) जब मैं तुम्हारे अपार रूप में डूब जाता हूँ तो मेरे प्राण छटपटा उठते हैं और आँखों से बरबस आँसुओं की धारा फूट पड़ती है।

विशेष—इन पंक्तियों में कवि ने अपनी विरहावस्था का वर्णन अत्यन्त भावपूर्ण ढंग से संयत शब्दों में किया है। साथ ही कवि का प्रेम के प्रति पावन दृष्टिकोण भी अभिव्यंजित है।

बालकों-सा ही······ मान !

शब्दार्थ—अनजान=भुरबाप। असहाय=अनाथ। मान=रूठना।

अर्थ—कवि अपनी वियोगावस्था का करुण वर्णन करता हुआ कहता है कि जब मुझे अपनी प्रेमिका की याद आती है तो मैं चुपचाप बालकों की भाँति फूट-फूटकर रोने लगता हूँ। मेरे इस रुदन में एक प्रकार का मान (रूठना) भरा हुआ होता है, किन्तु मैं तो असहाय एवं वियुक्त हूँ। फिर भी रोकर न जाने किससे रूठना प्रकट करता हूँ।

विशेष—'हाय' शब्द का प्रयोग भावाभिव्यक्ति को सजीव बना रहा है।

मूँद पलकों में ·····गाएँगी सर्वदा !

शब्दार्थ—आह्वान=बुलावा; निमंत्रण। श्री=शोभा; सुख आदि मधुप-बालिकाएँ=भ्रमरियाँ। सर्वदा=हमेशा।

अर्थ—इन पंक्तियों में कवि ने अपने वियोगी हृदय को आश्वस्त करता हु कहता है कि हे हृदय! पलकें मूँदकर प्रिया का निरन्तर ध्यान करने अतिरिक्त अब और कोई चारा नहीं रह गया है, अतः तू उसके इस ध्यान और उसके इस बुलावे को अपनी पलकों में ही बाँधे रख, क्योंकि प्रिया रिक्त स्थान को किसी भी वस्तु से पूरा नहीं किया जा सकता; यहाँ तक कि तीनों लोकों के वैभव और सुख भी उसके स्थान की पूर्ति नहीं कर सकते कहने का भाव यह है कि कवि के हृदय का वियोग इतना अधिक है कि न तो उसे भुलाया ही जा सकता है और न प्रेमिका की किसी अन्य वस्तु से पूर्ति की जा सकती है।

हे मग्न हृदय! प्रिया के वियोग में निकले हुए तेरे ये निष्कलंक आँसू व्यर्थ नहीं जायेंगे, बल्कि ये सदा फूलों में वास करेंगे, अर्थात् फूलों के साथ मिलकर सौरभ-युक्त होकर वे सदैव मुस्करायेंगे। वायु उन आँसुओं के दुःख को दूर करेगी अर्थात् उनके तारल्य को शुष्क करेगी और भ्रमरियाँ हमेशा उनकी करुण कहानी को गाती रहेंगी। कहने का भाव यह है कि प्रकृति मन के विषाद को अपने में लीन करके वियोग-दुःख को दूर कर देगी।

विशेष—१. इन पंक्तियों में प्रेम की व्यापकता के साथ-साथ वियोग की व्यापकता का भी दिग्दर्शन कराया गया है।

२. पन्त जी प्रकृति में दुःख-विमोचन की शक्ति मानते हैं। यह मान्यता इन पंक्तियों में व्यक्त है। यहाँ अंग्रेजी के प्रकृति-कवि विलियम वर्ड्सवर्थ का प्रभाव स्पष्ट है।

३. मानव अपने दुःख का स्थानान्तरण प्रकृति में प्रायः करता आया है। काव्यों की नायिका भी प्रकृति में अपनी व्यथा को मिला देना चाहती है। पन्त जी ने भी ऐसा ही किया है।

४. छन्द-परिवर्तन ने भावों की परिवर्तनशीलता में भाव को मर्मस्पर्शी बना दिया है।

६. बादल

कविता परिचय—प्रस्तुत कविता की रचना सन् १९२२ ई० में हुई है। यह कविता पंत जी की विशेष उल्लेख्य रचनाओं में से है। छायावाद-शैली का इसमें अभूतपूर्व प्रभाव परिलक्षित होता है। प्रकृति का मानवीकरण इसकी प्रमुखतम विशेषता है—बादल अपना परिचय स्वयं देता है। इस पद्धति से भाव की प्रभावशीलता और भी प्रभावोत्पादक बन गई है। इस कविता में भावों और कल्पना का अपूर्व सामंजस्य है, जिससे भाव-चित्र साकार से हो उठे हैं। डा० नगेन्द्र के शब्दों में—

"'''बादल' में कवि ने एक ओर तो अपनी भाव-प्रेरित कल्पना द्वारा बड़े विशद और विराट् चित्र खींचे हैं, दूसरी ओर कल्पना-पुष्ट भावुकता की सहायता से उन चित्रों में मानवता का रस भर दिया है।"

जहाँ तक भाषा और शैली का सम्बन्ध है, 'बादल' की भाषा अत्यन्त प्रवाहमयी और भावानुसारिणी है। जहाँ कठोर भाव हैं, वहाँ कठोर शब्दावली का प्रयोग हुआ है, और जहाँ कोमल भाव हैं, वहाँ कोमल-कान्त शब्दों का चयन है। यदि कवि कठोर भावों के लिए—

"कभी अचानक, भूतों का सा
प्रकटा विकट महा आकार;
कड़क-कड़क, जब हँसते हम सब,
थर्रा उठता है संसार !"

जैसी पदावलियों का प्रयोग करता है तो दूसरे ही क्षण में फिर कोमल भावनाओं पर उतर आता है और अपने भावों की कोमलता के अनुरूप ही कोमल पदावली प्रयुक्त करता है—

"फिर परियों के बच्चों से हम
सुभग सीप के पंख पसार
समुद तैरते शुचि ज्योत्स्ना में
पकड़ इन्दु के कर सुकुमार !"

जहाँ तक शैली का प्रश्न है, कवि की शैली प्रायः समास शैली है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कवि थोड़े शब्दों में बहुत कुछ कहने की हठ कर बैठा हो। अतः कहीं-कहीं भावों में दुरूहता भी आ गई है। यथा—

"पवन धेनु, रवि के पांशुल श्रम,
सलिल अनल के विरल वितान,
व्योम पलक, जल खग, बहते घन
अम्बुधि की कल्पना महान् !"

फिर भी जब भावों का विस्तार किया जाता है तो कवि की प्रतिभा के समक्ष नत-मस्तक होना पड़ता है। अतः यह कहा जा सकता है कि 'बादल' का पन्त-काव्य में ही नहीं, सम्पूर्ण छायावादी काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

१६ ✓"सुरपति के······बालिका के जलधर !"

शब्दार्थ—सुरपति = इन्द्र, वर्षा का देवता। अनुचर = सेवक, आज्ञा पालन करने वाले। जगत्प्राण = जगत को जीवन देने वाली अर्थात् वायु। सहचर = साथ चलने वाले। मेघदूत = कालिदास का एक प्रसिद्ध काव्य। जीवनधर = जीवन-रक्षक। मुग्ध = मस्त। शिखी = मोर। सुभग = सुन्दर। स्वाति = एक नक्षत्र का नाम। मुक्ताकार = मोतियों के समूह। विहग = पक्षी। जलधर = बादल।

अर्थ—इन पंक्तियों में बादल अपना परिचय स्वयं देते हैं और अपने क्रिया-कलापों को बताते हुए कहते हैं कि हम इन्द्र देवता की आज्ञा का पालन करने वाले हैं। (हिन्दुओं के शास्त्रों में इन्द्र को वर्षा ऋतु का देवता बताया गया है, अतः उसकी ही आज्ञा से वर्षा होती तथा बन्द होती है, इसीलिए बादल ने स्वयं को इन्द्र का अनुचर बताया है)। हम वायु के साथ चलने वाले हैं। वायु ही बादलों को इधर-उधर उड़ाती रहती है। हमसे ही मेघदूत काव्य के काल्पनिक प्रसंग का आविर्भाव हो सका (मेघदूत मे विरही यक्ष का विरह-सन्देश मेघ के द्वारा ही विरहिणी यक्षिणी को पहुँचाया गया है)। हम ही चातक को सदैव से प्राणदान देते आए हैं (चातक वर्षा की बूँद ही ग्रहण करता है, अन्यथा वह प्यासा रहकर अपने प्राण त्याग देता है)।

हम ही मस्त मोर के मनोहर नृत्य के कारण हैं (बादलों को उमड़ता देख कर मोर मस्त होकर नाचने लगते हैं)। हम ही सुन्दर-स्वाति नक्षत्र के मोतियों के समूह हैं (स्वाति नक्षत्र की बूँद अगर केले में पड़ती है तो कपूर बन जाती है और यदि सुक्ति में पड़ती है तो मोती बन जाती है)। हम ही पक्षियों को [illegible] में गर्भ का विधान करते हैं (वर्षाकाल में ही पक्षियों में कामोत्तेजना सजग

है) और हम ही कृपक बालिका के बादल हैं' अर्थात् हमारे द्वारा ही सफल पानी प्राप्त करके फलती-फूलती है।

विशेष— १. कविता का वर्णन प्रथम पुरुष में होने के कारण अत्यन्त प्रभाव-न गया है।

२. वर्षाकाल में होने वाले कार्यों का वर्णन बड़ी काव्यमयता के साथ किया है।

३. 'मेघदूत की सजल कल्पना' एक अति कारुणिक प्रसंग की याद दिला-पाठक की मस्तिष्क-शिराओं को झकझोर देती है।

४ परम्परागत उपमानों को नवीनतम रूप में प्रस्तुत करके कवि ने अपनी काव्य-प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है।

भाषा में अबाध प्रवाह है।

६. 'सुरपति के अनुचर' और 'जगत्प्राण के सहचर, कहकर कवि ने ों) के व्यक्तित्व को महत्तम बना दिया है।

'मुक्ताकार, अशुद्ध है। इसके स्थान पर 'मुक्ताकर, होना चाहिए।

छायावादी प्रवृत्ति के अनुसार प्रकृति (बादल) का मानवीकरण किया है।

जलाशयों में ... आता ऊपर !

शब्दार्थ — जलाशयों=तालाबों। दिनकर=सूर्य। सत्वर=शीघ्र। चल=

र्थ—जिस प्रकार तालाबों में उगे हुए कमलों का विकास सूर्य से होता है, उसी प्रकार वह सूर्य हमें भी विकास प्रदान करता है (सूर्य के ताप के कारण बादलों का निर्माण होता है, यह वैज्ञानिक मान्यता है), किन्तु जिस प्रकार अपनी इकट्ठी की हुई वस्तुओं को तितर-बितर कर देता है, उसी प्रकार एकत्रित करके फिर शीघ्र ही बिखेर देती है।

सागर हमें अपनी छोटी-छोटी लहरों के चंचल पालनों में झुलाता है जब सागर की लहरों से बादल बनकर ऊपर उठते हैं) तो वही वायु इस प्रकार झपट पड़ती है, जिस प्रकार चील अपने शिकार पर झपटती द्वारा हाथ पकड़ कर हमें ऊपर ले जाती है।

विशेष—१. चील और वायु की तुलना अत्यन्त सार्थक है। चील अपने शिकार पर झपटती है और उसे अपने पंजों में दबाकर एकदम ऊपर उड़ जाती है, इसी प्रकार वायु बादलों को एकदम ऊपर ले जाती है।

२. प्रकृति का मानवीकरण, भाषा का प्रवाह, परम्परागत उपमानों का नवीनतम ढंग से प्रयोग आदि।

भूमि गर्भ में ·····निःशंक !

शब्दार्थ—रोमिल=रोएँदार। अस्फुट=अविकसित। पंक=कीचड़। विपुल=विशाल। अंक=गोद। अनन्त उर=आकाश का हृदय।

अर्थ—जिस प्रकार पक्षी अपने कोमल और रोएँदार पंखों में अपने अण्डों को सेकर उनसे बच्चे निकालते हैं, उसी प्रकार हम पृथ्वी के हृदय में छिपकर पड़े हुए अविकसित असंख्य बीजों को उनकी जड़तापूर्ण कीचड़ छुड़ाकर उन्हें जीवन-दान करते हैं, अर्थात् उन्हें पल्लवित करते हैं (नमी पाकर ही तो बीज विकसित होता है और इस नमी का कारण है बादल और उसका पानी)।

यदि तीनों लोक मिलकर किसी विशाल कल्पना की कल्पना करें तो उसका जो रूप होगा, उसी जैसे विशाल एवं विविध रूपों से सम्पन्न होकर हम आकाश को अपनी गोद में भरकर (आकाश में चारों ओर से छाकर) निस्संकोच उसके असीम हृदय में कौतूहल से भरे हुए खेल किया करते हैं, अर्थात् हम असीम आकाश में इधर से उधर उमड़ते फिरा करते हैं।

विशेष—१. प्रथम चार पंक्तियों की उपमा में गुण-साम्य होने से अत्यन्त प्रभावशीलता आ गई है।

२. 'विपुल कल्पना से त्रिभुवन की' इस पंक्ति से बादलों के असीम आकार का रूप प्रस्तुत कर दिया गया है।

कभी अचानक····· सुकुमार !

शब्दार्थ—प्रकटा=प्रकट करके। प्रमुद=प्रसन्न होकर। शुचि=स्वच्छ। ज्योत्स्ना=चाँदनी। इन्दु=चन्द्रमा। कर=किरण। सुकुमार=कोमल।

अर्थ—कभी-कभी हम अचानक भूतों का-सा विकट विशाल शरीर धारण कर लेते हैं और जब हम कड़-कड़ाकर हँसते हैं तो हमारी भयानक हँसी को सुनकर सारा संसार डर के मारे काँप उठता है। (यह कल्पना उस समय की है जब बादल चारों ओर से घिर आते हैं, बिजली कड़कड़ाने लगती है।)

इसके बाद फिर हम परियों के बच्चों जैसे सुन्दर मोर-जैसे स्वच्छ पंखों को पसार कर चन्द्रमा के किरण-रूपी कोमल हाथों को पकड़कर निर्मल चाँदनी में प्रसन्न होकर विचरण करने लगते हैं। (इन पंक्तियों में कवि की सूक्ष्म दृष्टि विचारणीय है। जब बादल बरसते हैं तो चारों ओर से घिरकर अत्यन्त भयानक रूप धारण कर लेते हैं। बिजली चमकती है और गड़गड़ाती है तो बहुत ही भयंकर लगती है। बरसने के बाद बादल हलके हो जाते हैं। उनकी कालिमा नष्ट हो जाती है। चाँद निकल आता है और स्वच्छ चाँदनी में बादलों के छोटे-छोटे टुकड़े इधर से उधर दौड़ते फिरा करते हैं। इस यथातथ्य घटना का वर्णन कवि ने बहुत ही काव्यमय ढंग से प्रभावपूर्ण शब्दों में किया है)।

विशेष—१. यह विश्वास किया जाता है कि भूतों का रंग काला होता है और उनकी देह बड़ी विशाल होती है। आकार की इसी विशालता और भयंकरता को प्रकट करने के लिए कवि ने 'आ' ध्वनि का प्रयोग किया है—

"प्रकटा विकट महा आकार

इसी प्रकार 'पर्वत प्रदेश में पावस' नामक कविता में भी पर्वत की विशालता दिखाने के लिए 'आ' ध्वनि का प्रयोग किया गया है—

"मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग सुमन फाड़,
अवलोक रहा है बार-बार
नीचे जल में निज ......"

"अरे कौन तुम दमयन्ती-सी
इस तरु के नीचे सोई ?
हाय तुम्हें भी त्याग गया क्या
अलि नल-सा निष्ठुर कोई !"

३. भाषा का प्रवाह अबाध है।

दुहरा विद्युद्दाम.........वायु विहार !

शब्दार्थ—विद्युद्दाम=बिजली रूपी डोरी। द्रुत=शीघ्रता से। पटह=नगाड़ा। निर्घोषित हो=घोषणा करके। आसार=अपार। वज्रायुध=वज्र के समान कठोर शस्त्र। भूधर=पर्वत। भीमाकार=विशाल आकार वाला। वासव=इन्द्र।

अर्थ—इन पंक्तियों में बादलों को विजयी इन्द्र की सेना के रूप में चित्रित किया गया है। बादल कहता है कि हम शीघ्रता से बिजली रूपी डोरी की दुहरी प्रत्यंचा चढ़ा करके और इन्द्रधनुष की टंकार करके तथा भयंकर नगाड़ों की-सी अपनी गर्जना द्वारा घोषणा करके और बूँद रूपी बाणों की अपार वर्षा करके अपने वज्र (इन्द्र-वज्र) के समान कठोर शस्त्र से पहाड़ों को चूर्ण-चूर्ण करके हम अति विशाल शरीर धारण करके तथा विजय से मदोन्मत्त होकर इस प्रकार वायु में सदैव विचरण करते हैं जिस प्रकार इन्द्र की विशाल सेना पर्वतों के पक्षच्छेद करके विजय में झूमकर उन्मुक्त विचरण करती थी।

विशेष—१. पुराणों में एक कथा आती है कि प्राचीन काल में पर्वतों के पंख हुआ करते थे। वे जहाँ भी चाहते, उड़कर पहुँच जाते। कभी वे किसी नगर में जा बैठते और कभी किसी में। इससे बहुत से लोग मारे जाते। उनके इस विभ्रम को देखकर इन्द्र को बहुत क्रोध आया और उसने एक विशाल सेना लेकर पर्वतों पर चढ़ाई कर दी तथा उनके पंख काट डाले। महाराज भर्तृहरि ने 'नीतिशतक' में इस कथा का उल्लेख किया है। इन पंक्तियों में कवि ने भी इसी गाथा की ओर संकेत किया है।

२. रूपक अलंकार का सुन्दर निर्वाह हुआ है।

व्योम विपिन में.........वाण !

शब्दार्थ—व्योम विपिन=आकाश रूपी वन। पल्लवित=पत्तों से युक्त। अनिल-स्रोत=वायु का प्रवाह। उदयाचल=एक पर्वत का नाम। अम्बर=आकाश। उत्पात=शोर। मारुत=वायु।

परियों के तथा उनके बच्चों के पंख निर्मित होते हैं—अतः बादलों के पंखों की 'मुभग-सीप' से तुलना बहुत साम्य रखती है। दूसरी बात यह है कि बच्चा स्वतन्त्र रूप से विचरण नहीं कर सकता। उसे चलने के लिए किसी की उंगली अथवा हाथ का सहारा चाहिए। इसी प्रकार बादल चन्द्रमा के किरण-रूपी हाथों को पकड़कर चलते हैं।

५. शशि-किरणों का प्रयोग यहाँ हाथ के रूप में हुआ है, किन्तु 'प्रथम रश्मि' में रस्सी के लिए हुआ है—

"शशि किरणों से उतर-उतर कर

भू पर कामरूप नभचर।

6. भाषा में भावानुकूल प्रवाह है। उपमा अलंकार की प्रधानता है।

बुदबुद द्युति ···सदेश सलाम!

शब्दार्थ – बुद्‌बुद द्युति = बुलबुलों की कांति। तारक दल तरलित = तारों के समूह से प्रतिबिम्बित। तम = अन्धकार। श्याम = काला। जम्वाल = काई। अमूल = बिना जड़। अविराम = निरन्तर। दमयन्ती = राजा नल की स्त्री। कुमुद कला = चन्द्रकला। रजत करों में = चाँदी जैसी चमकती किरणों में। अभिराम = सुन्दर। सलाम = मनोहर।

अर्थ—जिस प्रकार अन्धेरे में यमुना जी के काले जल में बुलबुलों की कांति के मध्य बिना जड़ की विशाल काई निरन्तर गति से बहती रहती है, उसी प्रकार हम तारों के समूह के प्रकाश में आकाशरूपी श्याम यमुना में बिना किसी आधार (जड़) के अनवरत गति से विचरण करते रहते हैं।

फिर दमयन्ती सी चन्द्रकला को चाँदी जैसी चमकती हुई सुन्दर किरणों के स्वर्ण हंस की भाँति मधुर स्वरों से प्रिय का मनोहर सन्देश देते हैं (जिस प्रकार दमयन्ती ने अपना सन्देश हंस के द्वारा अपने प्रियतम राजा नल के पास भेजा था, उसी प्रकार हम चन्द्रकला के सन्देशों को उसके प्रियतम के पास तक पहुँचाते हैं।)

विशेष—१. प्रथम चार पंक्तियों में उपमा अलंकार है जो बहुत ही साम्य-पूर्ण एवं भावपूर्ण है।

२. 'दमयन्ती-सी कुमुद-कला' में प्रतीप अलंकार है। एक अन्य कविता में पन्तजी ने छाया को दमयन्ती से उपमित किया है—

"अरे कौन तुम दमयन्ती-सी
इस तरु के नीचे सोई ?
हाय तुम्हें भी त्याग गया क्या
अलि नल-सा निष्ठुर कोई !"

३. भाषा का प्रवाह अबाध है।

घुहरा विद्युद्दाम ·········वायु विहार !

शब्दार्थ—विद्युद्दाम=बिजली रूपी डोरी। द्रुत=शीघ्रता से। पटह=नगाड़ा। निर्घोषित हो=घोषणा करके। आसार=प्रसार। वज्रायुध=वज्र के समान कठोर शस्त्र। भूधर=पर्वत। भीमाकार=विशाल आकार वाला। वासव=इन्द्र।

अर्थ—इन पंक्तियों में बादलों को विजयी इन्द्र की सेना के रूप में चित्रित किया गया है। बादल कहता है कि हम शीघ्रता से बिजली रूपी डोरी की दुहरी प्रत्यंचा चढ़ा करके और इन्द्रधनुष की टंकार करके तथा भयंकर नगाड़े की-सी अपनी गर्जना द्वारा घोषणा करके और बूँद रूपी बाणों को प्रसार करके अपने वज्र (इन्द्र-वज्र) के समान कठोर शस्त्र से पहाड़ों को चूर्ण-चूर्ण करके हम अति विशाल शरीर धारण करके तथा विजय से मदोन्मत्त होकर इस प्रकार वायु में सदैव विचरण करते हैं जिस प्रकार इन्द्र की विशाल सेना पर्वतों के पक्षच्छेद करके विजय से झूमकर उन्मुक्त विचरण करती थी।

विशेष—१. पुराणों में एक कथा आती है कि प्राचीन काल में पर्वतों के पंख हुआ करते थे। वे जहाँ भी चाहते, उड़कर पहुँच जाते। कभी वे किसी नगर में जा बैठते और कभी किसी में। इससे बहुत से लोग मारे जाते। उनके इस विध्वंस को देखकर इन्द्र को बहुत क्रोध आया और उसने एक विशाल सेना लेकर पर्वतों पर चढ़ाई कर दी तथा उनके पंख काट डाले। महाराज भर्तृहरि ने 'नीतिशतक' में इस कथा का उल्लेख किया है। इन पंक्तियों में कवि ने भी इसी गाथा की ओर संकेत किया है।

२. रूपक अलंकार का सुन्दर निर्वाह हुआ है।

व्योम विपिन में·········हास !

शब्दार्थ—व्योम विपिन=आकाश रूपी वन। शतदलित=कमलों से युक्त। अनिल-स्रोत=वायु का प्रवाह। उदयाचल=एक पर्वत का नाम। अम्बर=आकाश। [illegible]=रवि। मारुत=वायु।

अर्थ—जब आकाश रूपी वन में नये पत्तों के समान नयी आभा से युक्त प्रातःकाल आता है तो हम वायु के प्रवाह में श्यामवर्ण तमाल वृक्ष के पत्तों के समान टूटकर दूर उड़ जाते हैं (जिस प्रकार वसन्त के आने पर तमाल के वृक्षों के पत्ते गिरने लगते हैं, उसी प्रकार प्रातःकाल होने पर उषा के प्रकाश से हम बिखर जाते हैं)।

फिर हंस-शिशु के समान उदयाचल से नवोदित सूर्य निकलकर और अपनी श्वेत किरणों को संजोकर जब आकाश में उड़ने लगता है; अर्थात् ऊपर चढ़ने लगता है तो हम भी अपने स्वर्ण-पंखों को फैलाकर वायु से बातें करने लगते हैं; अर्थात् वायु के साथ हम भी शीघ्रता से उड़ने लगते हैं।

विशेष—१. इन पंक्तियों में उपमानों का प्रयोग बहुत ही भाव-व्यंजक है।

२. 'करते हुन मारुत से बात,' में मुहावरे का प्रयोग सार्थक है। इसमें 'मारुत' और 'बात' शब्द का प्रयोग पुनरुक्तवदाभास अलंकार से युक्त है।

३. 'स्वर्ण-पंखों' में स्वर्ण विशेषण प्रातःकालीन लालिमा का द्योतक है जो कवि की सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है।

धीरे-धीरे संशय······चारों ओर !

शब्दार्थ—संशय=सन्देह। अपयश=निन्दा। अछोर=सीमा-रहित। मोह=ममता। लालसा=इच्छा, अभिलाषा। निशि=रात। भोर=प्रातःकाल। व्योम=आकाश। भृकुटि=भौंह। घोर=गहन। विप्लव=क्रांति।

अर्थ—हम आसमान में धीरे-धीरे इसी प्रकार उठते हैं जिस प्रकार मनुष्य के हृदय में धीरे-धीरे सन्देह पनपता जाता है और फिर शीघ्र ही इस प्रकार असीम विस्तार ग्रहण कर लेते हैं जिस प्रकार निन्दा अथवा कलंक की बातें दावाग्नि से भी तेज फैलती हैं। इसीलिए यह कहावत प्रचलित है—'भलाई करे तो कोस; बुराई करे सौ कोस। जिस प्रकार हृदय में ममता उमड़ा करती है, इसी प्रकार हम आकाश के हृदय में उमड़ा करते हैं; और जिस प्रकार मनुष्य की इच्छाओं की परिवृद्धि होती है, उसी प्रकार हम रात और प्रातः फैला करते हैं।

जिस प्रकार गहन चिन्ता से बोझिल होकर मनुष्य चुपचाप हो रहता है, किन्तु उसकी सटकी हुई भौंहों से उसकी गहन चिन्ता का पता चल जाता है, इसी प्रकार हम आकाश की भृकुटि पर इन्द्रधनुष के रूप में चिन्ता की गहरी

रेखा खींच देते हैं; और जिस प्रकार भ्रान्ति के भय से मनुष्य चिल्लाते हुए शीघ्र चारों ओर फैल जाते हैं, इसी प्रकार हम गर्जना करते हुए शीघ्रता से समूचे आकाश पर छा जाते हैं।

विशेष—१. अमूर्त उपमानों का चयन अत्यधिक उपयुक्त और भावपूर्ण है। इनके सफल प्रयोग से कवि के सूक्ष्म एवं गहन चिन्तन तथा अवलोकन का पता चलता है।

२. इन पंक्तियों में भावानुकूल लय का विधान है। 'धीरे-धीरे संशय से उठ' में लय टूटती-सी, मन्थर गति से चलती है और 'बढ़ अपयश से शीघ्र अछोर' की लय में द्रुतगामिता है।

३. 'निशि भोर' शब्दों का प्रयोग अत्यन्त सूक्ष्म है। दिन-भर तो मानव अपने दैनिक कार्य-कलापों में व्यस्त रहता है, इसलिए उसे इच्छाओं के ताने-बाने बुनने का अवकाश ही नहीं मिलता। उसकी सुनहली कल्पनायें निर्बाध गति से या तो रात को दौड़ती हैं या प्रातः में। इसी प्रकार दिवस के मध्याह्न में (वर्षा ऋतु को छोड़कर) बादल पुंजीभूत नहीं होते। वे या तो रात को फैलते हैं, या सुबह को। इस प्रकार कवि का यह वर्णन अत्यन्त ही सूक्ष्म मनन एवं अवलोकन का सूचक है।

४. संशय-से, अपयश-से, मोह-से आदि में उपमा अलंकार है।

पर्वत से लघु धूल……निस्सार !

शब्दार्थ—काल-चक्र=समय की गति। सेतु=पुल। विलीन होना=छिपना, अस्तित्वहीन होना। विभव=संसार। भूति=ऐश्वर्य। निस्सार=सार-रहित; असत्य।

अर्थ—इन पंक्तियों में बादल अपने ध्वंस और निर्माण की कहानी बताता हुआ कहता है कि कभी तो हम पर्वत-जैसे महाकार से धूल के कण-जैसे लघुतम आकार में आ जाते हैं और कभी धूल-कण के लघुतम आकार से पर्वत-जैसे भीमाकार को प्राप्त हो जाते हैं। हमारा यह उत्थान-पतन साकार काल-चक्र के समान है। इन्हीं के बन्धन में बँधकर कभी तो हमारा निर्माण होता है और हम जलधर बन जाते हैं, तथा कभी विध्वंस होता है और हम पानी की बूँदों में बदलकर नष्ट हो जाते हैं।

कभी हम हवा में ऊँचे उड़कर इकट्ठे हो जाते हैं, मानो महल बना लेते हैं, कभी अपने अपार विस्तार के कारण असीम आकाश में पुल-सा बाँध देते हैं

और कभी अचानक इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार संसार का सार-रहित वैभव नष्ट हो जाता है।

विशेष—इन पंक्तियों में कवि का उपदेशक रूप बिल्कुल स्पष्ट है। ध्वंस और निर्माण यही तो सृष्टि की प्रक्रिया है, तथा संसार की विभूति कितनी क्षणभंगुर है, इन्हीं तथ्यों को कवि ने बादल के माध्यम से व्यक्त किया है। छायावादी काव्य में प्रकृति का उपदेशात्मक रूप भी एक प्रमुख तत्व है।

नग्न गगन की·· ·· हिमजल डाल !

शब्दार्थ—गगन=आकाश। पतंग=सूर्य; एक कीड़ा विशेष। तत्काल=तुरन्त। त्वरित=शीघ्र। द्रवित होकर=पिघल कर। उत्ताल=भीषण। आतप=गर्मी। हिमजल=ठंडा पानी।

अर्थ—जैसे मकड़ी सूखे पेड़ पर बैठे हुए पतंग (कीड़ा विशेष) को अपने जाल में फँसा लेती है उसी प्रकार हम निर्मल आकाश में विचरण करने वाले सूर्य को अपने जाल में तुरन्त उलझा लेते हैं, अर्थात् उसे चारों ओर से घेर लेते हैं। (बादल सूर्य को तभी घेरते हैं जब आकाश स्वच्छ और निर्मल रहता है, इसीलिए उसे 'नग्न गगन' कहा गया है।)

फिर अपने अनन्त हृदय की करुणा से तुरन्त पिघल जाते हैं और भीषण गर्मी में मुरझाई हुई कलियों को ठंडा पानी देकर उनमें फिर से प्राणों का संचार कर देते हैं।

विशेष—१. 'नग्न गगन' का प्रयोग अत्यन्त भावपूर्ण है।

२. 'पतंग' शब्द श्लिष्ट है।

३. इन पंक्तियों में बादलों के कठोर एवं मृदुल दोनों प्रकार के रूपों का वर्णन किया गया है।

हम सागर······पावक के मूल !

शब्दार्थ—धवल=सफेद, शुभ्र। धूम=धुआँ। अनिल=फेन। पल्लव=पत्ते। वारि=जल। वसन=वस्त्र। वसुधा=पृथ्वी। अवनि=पृथ्वी। सलिल=जल। मारुत=हवा। पावक=अग्नि। तूल=रुई।

अर्थ—अपना परिचय देता हुआ बादल कहता है कि हम सागर की शुभ्र हँसी के समान हैं (बादल का जल सागर से ही होता है, अतः सागर के ऊपर उड़ते हुए वे ऐसे प्रतीत होते हैं मानो सागर हँस रहा हो), हम जल के धुएँ के

समान हैं (जल की भाप गर्मी पाकर बादल में परिणत होती है, अतः वह उठती हुई भाप ही मानो धुआँ है), हम आकाश की धूल के समान हैं (जिस प्रकार पृथ्वी पर धूल इधर से उधर उड़ी फिरा करती है, इसी प्रकार आकाश में बादल भी इधर-उधर दौड़ते हैं), हम हवा के फेन हैं (हवा के झकोरों से ही पानी में फेन बनकर हवा के साथ उड़ते हैं, ऐसा लगता है मानो वे हवा के ही फेन हों), हम प्रातःकाल में उदित होने वाली उषा के पत्ते हैं (जिस प्रकार नये पत्ते लाल और मुलायम होते हैं, उस प्रकार उषाकालीन बादल हल्के और लाल होते हैं), हम पानी के वस्त्र हैं (वस्त्रों का काम है किसी को छिपाना। बादल अपने हृदय में पानी को छिपाए रहते हैं, इसलिए वे पानी के वस्त्र कहे जा सकते हैं) हम पृथ्वी के आधार हैं (बादलों से पानी प्राप्त करके ही पृथ्वी हरी-भरी रहती है, इसलिए उन्हें पृथ्वी का आधार कहना उचित ही है)।

जब हम हवा के साथ ऊपर जाते हैं तथा नीचे आते हैं तो आकाश में पृथ्वी और पृथ्वी में आकाश का अवतरण-सा प्रतीत होता है। हम पानी की भस्म हैं (पानी ही गर्मी पाकर बादल बनता है, इसीलिए उन्हें पानी की भस्म कहा गया है), हम हवा के फूल हैं (हवा बादलों को इधर-उधर बिखेर देती है। वे बिखरे हुए टुकड़े ही मानो फूल हैं), हम जल के ऊपर छा करके उसे थल के समान दृश्यमान बना देते हैं, और अपनी वर्षा के कारण थल को जल में परिवर्तित कर देते हैं। हम दिन के अन्धकार हैं, अर्थात् बादलों के छा जाने से दिन में भी अंधेरा हो जाता है। हम आग की रुई हैं (जिस प्रकार रुई में आग लग जाती है, उसी प्रकार बादल भी परस्पर संघर्षित होने से आग उत्पन्न कर देते हैं। अतः उन्हें आग की रुई कहा गया है)।

विशेष—१. समस्त उपमायें लक्षणामूलक हैं।

२. सारी उपमाओं में कवि की सूक्ष्म दृष्टि सन्निहित है।

३. समास-पद्धति होने से भावों में गाम्भीर्य है। फिर भी भाषा का प्रवाह अक्षुण्ण है।

व्योम बेलि······कल्पना महान् !

शब्दार्थ—बेलि=लता। अचल=पर्वत। तन्द्रा=हल्की नींद। ज्योत्स्ना =चाँदनी। यान=रथ। धेनु=गौ। धौमुल=धूलि-धूसरित। विरल वितान =झीना आवरण। अनल=अग्नि। अम्बुधि=सागर।

अर्थ हम आकाश की मता हैं (जिस प्रकार मता चारों ओर घूम जाता है, उसी प्रकार बादल भी आकाश में चारों ओर फैले रहते हैं), हम तारों की गति हैं, उनके चलने की शक्ति हैं (जब बादल दौड़ते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है मानो तारे दौड़ रहे हों); हम चलते हुए पर्वत हैं (बादलों का आकार पर्वत के समान ही होता है। इसीलिए उन्हें आकार-साम्य के कारण पर्वत कहा गया है, किन्तु दोनों में एक भेद भी है— पर्वत अचल होता है, बादल चलते हैं अतः उन्हें चलते अचल कहा गया है), हम आकाश के गीत हैं (बादलों का गर्जना ही मानो आकाश के गीत है), हम निर्निमेष दृष्टि से देखते हुए तारों की हल्की नींद हैं (जिस प्रकार तन्द्रा में मनुष्य पूरी तरह से न सोकर केवल एक खुमारी में डूबा रहता है, उसी प्रकार बादलों का झीना आवरण होने से मानो तारे भी तन्द्रित हों, इसीलिए बादलों को तारों की तन्द्रा कहा गया है), हम चाँदनी के बर्फ के टुकड़े हैं (चाँदनी रात में बादलों के छोटे-छोटे सफेद टुकड़े होते हैं, मानो वे बर्फ के टुकड़े हों, हम चन्द्रमा के रथ हैं जिस प्रकार मनुष्य रथ में बैठकर चलता है, उसी प्रकार चलते हुए बादलों में चन्द्रमा भी चलता हुआ प्रतीत होता है। मानों वह बादलों के रथ पर बैठा हुआ जा रहा हो)।

हम हवा की गाय हैं (गायों का रंग भी श्वेत होता है और बादलों का भी श्वेत होता है। जिस प्रकार ग्वाल अपनी गायों को हाँक कर आगे-आगे कर लेता है, उस प्रकार हवा के झोंकों में बादल आगे-आगे ही उड़े चले जाते हैं, इसीलिए उन्हें पवनरूपी ग्वाल की धेनु कहा गया है), हम सूर्य के धूलि से युक्त श्रम हैं (जिस प्रकार परिश्रम करने से मनुष्य के शरीर पर धूल जम जाती है, उसी प्रकार बादलों के झीने पर्दे में छिपकर सूर्य ऐसा प्रतीत होता है, मानो उसके शरीर पर धूल जम गई हो), हम पानी और आग के झीने आवरण हैं (बादलों में पानी और आग दोनों छिपी रहती हैं), हम आकाश की पलक हैं (पलकों का रंग भी काला होता है और बादलों का रंग भी काला होता है), हम जल में विहार करने वाले पक्षी के समान हैं (जिस प्रकार पक्षी जल में विहार करता है,उसी प्रकार जल के ऊपर दौड़ते बादल ऐसे प्रतीत होते हैं, मानों जल में क्रीड़ा कर रहे हों), हम बहते हुए थल हैं (बादलों का श्वेत पुंज थल के समान प्रतीत होता है। थल तो स्थिर रहता है, किन्तु

३ छायावादी कवि प्रकृति के कण-कण में किसी अव्यक्त, असीम और अपरिचित सत्ता की छाया देखकर आश्चर्य-पुलकित हो उठता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि पन्तजी की प्रस्तुत कविता में छायावादी रहस्यवाद का पूर्णरूप से समावेश है। 'निमन्त्रण' का 'मौन' विशेषण ही मानो इस 'समावेश' को अपने लघु उर में समाविष्ट किए हुए हैं।

भाव और भाषा की दृष्टि से भी यह कविता अत्यन्त सजीव, सफल एवं प्रभावोत्पादक है। इसका प्रत्येक पद अपने में पूर्ण और एक सूत्र में गुम्फित है। विरहिणी की पूरी दिन-चर्या का सूत्र शुरू से आखिर तक चलता है। कविता का समारम्भ रात्रि से होकर रात्रि में ही पर्यवसित होता है। डा० नगेन्द्र ने इस कविता का मूल्यांकन करते हुए लिखा है—"(पन्तजी की) तीसरे प्रकार की कृतियाँ वे हैं जिनमें कल्पना और भावों का उचित सम्मिश्रण है। ये कविताएँ ही 'पल्लव' की प्राण हैं। मैं तो इन्हें पन्त जी की समस्त काव्य-साधना का पुरस्कार कहूँगा। ये हैं मौन निमन्त्रण, बालापन, छाया, बादल, अनंग, स्वप्न आदि। इनमें पन्तजी की उद्दीप्त भावुकता उनकी प्रखर कल्पना के साथ हाथ-में-हाथ डाले चली है। साथ ही कोरी भावुकता ही नहीं, उनमें दार्शनिक अन्त.प्रवाह भी है जो उन्हें बहुत ही सशक्त (Powerful) बना देता है। मौन-निमन्त्रण का तो प्रत्येक पद शैली के 'स्काईलार्क' के प्रत्येक स्टेन्जा की तरह कटा-छँटा (diamond cut) है। उसके सभी चित्र अभिराम हैं।

निस्सन्देह डा० नगेन्द्र की ये पंक्तियाँ उद्धृत करने के पश्चात् इस कविता के विषय में और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

स्तब्ध ज्योत्स्ना······मुझको मौन ?

शब्दार्थ—स्तब्ध=शान्त, नीरव। ज्योत्स्ना=चाँदनी। नादान=भोला।

अर्थ—जब चाँदनी रात की नीरवता में समस्त संसार किसी भोले-भाले बच्चे की तरह चकित-सा रहता है (बच्चा चन्द्रमा को देखकर आश्चर्य में डूब जाता है और अपने जिज्ञासु भाव के कारण बार-बार उसे पकड़ने की चेष्टा करता है) और संसार के व्यक्ति सुनहले तथा अनजान स्वप्नों में डूबे रहते हैं (स्वप्न रात को ही दिखाई देते हैं) तो न जाने कौन मुझे नक्षत्रों से चुपचाप अपने पास आने का इशारा देता है।

विशेष—१. छायावादी रहस्यभावना का वर्णन है।

२. प्रकृति का कोमल रूप है।

३. प्रश्न-पद्धति से मन की जिज्ञासा, रहस्यात्मकता और भोलापन व्यंजित होता है।

सघन मेघों का······तब कौन ?

शब्दार्थ—सघन=गहरे। भीमाकाश=विशाल गगन। तमसाकार=अन्धकार से युक्त। दीर्घ=गहरी। प्रखर=तेज; मूसलाधार। पावस=वर्षा। चमक=झट से चमक कर। इंगित=संकेत।

अर्थ—जब विशाल गगन गहरे बादलों से घिरकर अन्धकारपूर्ण बन जाता है और बादल घोर गर्जना करने लगते हैं; हवा किसी विरहिणी के गहरे साँसों-सी प्रबल झोकों में चलने लगती है और मूसलाधार वर्षा होने लगती है, तब न जाने कौन मुझे झट-से बिजली के रूप में संकेत करके अपने पास आने का बुलावा देता है।

विशेष—१. छायावादी रहस्यभावना।

२. प्रकृति का भयंकर और उद्दीपन रूप।

३. प्रश्न-पद्धति के कारण मन की जिज्ञासा, कौतूहलपूर्ण रहस्यभावना और भोलापन व्यंजित।

देख वसुधा का······भेजता मौन ?

शब्दार्थ—वसुधा=पृथ्वी। यौवन भार=अतिशय सौन्दर्य। मधुमास=वसन्त। विधुर=वियोगी। उद्गार=विचार। सोच्छ्वास=गहरा साँस-लेकर। सौरभ=सुगन्ध। मिष=बहाने से।

अर्थ—जब समस्त पृथ्वी पर वसन्त ऋतु का माधुर्य छा जाता है, मानो पृथ्वी सौन्दर्य से दब-सी जाती है तो उसके अतिशय सौन्दर्य को देखकर जिस प्रकार वियोगी हृदय से स्मृतिजन्य मधुर विचारों के कारण गहरा साँस निकल पड़ता है, उसी प्रकार किसी के विरह-दुःख में सन्तप्त होकर कुसुम भी फूट पड़ते हैं। उन्हीं कुसुमों की सुगन्ध के बहाने—जो चारों ओर फैल जाती है—न जाने कौन मुझे मेरे पास आने का चुपचाप सन्देश भेज देता है।

विशेष—१. छायावादी रहस्यभावना।

२. प्रकृति का उद्दीपन रूप।

३. प्रश्न-प्रकृति होने से मन की सरल रहस्यात्मकता व्यंजित ।

४. 'विधुर उर के-से मृदु उद्गार' में उपमा अलंकार । 'आँसू की बालिका' में भी इन्हीं शब्दों का एवं भाव का इस प्रकार प्रयोग हुआ है—

'विधुर उर के मृदु भावों से,

क्षुब्ध जल.........बुलाता कौन ?

शब्दार्थ—क्षुब्ध=क्रुद्ध; लहरों से आलोड़ित । वात=हवा । बिखरा देती=बिखेर देती । अजान=अनजाने । कर=हाथ ।

अर्थ—जब हवा सिन्धु की लहरों की चोटियों को मथकर उनमें झाग पैदा कर देती है तथा बुलबुलों का एक व्याकुल संसार उत्पन्न कर उसे अनजाने ही नष्ट कर देती है, तब न जाने लहरों से कौन हाथ उठाकर मुझे चुपचाप अपने पास बुलाता है ?

विशेष—१. छायावादी रहस्यभावना ।

२. प्रकृति के नश्वर एवं उद्दीपन रूप का वर्णन ।

३. कवि ने बुलबुलों के संसार को व्याकुल इसलिए कहा है कि जिस प्रकार व्याकुल व्यक्ति का मन स्थिर नहीं होता, उसमें बराबर विविध भाँति के संवेदनात्मक विचार आते और जाते रहते हैं, उसी प्रकार बुलबुले बनते और बिगड़ते हैं ।

४. बुलबुलों के द्वारा संसार की क्षणभंगुरता का वर्णन साहित्य की बहुत पुरानी परिपाटी है । प्रायः इस प्रसंग में सभी कवियों ने इस उपमान का प्रयोग किया है । उदाहरणार्थ, कबीर की यह पंक्ति देखिए—

'पानी केरा बुद्बुदा अस मानुस की जात'

'ग्रन्थि' में पन्तजी ने भी इस उपमान का इसी अर्थ में प्रयोग किया है—

"बुद्बुदे जिन चपल लहरों में प्रथम

गा रहे थे राग जीवन का अचिर,

अल्प पल, उनके प्रबल उत्थान में

हृदय की लहरें हमारी सो गईं ।"

स्वर्ण, सुख.........मेरे मौन ?

शब्दार्थ—स्वर्ण=सुनहली उषा । श्री=शोभा । भोर=प्रातः । बोर= . । कल=सुन्दर । हिलोर=स्वर लहरी । मिला देती भू-नभ के छोर=

ह मुहावरा संभवतः 'आकाश-पाताल एक कर देना' के साम्य पर गढ़ा गया है;
तः इसका अर्थ हुआ—बहुत अधिक शोर करना; या सर्वत्र शोर सुनाई देना।
लस=अलसाई।

अर्थ—जब प्रातः सुनहली उषा समूचे संसार को सुख, शोभा और पुष्पों
ो सुगन्ध मे डुबा देती है, पक्षियों के समूह के सुन्दर कण्ठों से निकली हुई
र लहरियाँ सर्वत्र ही जोर-जोर से सुनाई पड़ती हैं तब न जाने कौन मेरी
लसाई हुई पलकों को चुपचाप आकर खोल देता है। (अलसाई पलकें तब
ती हैं जब रात को नींद नहीं आती। अतः 'अलस' शब्द से यह भाव निकलता
कि विरहिणी रात को सोई नहीं है, वरन् अपने प्रियतम की याद में तमाम
त जागती ही रही है।)

विशेष—१. छायावादी रहस्यभावना।

२. प्रकृति का उद्दीपन रूप।

३. 'मिला देती भू-नभ के छोर' मुहावरे का भाव-व्यंजक प्रयोग।

४. प्रश्न-शैली के कारण भावों में जिज्ञासा, सारल्य एवं कुतूहलता का
म्मिश्रण।

५. पाँचवी पंक्ति मे 'लद' शब्द अशुद्ध छप गया है। यह 'दल' होना
हिए।'

तुमुल तम······तब कौन ?

शब्दार्थ—तुमुलतम=सघन अन्धकार। एकाकर=एक रूप होकर। कुल
समूह। खद्योत=जुगनू; एक प्रकार का रात में चमकने वाला कीड़ा।

अर्थ—सघन अन्धकार में जब सारा संसार एकरूप होकर (अन्धकार में
ी वस्तु का रूप स्पष्ट नहीं होता; सभी तमसाच्छन्न हो जाती हैं) एक साथ
ता है, और रात्रि के अन्धकार से डरे हुए झींगुरों के समूह की झंकार
ल प्राणियों को जगा देती है तब न जाने कौन जुगनुओं के बहाने से मुझे
पास तक आने का चुपचाप रास्ता दिखला देता है। (यहाँ कवि ने दो
नायें की हैं। पहली है झींगुरों के बोलने के विषय में। वे रात को अपने
स्वानुसार बोलते हैं, किंतु कवि की कल्पना है कि वे रात के अन्धकार के
े भयभीत होकर चिल्ला रहे हैं। दूसरी कल्पना है खद्योतों के चमकने की।
अपनी प्रकृति के अनुसार चमकते हैं, किंतु कवि की कल्पना है कि वे
हणी के प्रियतम ने उसे अन्धकार में पथ दिखाने के लिए भेजे हैं, ताकि वह
पास पहुँच जाए। दोनों कल्पनायें अत्यन्त भावमय हैं।

विशेष—१. कल्पना और भावों का अद्भुत मिश्रण।

२. छायावादी रहस्यभावना।

३. प्रकृति का उद्दीपन रूप।

कनक छाया ····दृग मौन ?

शब्दार्थ—कनक छाया=सुनहली आभा। सकाल=यथासमय, प्रातःकाल से तात्पर्य है। उर का द्वार=पखुड़ियाँ। सुरभि-पीड़ित=सुगन्ध से मदोन्मत्त होकर। मधुप=भ्रमर।

अर्थ—प्रातःकाल की सुनहली आभा में जब कली अपनी पंखुड़ियों को खोल देती हैं; अर्थात् खिल जाती है तो उससे प्रवाहित सुगन्ध से मदोन्मत्त होकर भ्रमर उस कलिका का रसपान करने के लिए तड़प उठते हैं और अपनी तड़प की अभिव्यक्ति गुंजन के रूप में करते हैं। ऐसे सुहावने समय में न जाने कौन ओस का रूप धारण करके चुपचाप मेरी आँखों को अपनी ओर खींच लेता है; अर्थात् मैं उस सुहावने वातावरण मे किसी की सुधि लेकर तन्मय हो जाती हूँ।

विशेष—१. इन पंक्तियों में रूपक का शुद्ध रूप है।

२. सुरभि पीड़ित मधुपों के बाल
तड़प, बन जाते हैं गुंजार;
इन पंक्तियों में विशेषण विपर्यय अलंकार है।

३. प्रकृति का उद्दीपन रूप।

४. छायावादी रहस्यभावना जिसमें कुतूहलता और विस्मय का समावेश है।

बिदा कार्यों······जग में मौन ?

शब्दार्थ—गुरुतर भार=भारी बोझ। सुवर्ण=सुनहला। अवसान=अन्त। श्रमित=थकित। आकुल=व्याकुल। छाया-जग=स्वप्न लोक।

अर्थ—जब दिन को सुनहला अन्त देकर (सन्ध्या के समय समस्त प्रकृति लालिमामय हो जाती है) सन्ध्या आती है तो मैं दिन-भर के अपूर्ण कार्यों के भारी बोझ से दब कर और अत्यन्त थक कर सूनी कर शैया पर लेट कर अपने व्याकुल प्राणों को सान्त्वना देने का प्रयास करती हूँ तो उस तन्द्रिल अवस्था में न जाने कौन मुझे चुपचाप स्वप्न लोक में घसीट कर ले जाता है; अर्थात् न जाने किसके स्वप्न दिखाई देने लगते हैं ?

विशेष—१. भावों की अत्यन्त मार्मिक अभिव्यक्ति।

२. छायावादी रहस्यभावना ।

३. प्रकृति का उद्दीपन रूप ।

४. 'जुड़ाता' के स्थान पर 'जुड़ाती' होना चाहिए ।

५. जिस प्रकार छाया का कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं, इसी प्रकार स्वप्नों का भी कोई सारपूर्ण अर्थ नहीं होता । अतः कवि ने स्वप्न-लोक को 'छाया-जग' कहा है ।

न जाने कौन·····हो कौन ?

शब्दार्थ—द्युतिमान्=छविवाली । अबोध=भोली । छिद्रों में=रोम-रोम में । सहचर=साथी ।

अर्थ—हे दिव्य छवि वाले साथी । मुझे तुम्हारे स्वरूप का परिचय नहीं, फिर भी तुम मुझको भोली और अज्ञान समझकर प्रेम के अनजान पथ पर घसीटते हो और मेरे रोम-रोम में विरह का गीत भर रहे हो । हे मेरे सुख-दुख के अपरिचित साथी ! मैं नहीं कह सकती कि तुम कौन हो ? तुम्हारा स्वरूप कैसा है ?

विशेष—१. छायावादी रहस्यभावना ।

२. प्रेम के स्वरूप का संकेत ।

३. अन्तिम पंक्ति में 'सकता' के स्थान पर 'सकती' होना चाहिए ।

४. मौन निमंत्रण में वर्णित किसी अज्ञात शक्ति की मीमांसा करते हुए डॉ० नगेन्द्र लिखते हैं—"इसी अज्ञात शक्ति को जगज्जननी मानकर भी पंतजी ने बहुत-सी भावनाएँ की हैं । यही पन्तजी के शब्दों में उनका रहस्यवाद है—और जैसा कि उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट है, यह रहस्यवाद शुष्क अद्वैतवाद से भिन्न है । उसमें भक्ति-भावना का भी थोड़ा-सा सम्मिश्रण है ।

८. शिशु

कविता-परिचय—प्रस्तुत कविता की रचना सन् १९२१ में हुई थी । इस में शिशु के रूप और स्वभाव का वर्णन अत्यन्त वात्सल्यमय शैली में किया गया है । शिशु की मृदुलता को स्वयं मृदुलता का अवतार मानना और उसकी मधुरिमा-छवि को शृंगार रस का साकार अवतरण मानना कवि की अत्यन्त उत्कृष्ट और भाव-प्रवण उद्भावनाएँ हैं । इस कविता को पढ़कर यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि इसमें पन्त का हृदय, उसकी कला रस-प्लावित होकर बनी है ।

अन्त में कवि एकदम दार्शनिक बन गया है और उसने दर्शन के प्रमुख विषय-आत्मा और जगत्—की मीमांसा की है, किन्तु इस मीमांसा में दर्शन की दुरूहता एवं नीरसता न होकर कवि की कविता और उसका 'कान्ता-सम्मित-तयोपदेश' है। जब कवि यह कहता है—

"तुम्हीं सा हूं मैं भी अज्ञात,
वत्स ! जग है असीम महान्।

तो दर्शन का सार इन्हीं दो लघ्वाकार पंक्तियों में सिमटकर आ जाता है। वस्तुतः भाव और कला दोनों ही दृष्टियों से यह कविता अत्यन्त महत्व-पूर्ण है।

कौन तुम······अकाम ?

शब्दार्थ—अतुल=निरुपम; जिसकी तुलना न की जा सके। अरूप=जिसका कोई रूप न हो। अनाम=जिसका कोई नाम न हो। अभिनव=नव-जात। अभिराम=सुन्दर। मृदुलता=कोमलता। उद्गार=विचार। अक-लंक=निर्दोष। अकाम=इच्छा रहित।

अर्थ—कवि नवजात शिशु को देखकर आश्चर्य-विस्मय से भर जाता है और अपनी जिज्ञासा को प्रकट करता हुआ शिशु के स्वरूप का वर्णन करता है। कवि कहता है कि हे नवजात और सुन्दर शिशु ! तुम कौन हो ? किसी भी वस्तु का बोध तीन प्रकार से हो सकता है—तुलना से, रूप से और नाम से; किंतु तुम्हारे विषय में मानदंड भी व्यर्थ है। तुम्हारी किसी से तुलना भी नहीं की जा सकती क्योंकि तुम निरुपम हो। तुम्हारे रूप से भी तुम्हारा परिचय नहीं मिल सकता, क्योंकि अभी तुम्हारा कोई रूप स्थिर नहीं हुआ है (कवि का यह कथन बहुत ही तथ्यपूर्ण है। नवजात शिशु आगे चलकर गोरा काला बन सकता है और काला गोरा। ऐसा यदा-कदा देखने में भी आता है); और न तुम्हारा कोई नाम ही है जिससे तुम्हें सम्बोधित किया जा सके। इसीलिए कवि स्वयं शिशु से ही कौन तुम ? यह प्रश्न करने को वाध्य हुआ है।

अब कवि शिशु के स्वरूप का वर्णन करता हुआ कहता है कि तुम इतने कोमल हो जैसे कोमलता स्वयं ही आकार धारण करके तुम्हारे रूप में प्रकट हो। तुम इतने माधुर्य और शोभायुक्त हो मानो स्वयं शृंगार रस अपनी

समस्त मधुरिमा और छवि समेटकर तुम्हारे रूप में अवतरित हो गया हो। अभी तक तुम इतने अविकसित हो कि तुम्हारे अंगों में अभी न किसी रंग की स्थिरता हो पाई है और न कोई उभार ही आया है; अर्थात् अभी तक कोई भी अंग विकसित नहीं हुआ है। शारीरिक विकास से तो तुम दूर हो ही, तुम्हारा मानसिक विकास भी नहीं हुआ है, इसीलिए तुम्हारे कोमल हृदय मे किसी प्रकार का विचार नहीं है (शिशु मे विचार-शक्ति नहीं होती)। इस प्रकार के अविकसित शिशु की कवि कोई सत्ता नहीं मानता, अत: वह कहता है कि तुम तो केवल साँसों के आने-जाने के द्वार-मात्र हो। फिर भी तुम निर्दोष हो, तुम्हें किसी प्रकार का कलंक अभी नहीं लगा है; और न तुममें अभी इच्छाएँ जगी हैं; इसीलिए तुम अकलंक और अकाम हो।

विशेष—शिशु का शारीरिक और मानसिक वर्णन अत्यन्त भावपूर्ण एवं चित्रमय शैली से हुआ है।

कामना-से……नवजात !

शब्दार्थ—कामना=अभिलाषा। स्नेह=प्रेम। सुरभि=सुगन्ध। स्रोत=निर्झर। अवदात=शुभ्र; स्वच्छ। स्खलित=प्रवाहित। अविचार=अनजाने; बिना विचार किए हुए। निरुपम=बिना उपमा के, जिसकी कोई बराबरी न कर सके। नवजात=नवोत्पन्न।

अर्थ—हे शिशु ! तुम इतने कोमल हो जितनी कोमल अपने पुत्रों के लिए माँ की अभिलाषाएँ होती हैं। तुम प्रेम की साकार मूर्ति हो (शिशु भेद भाव नहीं जानता। वह सभी से प्रेम करता है) किंतु तुम अपने इस गुण को जानते नहीं। तुम्हारी दशा ठीक उस कुड्मल-जैसी है जिसे अपनी सुगन्धि के भार पुंज का पता नहीं होता। तुम नवीन प्रवाहित निर्झर के समान शुभ्र हो (क्योंकि शिशु को कवि ने अकलंक और अकाम बताया है) और उसी की भाँति अनजाने ही अज्ञात पथ पर चल पड़ते हो; अर्थात् जिस प्रकार नवीन प्रवाहित हुआ झरना किसी भी मार्ग को बह निकलता है, उसी प्रकार बच्चा भी अनजाने ही कुछ भी कर बैठता है। हे गूढ़, गहन, अज्ञात और नवजात शिशु, तुम कौन हो ? तुम्हारी किसी से उपमा नहीं दी जा सकती।

विशेष—१. शिशु की सुकुमारता के लिए माँ की कामना की सुकुमारता की उपमा देना अत्यन्त सुकुमार कल्पना है।

२. स्रोत से शिशु को उपमित करना बहुत ही भावपूर्ण एवं यथातथ्य है।

खेलती अधरों·····गतिवान !

शब्दार्थ—अम्लान=मनोहर । आलाप=स्वर । अनवगत=अज्ञात । गिरा=वाणी । आख्यान=कहानी ।

अर्थ—यह कहा जाता है कि शिशु जब हँसता है तब उसे पिछले जन्म की कोई बात याद आती है । इसी मान्यता का आधार लेकर कवि ने इस पद की रचना की है ।

तुम्हारे होठों पर मनोहर मुस्कान है, ऐसा ज्ञात होता है जैसे तुम्हें पूर्व-जन्म की कोई बात याद आ गई हो । अब कवि शिशु की मुस्कान पर उत्प्रेक्षा करता हुआ कहता है कि तुम्हारी मुस्कान तुम्हारे सरल हृदय के उस सुन्दर स्वर के समान है जिसका गीत ज्ञात नहीं है । हे प्राण ! तुम्हारे इस गीत की कौन-सी अमर वाणी है, कौन-सा राग, छंद एवं कहानी है और तुम अपनी इच्छा को गतिशील बनाकर कौन-से स्वप्न-लोक में विचरण किया करते हो ?

विशेष—शिशु की मुस्कान को लेकर कवि ने जो उत्प्रेक्षाएँ की हैं, वे अत्यंत प्रभावपूर्ण एवं काव्यमय हैं ।

न अपना हो ··· अज्ञेय महान् !

शब्दार्थ—सरल है ।

अर्थ—हे शिशु ! तुम्हें न तो अपना ही ज्ञान है और न जगत् का ही । अर्थात् तुम अपने रूप से भी परिचित नहीं हो और न जगत् के रूप से ही । तुम्हारे नयन और कान भी अपने धर्मों से अज्ञान हैं ; अर्थात् तुम देखकर भी कुछ नहीं देखते और सुनकर भी कुछ नहीं सुनते । हे तात ! तुम्हें यह जग कैसा दिखाई देता है ? तुम तो इस जगत् के नाम, गुण, रूप सभी से अनजान हो । कहने का भाव यह है कि शिशु को जग का कोई ज्ञान नहीं होता । कवि भी इस बात को स्वीकार करता है कि हे वत्स ! तुम जैसे न तो स्वयं को पहचानते हो और न जगत् को, वैसे ही मैं भी तुम्हारी ही तरह इन दोनों बातों से अज्ञान हूं । मैं भी नहीं जानता कि मेरा स्वरूप क्या है और जगत् की वास्तविकता क्या है । यदि मनुष्य इन दोनों बातों को जान जाए तो उसे स्वयं से भी घृणा हो जाएगी और जगत् से भी । इसीलिए किसी वस्तु की महानता उसकी अज्ञेयता में ही छिपी हुई है । जग को हम इसीलिए सुन्दर समझते हैं कि हम इसकी वास्तविकता से—इसके सच्चे रूप से—परिचित नहीं हैं ।

विशेष—१. अंगरेजी के प्रसिद्ध लेखक ए० जी० गार्डनर के विषय में कहा जाता है कि वे चाहे जितना छोटा विषय चुनें, उसे अपनी दार्शनिक विचार-धारा से बहुत गम्भीर बना देते थे। ठीक यही बात इस कविता के विषय में कही जा सकती है। शिशु के रूप-स्वभाव का वर्णन करते करते कवि अन्त में दर्शन की गहन धरा पर उतर आया है। इस पद में कवि का दार्शनिक रूप बिल्कुल स्पष्ट हो गया है।

२. अंगरेजी की एक कहावत है—Familiarity breeds contempt ठीक यही भाव पन्तजी की इस पंक्ति का भी है—वत्स ! जग है अज्ञेय महान् !

६. परिवर्तन

कविता परिचय—इस कविता का रचना-काल सन् १६२४ है। यह समय पन्तजी के लिए अत्यन्त भीषण संघर्ष का समय था। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में—"जीवन की वास्तविकता के प्रति, ऐहिक विपत्तियों की ठोकर खाकर, कवि का ध्यान सर्वप्रथम उसी समय गया था। कल्पना लोक की विहारिणी कवि प्रतिभा का मर्त्य-लोक की कठोरताओं से परिचय होते ही वह एक साथ उद्दीप्त एवं उद्बुद्ध हो उठी और विश्व में व्याप्त परिवर्तन की मार्मिक अनुभूति से तड़प उठी।" कवि का मन जग-जीवन का दर्शन लेकर मचल उठा। कहीं उसे नगर-उपवन विजन वनों में परिवर्तित होते हुए दिखाई दिए और कहीं परिवर्तन विश्व के रंगमंच पर तांडव नटवर का रूप धारण करके प्रलय में निर्माण की शिक्षा देने लगा। कहीं वह उसे शत-शत फेनोच्छ्वसित वासुकि सा दिखाई दिया तो कहीं दुर्जेय और विश्वजित् सम्राट्-सा। उसके इन्हीं विविध रूपों का पारायण करती हुई कवि की प्रज्ञा विश्व के तत्वपूर्ण दर्शन का अन्वेषण करने लगी। स्वयं पन्तजी के शब्दों में—'पल्लव' की प्रतिनिधि रचना 'परिवर्तन' में विगत वास्तविकता के प्रति असन्तोष तथा परिवर्तन के आग्रह की भावना विद्यमान है। साथ ही जीवन की अनित्य वास्तविकता के भीतर से नित्य सत्य को खोजने का प्रयत्न भी है, जिसके आधार पर नवीन वास्तविकता का निर्माण किया जा सके।"

'परिवर्तन' भावपक्ष और कलापक्ष दोनों ही दृष्टियों से इतना पूर्ण है कि यह समस्त पन्त-काव्य में ही नहीं, हिन्दी-साहित्य के काव्याकाश में उस दूरवर्ती तारे के सदृश है जो सबसे पृथक् रहकर अपनी ज्योति विकीर्ण करता है।

शान्तिप्रिय द्विवेदी ने इस कविता के भावपक्ष का मूल्यांकन इन शब्दों में किया है—"उसमें ('परिवर्तन' में) परिवर्तनमय विश्व की करुण अभिव्यक्ति इतनी वेदनाशील हो उठी है कि वह सहज ही सभी हृदयों को अपनी सहानुभूति के करुणा-सूत्र में बाँध लेना चाहती है। ····'परिवर्तन' में भिन्न-भिन्न वर्णों के चित्र हैं। कहीं शृंगार का अरुण राग है तो कहीं बीभत्स का नीला रंग है। एक ओर यदि 'स्वर्ण भृंगों' के गन्ध-विहार हैं तो दूसरी ओर 'वासुकि सहस्र-फन' की शत-शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार' है।"

जहाँ तक कलापक्ष का सम्बन्ध है, 'परिवर्तन' में अनेक कठोर और कुछ मृदुल भावों की अभिव्यक्ति स्थान-स्थान पर हुई है। उन्हीं भावों के अनुरूप भाषा एवं लय की संयोजना है। इस संयोजना के द्वारा कवि भावों को साकारता प्रदान करने में सफल भी हुआ है, यह कहने में हमें तनिक भी संकोच नहीं। अतः निरालाजी के ये शब्द असंदिग्ध ही हैं—'परिवर्तन' किसी भी बड़े कवि की कविता से निस्संकोच मैत्री कर सकता है।

कहाँ आज·········यौवन विस्तार ?

शब्दार्थ—पुरातन=प्राचीन। सुवर्ण=सुनहला; सब प्रकार के आनन्द से परिपूर्ण। भूतियों=ऐश्वर्यों। दिगंत=अत्यन्त व्यापक। ज्योति=यहाँ ज्ञान से तात्पर्य है। चुंबित=चूमने वाला। भाल=मस्तक। राशि-राशि=अत्यधिक। यौवन-विस्तार=सौन्दर्य की व्यापकता।

अर्थ—पन्तजी इन पंक्तियों में एक क्रांतिकारी कवि की प्रतिभा लेकर बोल रहे हैं जो सर्वदा एवं सर्वत्र परिवर्तन की इच्छुक है, जिसकी दृष्टि में परिवर्तन सृष्टि का शाश्वत धर्म है। कवि कहता है कि संसार का वह अत्यन्त प्राचीन काल (वैदिक युग) कहाँ गया जब पृथ्वी अत्यन्त व्यापक ऐश्वर्यों से परिपूर्ण थी और सर्वत्र शोभा के जाल फैले हुए थे। लोगों का ज्ञान इतना परिपक्व और विवर्द्धित था कि उसकी ज्योति पृथ्वी के उच्च मस्तक को चूमती थी। पृथ्वी की शोभा का विस्तार अत्यधिक व्यापक था। लेकिन वह सौंदर्य की व्यापकता भी आज नहीं रही; ज्ञान की उच्चता भी आज समाप्त हो गई और जीवन की आनन्दप्रद विभूतियों का भी अब नाम नहीं। कहने का भाव यह है कि परिवर्तन सृष्टि का शाश्वत धर्म है।

विशेष—इस कविता का समारंभ 'कहाँ' शब्द से हुआ है जो कवि के

हृदय की गहन कसक का सूचक है। मानो कवि ने इसका आरम्भ एक निराशा-भरा गहरा निःश्वास लेकर किया हो।

स्वर्ग की सुषमा······अपार !

शब्दार्थ—सुषमा = शोभा। साभार = कृतज्ञतापूर्वक। अभिसार = मिलन। प्रसून = फूल। शाश्वत = सदैव रहने वाले। मृग = भ्रमर। प्रथमोद्‌गार = प्रथम विचार।

अर्थ—कवि वैदिक युग की विशेषताओं का उल्लेख करता हुआ उस युग के नष्ट होने पर पश्चात्ताप करता हुआ कहता है कि आज तो वह वैदिक युग भी नहीं रहा जब पृथ्वी इतनी धन-धान्यपूर्ण और शोभायुक्त थी कि इसकी शोभा से आकर्षित होकर स्वर्ग की शोभा भी कृतज्ञतापूर्वक इससे मिलने के लिए पृथ्वी पर उतर आती थी और यहीं अपनी प्रणय-क्रीड़ा (अभिसार) किया करती थी। तब इतने अधिक पुष्प खिलते थे कि ऐसा ज्ञात होता था मानो उसका शृंगार सदैव स्थिर रहता है। उषा के प्रतिबिम्ब से सुनहले-से हुए भौंरे सुगंध के कारण उन पर सदैव विहार किया करते थे और अपनी गूँज में मानो वे बार-बार सृष्टि के प्रथम विचार की आवृत्ति किया करते थे। (सृष्टि के प्रथमोद्‌गार से संभवतः कवि का तात्पर्य अनवरत सुख से है क्योंकि तब दुःख को कोई नहीं जानता था, इसीलिए सुख ही जीवन का ध्येय और आदर्श बन चुका था और इसी की पुनरावृत्ति भ्रमर गूँज-गूँजकर किया करते थे।) उस समय नग्न सुन्दरता भी सुकुमार लगती थी (कवि का संकेत संभवतः वस्त्रों के अभाव से है) और लोगों के पास अपार ऋद्धि और सिद्धियाँ थीं जिनसे वे अपनी मनोकामनाओं को तुरन्त पूर्ण कर लेते थे। (आज ऐसा स्वर्णिम युग भी नहीं रहा। वह भी परिवर्तन के गर्भ में विलीन हो गया।)

अये, विश्व का······भ्रू पात !

शब्दार्थ—संसृति = सृष्टि। जरा = वृद्धावस्था। मरण = मृत्यु। भ्रू पात = भौंहों का गिरना; अर्थात् अन्धा होना।

अर्थ—वह वैदिक युग जो विश्व के स्वर्ग-स्वप्न की भाँति सुहावना था, जो सृष्टि के लिए प्रथम प्रभात था—प्रभात की तरह ही ज्ञान की ज्योति और आनन्द का देने वाला था, और जिसमें लोग दुःख, वृद्धावस्था, मृत्यु, अन्धा होना आदि दैहिक क्लेशों से अपरिचित थे, वह कहाँ गया? और साथ ही

वेद-प्रसिद्ध सत्य भी कहाँ गया ? अर्थात् ये सब नष्ट हो गए और इनके स्थान पर आज कायिक दुःखों की भरमार है; झूठ का बोलबाला है।

हाय ! सब……जीवन है भार !

शब्दार्थ — मिथ्या = झूठी। सौरभ = सुगंध। मधुमास = वसन्त। शिशिर = जाड़ा। मधु ऋतु = वसन्त ऋतु। अकिंचनता = दरिद्रता; सूख जाने पर।

अर्थ—आज के दुःख-दैन्य को देखकर कवि को विश्वास ही नहीं होता कि कभी ऐसा भी समय रहा होगा जब लोग सब प्रकार से सुख-सम्पन्न होंगे और दैहिक दुःखों का नाम ही नहीं होगा। वह कहता है कि ये सब बातें (कि कभी वैदिक युग-जैसा स्वर्ण-काल था) झूठी-सी जान पड़ती है। अब सृष्टि में परिवर्तन इतनी द्रुत गति से चल रहा है कि आज यदि वसन्त ऋतु अपनी सौरभयुक्त शोभा से सम्पन्न है तो कल वही शिशिर के द्वारा नष्ट होकर दुःख भरी साँसें भरने लगती है।

वसन्त ऋतु में पुष्पित और पल्लवित शाखा जिस पर तरह-तरह के पक्षी गूँजते रहते हैं और जो अपनी अत्यधिक सुषमा के कारण उसके भार से झुकी-सी जान पड़ती है, वसन्त के समाप्त होने पर वह तुरन्त सूखकर अपनी दरिद्रता से खिन्न होकर मानो कह उठती है कि जीवन केवल भार होता है।

विशेष—परिवर्तनशीलता दिखाने के लिए कवि ने जिन उदाहरणों को दिया है, वे अत्यन्त मार्मिक हैं।

आज पावस …… हाहाकार !

शब्दार्थ—पावस = वर्षा। नद = नदी। कराल = विकट। ज्वाल = अग्नि। [illegible] = रेता। ध्वान = शोर।

अर्थ—सृष्टि की क्षणभंगुरता सिद्ध करते हुए कवि कहता है कि आज जो नदी वर्षा के कारण अपने तटों को तोड़ती हुई बह रही है, कल वही सूख जायेगी और उसमें रेती के अतिरिक्त कुछ न बचेगा जिस पर काल अपने विकट चरण-चिह्नों को छोड़ जायेगा। प्रातःकालीन सुषमा को सन्ध्या अपनी ज्वाला से जलाकर नष्ट कर देती है; अर्थात् दिन का अवसान [illegible] सन्ध्या में होता है।

आज जो शरीर अखिल यौवन को अर्थात् सौन्दर्य के रंग और विकास के उभार लिये हुए है, कल वही हड्डियों का हिलता-सा कंकाल-मात्र रह जायेगा।

आज साँप जैसे लम्बे, चिकने और काले जो केश हैं, कल वे ही केंचुकी, कास और सिवार की भाँति भूरे हो जाएँगे। कहने का तात्पर्य यह है कि सुख के दिन तो सबके लिए चार दिन के लिए—बहुत थोड़े समय के लिए—आते हैं। उत्पश्चात् यहीं दुःख का हाहाकार सुनाई देता है।

विशेष—१. भावों की अभिव्यंजना प्रभावपूर्ण शैली में की गई है।

२. "गूँजते हैं सब के दिन चार" में मुहावरे का प्रयोग सार्थक है।

आज बचपन का..........भूल !

शब्दार्थ—जरा=वृद्धावस्था। प्रणय=प्रेम।

अर्थ—आज बचपन में जिस शरीर में कोमलता है, वृद्धावस्था में पहुँचकर वही पेड़ के पत्ते की तरह पक्कर पीला पड़ जाता है और जिस तरह पीला पत्ता कभी भी टूट सकता है, इसी प्रकार पका हुआ शरीर कभी भी मृत्यु को प्राप्त हो सकता है। जीवन में केवल चाँदनी रात के समान कुछ ही दिन के लिए सुख मिलता है, अन्यथा फिर दुःख का अन्धकार छा जाता है जिसकी सीमा अज्ञात होती है।

यौवनावस्था में जो कपोल फूल की भाँति खिले रहते हैं, उन्हें दुःख के कारण नयनों से झरता हुआ पानी उसी प्रकार झुलस देता है जैसे शिशिर ऋतु में हिमपात से फूल मारे जाते हैं। तब वे अधर भी, जो प्रेम में चुम्बन के लिए आतुर रहा करते थे; वे चुम्बन तो क्या ! उन अधरों को भी भूल जाते हैं जिनका वे चुम्बन करते थे। अर्थात् जीवन से प्रेम और उमंग बिल्कुल समाप्त हो जाती है।

विशेष—१. 'चार दिन सुखद चाँदनी रात,
और फिर अन्धकार, अज्ञात !'

उन पंक्तियों में मुहावरे का अच्छा प्रयोग है। लोक में यह मुहावरा इस प्रकार प्रचलित है—

'चार दिनों की चाँदनी फेर अँधेरी रात।'

२. 'शिशिर-सा झर नयनों का नीर
झुलस देता गालों के फूल।'

इसमें उपमा का अत्यन्त सार्थक एवं प्रभावशाली प्रयोग हुआ है।

३. 'अधर जाते अधरों को भूल' में विशेषण-विपर्यय अलंकार है।

मृदुल होठों का—कल्प अपार !

शब्दार्थ—हिमजल=बर्फ के जल के समान शीतलता एवं प्रसन्नता प्रदान करने वाला। समीर=वायु। शरदाकाश=शरत्कालीन आकाश की भाँति स्वच्छ एवं दिव्य, अर्थात् चिन्तामुक्त। विधुर=व्याकुल। कल्प=चौदह मन्वन्तर का काल; अर्थात् अनन्त समय।

अर्थ—जिस प्रकार हिम-जलवायु के झोंकों से सूख जाता है, उसी प्रकार बर्फ के जल के समान शीतलता एवं प्रसन्नता प्रदान करने वाले कोमल होंठों की हँसी वियोग की निःश्वास रूपी वायु से समाप्त हो जाती है; अर्थात् संयोग सुख वियोग-दुःख में बदल जाता है। शरत्कालीन आकाश की तरह शुभ्र एवं चिन्तामुक्त सरस भौंहें भी चिन्ता-रूपी गहन बादलों से घिरकर गम्भीर बन जाती हैं, अर्थात् जिसके जीवन में चिन्ता बिल्कुल नहीं होती, वह भी कुछ समय में चिन्ता के गहन भार से दब जाता है।

सूनी साँसों से प्रकट होता हुआ, व्याकुल कर देने वाला वियोग संयोग में होने वाले मधुर अधरों के मिलन को नष्ट कर देता है; अर्थात् वियोग के आने पर संयोग के अखिल सुख तिरोहित हो जाते हैं। अतः मिलन के और तज्जन्य आनन्द की प्राप्ति के पल तो सिर्फ दो-चार ही हैं; अर्थात् बहुत ही थोड़े समय तक मिलन-सुख मिलता है; तदनन्तर विरह का दुःख आ जाता है जिसकी समाप्ति की कोई अवधि नहीं होती। भाव यह है कि इस संसार में सुख की मात्रा बहुत ही कम है और दुःख का विस्तार असीम है।

अरे, वे ·····व्याज !

शब्दार्थ—अपलक=निर्निमेष। निरुपाय=अनाथ।

अर्थ—संयोग में जिन प्रेमी-प्रेमिका के नयनों ने निर्निमेष दृष्टि से एक दूसरे कर सुख भोगा था, वियोग में वे ही अनाथ एवं असहाय होकर रो पड़ते हैं। आलिंगन के समय जो रोएँ पुलकित होकर रोमांचित हो उठते थे वे आज काँटे की तरह चुभकर कसक उत्पन्न करते हैं।

यदि आज किसी को धन एवं सुख के सारे समान प्राप्त हो गए हैं, भले ही वे ऋण के रूप में हो तो कल दुःख उन्हें व्याज-समेत चुका लेता है, अर्थात् सुख को शीघ्र ही नष्ट करके दुःख की अनन्त छाया डाल देता है, क्योंकि काल को किसी की भी शरम नहीं होती। वह तो सभी पर अपना चक्र चलाता रहता है।

विशेष—१. "अरे, वे अपलक चार नयन,
आठ आँसू रोते निरुपाय,"
इन पंक्तियों में मुहावरों का सार्थक प्रयोग है।

२. 'अरे' शब्द कवि की कौतूहल-मिश्रित-संवेदना की अभिव्यक्ति करता है।

३. संयोग में जो वस्तु जितनी सुखदायक होती है, वियोग में वह उतनी ही दुःखद बन जाती है, यह सार्वभौमिक सत्य है। इसकी अभिव्यंजना इन पंक्तियों में हुई है—

"उठे रोओं के आलिंगन,
कसक उठते काँटों-से हाथ!"

४. निष्ठुर साहूकार सभी से अपना रुपया ब्याज-सहित चुका लेता है। अन्तिम पंक्तियों में काल को इसी निष्ठुर साहूकार के रूप में चित्रित किया गया है।

"विपुल मणि······फुफकार अपार!"

शब्दार्थ—विपुल=अतुल। विद्युत्-ज्वाला=बिजली की चमक। बयार=हवा।

अर्थ—कवि का मन्तव्य है कि सांसारिक विभूतियाँ बहुत दिन नहीं टिक पातीं। वे क्षणभंगुर होती हैं। इसी का प्रतिपादन करते हुए वह कहता है कि जैसे बिजली आकाश में चमककर उसी क्षण छिप जाती है, उसी प्रकार इन्द्र-धनुष की सी सतरंगी आभा से युक्त अतुल मणि और हीरों की शोभा का पुंज—संसार का विशाल वैभव—देखते-देखते कुछ ही दिनों में नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार ओस से लदी हुई डाल हवा के एक झोंके से ही ओस को गिरा देती है, उसी प्रकार मोती-रूपी ओस से लदी हुई जीवन-रूपी डाली काल-रूपी हवा के झोंके से देखते-देखते ही रिक्त हो जाती है।

विशेष—इन पंक्तियों में उपमान बहुत ही उपयुक्त और प्रभावशाली हैं।

"खोलता इधर······उठते उडुगन!"

शब्दार्थ—हुलास=प्रसन्नता। चयमार=दुःख। अविरत=लगातार। उडुगन=तारे।

अर्थ—इधर जन्म अपनी आँखें खोलता है और उधर मृत्यु उन आँखों को क्षण-क्षण मूँदती रहती है, अर्थात् जन्म और मृत्यु जीवन के शाश्वत धर्म हैं।

जिसने जन्म लिया है, उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है। बल्कि यों कहना चाहि कि जन्म का पर्यवसान मृत्यु में ही होता है। जो जीवन अभी थोड़ी देर पहले उत्सवों में आनन्द ले रहा था, हँस रहा था और प्रसन्न हो रहा था, उसी में अब दुःख, आंसू और निराशा आ गई है।

ऐसा प्रतीत होता है कि जगत् की नश्वरता देखकर वायु स्वयं ही शून्यता-भरी निःश्वासें ले रही हो और ओस के बहाने से नीला आकाश पत्तों पर चुप-चाप आँसू गिरा रहा हो। लहरों के उत्थान-पतन के मिस मानो समुद्र का मन सिसक रहा हो और तारे सिहर रहे हों।

विशेष—१. जीवन और मृत्यु की अवश्यम्भाविता पर गीता में भी कहा गया है—

"जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु."

२. कवि की उत्प्रेक्षाएँ अत्यन्त भावपूर्ण हैं।

"अभी उत्सव और हास हुलास,
अभी अवसाद, अश्रु उच्छ्वास।"

इन पंक्तियों में यथासंख्य अलंकार है।

३. 'अभी' शब्द का प्रयोग जग की अस्थिरता के भाव को और भी गहरा बना देता है।

अहे निष्ठुर······उत्थान पतन !

शब्दार्थ – तांडव नर्तन=प्रलयकारी नृत्य (कहा जाता है जब शिवजी प्रलय का आह्वान करते हैं तो तांडव नृत्य करते हैं)। विवर्तन=परिवर्तन। नयनोन्मीलन=आँख खोलना, जन्म लेना। निखिल=समस्त।

अर्थ – कवि परिवर्तन का मानवीकरण करके उसे सम्बोधित करते हुए कहता है कि हे निष्ठुर परिवर्तन ! विश्व में जो दुःखपूर्ण परिवर्तन आते हैं, उनका कारण तुम्हारा तांडव नृत्य ही है, अर्थात् तुम्हीं संसार में दुःखों के स्रष्टा हो। तुम्हारे जन्म लेने से ही संसार के समस्त उत्थान और पतन चलते हैं, अर्थात् तुम्हारे कारण ही मनुष्य उत्थान की चोटियों पर चढ़ता है अथवा पतन के गर्तों में गिरता है। संसार में होने वाली हलचलों के एकमात्र कारण तुम्हीं हो।

विशेष—परिवर्तन का मानवीकरण करने से भावों का प्रभाव और भी गहरा हो गया है।

अहे वासुकि······दिङ् मंडल !

शब्दार्थ—वासुकि=सर्पराज, शेषनाग। लक्ष=लाख, असंख्य। विक्षत=घावयुक्त, दु:खी। वक्षःस्थल=हृदय, छाती। शत-शत=सैकड़ों। फेनोच्छ्वसित=झाग से भरे हुए साँस। स्फीत=बड़ी। फूत्कार=फुंकार। घनाकार=बादल के रूप में। अम्बर=आकाश। गरल=विष। कंचुक=केंचुली। कल्पान्तर=कल्प समय की गणना जिसमें मानव के चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष होते हैं; अतः कल्पान्तर से तात्पर्य सृष्टि की पुन: रचना से है। विवर=बिल। वक्र=टेढ़ा। कुण्डल=कुण्डली। दिङ् मंडल=दिशाओं का गोला।

अर्थ—इन पंक्तियों में कवि परिवर्तन की तुलना शेषनाग से करता हुआ कहता है कि हे परिवर्तन ! तुम शेषनाग के समान हो। यदि उसके सहस्र फन हैं तो तुम्हारे भी विनाश करने के वह्नि, बाढ़, भूकम्प आदि असंख्य साधन हैं। जिस प्रकार सर्प अपने दिखाई न देने वाले असंख्य चरणों से (साँप के पैर, सुनते हैं पेट में ही होते हैं, इसीलिए वे दिखाई नहीं देते) पृथ्वी की छाती पर अपने चिह्न छोड़ जाते हैं, उसी प्रकार तुम भी अपने कारण-रूपी अनेक चरणों से आते हो (उन कारणों का पता नहीं चलता) और संहार, मृत्यु, बीमारी आदि के रूप में अपने असंख्य चिह्न जगत् की छाती पर छोड़ जाते हो। जिस प्रकार सर्प की फुंकारें अत्यन्त भयंकर होती हैं और जिस व्यक्ति को वे लग जाती हैं, वह चक्कर खाने लगता है, उसी प्रकार तुम भी अपनी झाग से युक्त असंख्य साँसों के द्वारा अनेक बड़ी भयंकर फुंकारें मारते हो (ओला, दृष्टि आदि दैनिक प्रकोप परिवर्तन की फुंकार हैं)। जब व्याल या सर्प क्रुद्ध होता है तो उसके मुँह में झाग आ जाते हैं, इसीलिए परिवर्तन का क्रोधित रूप दिखाने के लिए 'फेनोच्छ्वसित' कहा है। तुम्हारी भयंकर फुंकारों के कारण ही मानो संसार का आकाश बादलों के रूप में चक्कर खा जाता है (आकाश में बादल अपनी स्वाभाविकता के कारण घूमते रहते हैं। कवि की उत्प्रेक्षा है कि ये बादल नहीं घूमते, बल्कि परिवर्तन की फुंकार के डर अथवा प्रभाव से आकाश चक्कर खा रहा है)। सर्प का दन्त विष से भरा हुआ होता है, जिससे मनुष्य की तुरन्त मृत्यु हो जाती है, उसी प्रकार मृत्यु ही मानो तुम्हारा विष

भरा हुआ दांत है। सर्प अपनी पुरानी केंचुली उतारकर नई धारण करता है, उसी प्रकार तुम भी पुरानी सृष्टि का विध्वंस करके नई सृष्टि की रचना करते हो। यही क्रिया मानो तुम्हारा केंचुली का उतरना है। जिस प्रकार सर्प अपने बिल में रहता है, उसी प्रकार मानो समस्त संसार ही तुम्हारा बिल है। जिस प्रकार सर्प टेढ़ी कुण्डली मारकर बैठता है, उसी प्रकार मानो दिशाओं के गोलाकार के रूप में तुम कुण्डली मारकर बैठे हुए हो।

इस प्रकार हे परिवर्तन ! तुम प्रत्येक दृष्टि से शेषनाग के समान हो।

विशेष—१. भावों की भयंकरता की अभिव्यक्ति के लिए तदनुकूल भाषा और लय का विधान किया गया है।

२. सम्पूर्ण पद में सांग रूपक अलंकार है।

३. 'अहे' शब्द भय का सूचक है।

अहे दुर्जेय ·····धरातल !

शब्दार्थ—दुर्जेय=जिसे जीता न जा सके। विश्वजित्=संसार को जीतने वाला। सुरवर=श्रेष्ठ देव। नरनाथ=मानवपति। सतत=निरन्तर। नृशंस=क्रूर। अनियन्त्रित=बिना किसी रोक-टोक के। संसृति=संसार। उत्पीड़ित=दुखी। पद-मर्दित=पैरों से कुचला हुआ। प्रतिमाएँ=मूर्तियाँ। विभव=ऐश्वर्य। संचित=एकत्रित। आधि=मानसिक क्लेश। व्याधि=शारीरिक क्लेश। वात=तूफान। वह्नि=आग। निरंकुश=स्वच्छन्द। पदाघात=पैरों की चोट। विह्वल=दुखी।

अर्थ—इन पंक्तियों में कवि ने परिवर्तन की तुलना उस क्रूर और अत्याचारी राजा से की है जो अन्य राजाओं पर आक्रमण करके उनकी शान्ति भंग कर देता है तथा अनेक नगर और शहरों को उजाड़ देता है। हे परिवर्तन ! तुम विश्व को जीतने वाले हो, किन्तु स्वयं अजेय हो—तुम्हें कोई नहीं जान सकता। जिस प्रकार श्रेष्ठ देव और सम्राट् इन्द्रासन के आगे नतमस्तक होते हैं, उसी प्रकार वे तुम्हारे आगे भी झुकते हैं (परिवर्तन के चक्र से कोई नहीं बच सकता, चाहे वह देव हो या मानव)। जिस प्रकार रथ के पहियों के साथ उनके धुरे घूमते रहते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे परिवर्तन-रूपी रथ के पहियों के साथ चढ़कर देव और मानव के भाग्य दुर्भाग्य में परिणत होकर (प्रकाश

बनकर) घूमते हैं, अर्थात् तुम बड़े-बड़े सौभाग्यशालियों को पल भर में ही अनाथ बना देते हो।

तुम क्रूर एवं आक्रामक राजा के समान हो। जिस प्रकार वह राजा धरा के राज्यों पर बिना किसी बाधा के आक्रमण करके नगर, भवन आदि को तोड़ देता है, उसी प्रकार तुम भी बिना किसी रोक-टोक के स्वच्छन्द गति से संसार पर आक्रमण करके उसे दुःख पहुँचाते हो, उसे अपने पैरों से कुचल देते हो और बसे हुए नगरों को उजाड़कर, भवनों को धराशायी करके, मूर्तियों को तोड़ कर तुम जगत् के चिर-संजोए वैभव, कला और कौशल को नष्ट कर देते हो। (अत्याचारी राजा भी विजित राजा के साथ ऐसा ही दुर्व्यवहार करता है।) आक्रामक राजा की असंख्य सेनायें होती हैं, उसी प्रकार दैहिक दुःख, मानसिक सन्ताप, अत्यधिक वर्षा, तूफ़ान उपद्रव, अमंगल, आग, बाढ़, भूकम्प आदि तुम्हारी विपुल सेना है। हे स्वच्छन्द परिवर्तन-राजा! तुम्हारी सेना इतनी विकट है कि उसके पैरों की चोट से दुःखी होकर पद-दलित धरा का हृदय टल-मल करके हिल उठता है। (अत्याचारी राजा को देखकर भी तो लोग डर के मारे काँपने लगते हैं।

विशेष—१. भावानुसारिणी भाषा, लय और शब्द-प्रयोग है।

२. समस्त पद में सांग-रूपक है।

जगत् का ......आमंत्रण।

शब्दार्थ—अविरल = सतत, लगातार। हृत्कम्पन = हृदय की धड़कनें। सूचन = सूचक, सूचना देने वाला। निखिल = समस्त। आमंत्रण = बुलावा।

अर्थ - हे परिवर्तन! जगत् में रहने वाले मनुष्यों के हृदय की जो धड़कनें लगातार चलती रहती हैं, वे मानो तुम्हारे ही भय से काँप रही हैं। मनुष्य की पलकें बन्द होकर मानो तुम्हें बुलावा दे रही हैं। (इन पंक्तियों में कवि ने एक अत्यंत सूक्ष्म भाव की अभिव्यक्ति की है। भय के कारण मनुष्य की आँखें बरबस बन्द हो जाती हैं और वह भयकारी के समक्ष आत्म-समर्पण करने के लिए विवश हो जाता है। 'पलकों का मौन पतन' कहकर कवि ने एक ओर मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है, और दूसरी ओर मनुष्य की दयनीय विवशता की भी अभिव्यक्ति की है।)

विशेष—इन पंक्तियों में कवि की उत्प्रेक्षाएँ अत्यन्त सूक्ष्म और भावपूर्ण हैं।

विधुर वासना ···समाधिस्थल !

शब्दार्थ—विधुर=उदास । वासना=इच्छा, सुगन्ध । विकच=अधखिला हुआ अधूरा । शतदल=कमल । मानस=हृदय । कुटिल=क्रूर । कृमि=कीड़ा । स्वेद सिंचित=पसीने से कमाई हुई । स्वर्ण शस्य=पकी हुई फसल । करोपल=ओले । नैश=रात का ।

अर्थ—इन पंक्तियों में कवि परिवर्तन के विध्वंस-कार्यों को बताता हुआ कहता है कि हे परिवर्तन ! तुम कमल में घुसे हुए कुटिल कीड़े के समान हो । जिस प्रकार वह कीड़ा सुगन्ध और विकास की मधुर कामना लेकर खिलने वाले कमल को अधखिला होने पर ही काट देता है, उसी प्रकार तुम मनुष्य के हृदय की अपार मधुर इच्छाओं को तृप्त होने से पूर्व ही कुचल देते हो । तुम उन्हें हर समय कुचलते रहते हो । जब संसार में किसान अपने पसीने से कमाई हुई फसल को पकी देखकर मनसूबे बाँधने को आतुर होता है तो तुम्हीं ओले बनकर उसे नष्ट कर देते हो और इस प्रकार वह बेचारा कृषक अपने वांछित इष्ट-फल से सदा के लिए हाथ धो लेता है । उसकी मधुर इच्छाएँ हृदय से उठकर हृदय में ही विलीन हो जाती हैं । *नये परिवर्तन !* ऐसा प्रतीत होता है कि तुम्हारे ही भय से संसार की दिशायें सदैव गुंजित होती रहती हैं और रात्रि का समूचा आकाश ही तुम्हारा समाधिस्थल है । (रात्रि का आकाश बहुत भयानक और सूना होता है, इसीलिए कवि ने उसे परिवर्तन का समाधिस्थल कहा है, क्योंकि परिवर्तन का कार्य भी भयानकता और सूनेपन की उत्पत्ति करना है ।)

विशेष—१. परिवर्तन को कुटिल कृमि से उपमित करना भावों की सरस अभिव्यंजना है ।

२. 'विकच' शब्द से करुणा का उद्रेक होता है ।

३. नैश गगन को परिवर्तन का समाधिस्थल कहना बहुत ही उपयुक्त और भाव-व्यंजक है ।

काल का अकरुण······इतिहास !

शब्दार्थ—अकरुण=निर्मम, भृकुटी-विलास । भ्रू=भंग । परिहास=मजाक ।

अर्थ—काल का निर्मम भ्रू-भंग मानो तुम्हारा मजाक है (काल के कुटिल नयन करने से संसार में विपत्तियों के भीषण पहाड़ टूट पड़ते हैं, उन्हें परिवर्तन

का परिहास कहना परिवर्तन की भयंकरता की चरम-सीमा की अभिव्यक्ति करता है) और संसार में जो भी दुःखभरी कहानी है, वह मानो तुम्हारी ही कहानी है; अर्थात् तुम्हारे अतिरिक्त ससार को और कोई दुःख नहीं देता ("तुम्हारा ही इतिहास' कहकर कवि ने स्पष्ट कर दिया है कि परिवर्तन का धर्म सदैव संसार को उत्पीड़ित करना और रुलाना है)।

एक कठोर कटाक्ष ·····गुरु गर्जन !

शब्दार्थ—प्रलयकर=प्रलय करने वाला। समर=युद्ध। निसर्ग=स्वभाव, यहाँ विशेषण होने के कारण इसका अर्थ होगा—स्वाभाविक। सृति=सृष्टि। अभ्रध्वज=गगन है ध्वजा जिनकी; अर्थात् बहुत ऊँचे; गगन-भेदी। सौध=महल। शृंगवर=पर्वत। भूति=वैभव।

अर्थ—तुम्हारे एक कठोर कटाक्ष से ही सब कुछ प्रलय के गर्भ में समा जाता है। वह कटाक्ष मानो स्वाभाविक गति से चलने वाली सृष्टि में उच्छृंखल प्रवृत्ति के कारण एक प्रकार से युद्ध-सा छेड़ देता है जिसमें सब नष्ट हो जाते हैं। आकाश को अपनी ध्वजा बनाने वाले अत्यन्त ऊँचे-ऊँचे महल और विशाल पर्वत धूलि में मिल जाते हैं। मेघों की तरह गहनतम रूप से छाये हुए साम्राज्यों के ऐश्वर्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। अये परिवर्तन ! तुम्हारा यदि एक रोम भी हिल जाए तो उसका कम्पन समस्त दिशाओं एवं पृथ्वी को कँपा देता है और उससे डरकर पक्षी और नौकाओं की भाँति तारे भी पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं। तुम्हारे कम्पन से भयभीत होकर सागर भी असंख्य झागों से आवृत हो जाता है, मानो वे झाग ही फन हों और इस प्रकार समुद्र सर्प के समान बनकर तुम्हारे इशारे पर नाचने लगता है। जिस प्रकार हाथी बंधन में पड़ जाने पर चिंघाड़ने लगता है, उसी प्रकार दिशाओं के पिंजरे में आबद्ध होकर और हवा से आहत होकर आकाश भी दुःख के मारे गम्भीर गर्जन करने लगता है।

विशेष—१. इन पंक्तियों में परिवर्तन के भयंकर रूप का चित्रण किया गया है, अतः भावानुकूल भाषा और लय की संयोजना की गई है।

२. 'आलोड़ित···नर्तन', और 'दिक्पिंजर······गुरु गर्जन' में उपमा अलंकार हैं।

जगत् की क्षत····उर पाषाण !

शब्दार्थ – शत=सैकड़ों; असंख्य। कातर=दुःखपूर्ण। चीत्कार=चिल्लाहट। बधिर=बहरा। अश्रु-स्रोत=आँसुओं का अविरल प्रवाह। पाषाण=पत्थर।

अर्थ – हे निष्ठुर परिवर्तन ! तुम्हारे ही द्वारा दुःख दिये जाने पर संसार असंख्य दुःखपूर्ण चिल्लाहटों के साथ चिल्ला रहा है। ये चिल्लाहटें इतनी तीक्ष्ण और प्रखर हैं कि यदि तुम उन्हें सुनो तो वे तुम्हारे कानों को फोड़ सकती हैं, किन्तु तुम तो बहरे बने हुए हो। किसी की भी नहीं सुनते, अपने ही क्रूर कर्मों में लगे रहते हो। तुम्हारे ही प्रदत्त दुःखों के कारण संसार के लोगों की आँखों से आँसुओं के अविरल असंख्य प्रवाह बह रहे हैं, किंतु तुम्हारे वज्र-हृदय पर उनका भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। तुम तो सदैव विध्वंसक और दुखद ही बने हुए हो।

विशेष – १. इन पंक्तियों में परिवर्तन के दुष्कर्मों का काव्यमय एवं प्रभावपूर्ण वर्णन है।

२. 'बेधती बधिर ! तुम्हारे कान', और 'अश्रु स्रोतों की अगणित धार सींचती उर पाषाण' में विरोधाभास है।

अरे क्षण-क्षण ·····विराम !

शब्दार्थ – सौ-सौ=सैकड़ों; असंख्य। जगती=संसार। चतुर्दिक्=चारों ओर। उत्पात=विप्लव, उपद्रव। ग्रस्त करतो=नष्ट करती। भ्रान्ति=अज्ञानता। नश्वर=नष्ट होने वाला। तात्पर्य=अर्थ। अविरत=लगातार। विराम=आराम; शान्ति।

अर्थ – हे निष्ठुर परिवर्तन ! तुम्हारे दिए हुए दुःख इतने अनन्त और अपार हैं कि एक-एक क्षण में असंख्य दुःख एवं निराशा-भरे साँस लोगों के हृदयों से निकलकर संसार के आकाश पर छाते रहते हैं। तुम्हारे ही कारण सुख और शान्ति को नष्ट करने वाले विप्लव चारों ओर गहन गर्जना करके होते रहते हैं।

परिवर्तन के इन क्रूर कर्मों को देखकर कवि इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इस संसार में सुख और शान्ति मानना केवल अज्ञानता ही नहीं, बल्कि दुर्बल अज्ञानता है (यहाँ 'दुर्बल' विशेषण ने भावों को मार्मिक प्रभाव प्रदान कर दिया है) क्योंकि इस नाशवान् संसार में शान्ति कहीं नहीं है, सर्वत्र अशान्ति ही अशान्ति है। बल्कि यों कहना उचित होगा कि इस सृष्टि का अर्थ ही अशान्ति

है, अर्थात् अशान्ति का ही दूसरा रूप सृष्टि है। यह संसार एक विस्तृत युद्ध-स्थल के समान है जहाँ जीवन के युद्ध लगातार चलते रहते हैं और लोग केवल स्वप्न में ही इससे आराम पा सकते हैं; अर्थात् स्वप्न ही एक ऐसी अवस्था है जब मनुष्य जीवन की संघर्षमयता को कुछ पलों के लिए भूल जाता है।

विशेष—१. भावों की काव्यमय अभिव्यक्ति हुई है।

२. अन्तिम पाँचों पंक्तियाँ कवि के दृढ़ विश्वास एवं निष्कर्ष की द्योतक हैं जिनमें भाव इस प्रकार कूट-कूटकर भर दिए गए हैं कि ये किसी भी साहित्य की सूक्तियों से टक्कर ले सकती हैं।

३. 'जगत अविरत जीवन-संग्राम' 'Life is but a struggle' का ही भावानुवाद जान पड़ता है।

एक सौ वर्ष ··· माया जाल।

शब्दार्थ—एक सौ वर्ष=यहाँ इसका अर्थ है कुछ समय के लिए। उपवन=बाग। विजन=जन-रहित, निर्जन; भयानक। सृजन=उत्पत्ति। विभव=विकास। संहार=नाश। गर्वोन्नत=गर्व से ऊपर सिर उठाये। हर्म्य=महल। उलूक=उल्लू। मेघ=बादल। मारुत=हवा। माया-जाल=खेल-खिलवाड़।

अर्थ—कवि संसार की अस्थिरता, नश्वरता और क्षणभंगुरता का प्रतिपादन करते हुए कहता है कि जो नगर कुछ समय के लिये उपवन के समान महकते और चहकते थे, वे ही फिर निर्जन वन में बदल गए, अर्थात् उनमें न कोई जीवधारी रहा और न कुछ वैभव ही। ऐसा प्रतीत होता है कि इस संसार (जगत) का क्रम ही उत्पत्ति, विकास और विनाश है, अर्थात् यहाँ पहले कोई चीज उत्पन्न होती है, फिर उसका विकास होता है और अन्त में उसका नाश हो जाता है।

आज जो महल अपार गर्व से अपने सिरों को ऊपर उठाए हुए हैं, जिनमें रत्नों की आभा से दीपावली-सी जल रही है और जिनमें विवाह आदि उत्सवों की अनन्त प्रसन्नता में मत पड़े जा रहे हैं, कल वे ही नष्ट हो जाते हैं और वे उल्लू के निवास के ही स्थान-मात्र रह जाते हैं (उल्लू नाश का प्रतीक माना जाता है, इसीलिए 'उल्लू बोलना' से 'नाश होना' का अर्थ लिया होता है), साथ ही झिल्लियों की झनकारें भी सुनाई पड़ती हैं (ये झनकारें भी विध्वंस की प्रतीक हैं और वातावरण को भयानक बना देने वाली होती हैं)।

निष्कर्ष यह है कि दिन और रात के चक्कर में घूमता हुआ यह विशाल विश्व मानो बादल और हवा की खिलवाड़ के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जिस प्रकार हवा बादलों को देखते-देखते ही उड़ा ले जाती है, उसी प्रकार संसार का अस्तित्व भी परिवर्तन के कराल गाल में समा जाता है।

विशेष—१. इन पंक्तियों में काव्यमयी दार्शनिकता का प्रभावोत्पादक प्रस्फुरण हुआ है।

२. पन्तजी की यह पंक्ति—'उलूकों के कल भग्न विहार' कबीरजी की इस पंक्ति से पूर्ण साम्य रखती है—

"वे मन्दिर खाली पड़े बैसण लागे काग।"

३. विश्व को 'मेघ मारुत का मायाजाल' कहना उसकी नश्वरता की कविता के सशक्त शब्दों में अभिव्यक्ति करना है।

४. 'यही तो है असार संसार,
सृजन, सिंचन, संहार !',

इन पंक्तियों की लय में कवि की अपार व्यथा ध्वनित होती है।

अरे, देखो······नाल।

शब्दार्थ—आभा=शोभा। दिगम्बर=दिशाओं से आवृत आकाश। सहम रहा=भयभीत-सा हो रहा।

अर्थ—अरे! उधर देखो, जहाँ दिशाओं से आवृत होकर आकाश बहुत सूना-सूना और भयभीत-सा दिखाई दे रहा है। ऐसा ज्ञात होता है कि इस भयभीत-से आकाश के रूप में संसार का भय प्रकट हो रहा हो। हे भगवान्! आपकी लीला भी बड़ी ही विचित्र है!

जिस नारी के प्रातःकाल ही सन्तानोत्पत्ति हुई थी और उसे माता की संज्ञा मिली थी, वात्सल्यभाव के कारण जिसके पयोधर उदार उरोज बने थे; अर्थात् उसके स्तनों में वात्सल्यभाव के कारण दूध का स्रोत फूटा था; जिसके हृदय की मधुर इच्छा को मनमाने ही शिशु के रूप में पहली बार आकार मिला था (वह शिशु मानो उसकी मधुर इच्छाओं का साकार रूप ही था), वह शिशु देखते-देखते ही सदा के लिए उसकी गोद से छिन गया और उसका अस्तित्व बिना काम की पड़ी हुई नाल के समान रह गया, जिसमें फलने-फूलने और पल्लवित होने की शक्ति नहीं होती।

विशेष—१. शिशु की उत्पत्ति और मृत्यु का वर्णन करके कवि ने अत्यन्त कारुणिक भावों की अभिव्यंजना की है।

२. 'अरे' शब्द भय, विस्मय और विषाद का सूचक है।

अभी तो मुकुट······छिन्नाधार !

शब्दार्थ—मुकुट=मौर। हलदी के हाथ होना=विवाह होना। वात हत =हवा से गिराई हुई। छिन्नाधार=आधारशून्य।

अर्थ—इन पंक्तियों में कवि ने अत्यन्त कारुणिक भाव की अभिव्यंजना की है। वह कहता है, कल ही मौर बँधकर जिसका विवाह हुआ था और जो अभी लज्जा का त्याग करके पति से दो बातें भी नहीं कर पाई थी तथा जिसके चुम्बन-विहीन कपोल पति का चुम्बन पाकर प्रसन्नता एवं उल्लास से खिले भी न थे, उसी अभागी नवपरिणीता का पति आज स्वर्गलोक को सिधार गया। उसकी मृत्यु से पत्नी के वैवाहिक सब स्वप्न टूट गये, मानो उसके स्वप्नों का संसार ही समाप्त हो गया। उसका सिन्दूर, जो पति की उपस्थिति में मन को शान्ति और शीतलता प्रदान करता था, आज उसके अभाव में अंगारे की भाँति जलाने वाला बन गया है और उस पत्नी का दशा उस कोमल कलिका के समान है जिसे हवा ने गिराकर आधारशून्य कर दिया हो।

विशेष—१ 'हुए कल ही हल्दी के हाथ' में मुहावरे का भाव-व्यंजक प्रयोग है।

२. ऐसा ही भाव कबीर के इस दोहे में भी है—

'कबिरा यह जग कटु नहीं खिन खारा खिन मीठ।
काल्हि जो बैठा मंड पै आज मसाने दीठ॥

३. 'वात हत लतिका वह सुकुमार पड़ी है छिन्नाधार' में कोमल एवं मर्मस्पर्शी भावों की कारुणिक व्यंजना हुई है।

काँपता उधर······जाता संसार !

शब्दार्थ—दैन्य=दीनता-युक्त भिखारी। निस्ताय=अनाथ। रज्जु=रस्सी। कृश=दुर्बल, पतला। काय=शरीर। दुलार=ममत्व, ममता। उदर =पेट। सिड़ी=प्रखर। श्वान=कुत्ता। अघोर=नग्न। वामन-डग=राजा बलि को छलने के लिए भगवान् ने वामन का रूप बनाकर धोखे से अपने दो ही डगों में उससे सारी पृथ्वी ले ली थी। इस अन्तर्कथा के आधार पर इसका अर्थ होगा छल-कपट से पूर्ण। स्वेच्छानुसार=अपनी इच्छा से।

अर्थ—इन पंक्तियों में समाज में फैली विषमता और तज्जन्य अत्याचारों का वर्णन किया गया है। कवि भिखारी की दशा का दयनीय चित्र खींचता हुआ कहता है कि यह दीनतापूर्ण भिखारी प्रखर शिशिर में जाड़े से असहाय होकर कांप रहा है (उसके पास वस्त्रादि भी नहीं है जिनसे वह जाड़े से अपनी रक्षा कर सकें) जाड़े के मारे उसका शरीर रस्सी की भांति ऐंठा जा रहा है। उसके दुबले-पतले शरीर में छेद हो गए हैं। अपने अस्थि-पंजर के अतिरिक्त उसका इस संसार में और कुछ है ही नहीं, और न उसे किसी के प्रति ममत्व है। उसके पास अपना घर भी नहीं है जिसके लिए उसके हृदय में थोड़ा-बहुत भी ममत्व होता, उसके प्रति उसकी कुछ जिम्मेदारियाँ होतीं। उसके सिर पर किसी उत्तर-दायित्व का भार नहीं, यदि कुछ भार है तो पेट में पड़े हुए दानों का। उसे देखकर प्रखर शिशिर (जाड़े) का कुत्ता बार-बार भौंकता है और, खेद है, कि वह उसके वस्त्र-विहीन शरीर को चीर देता है (यदि शरीर पर वस्त्र होते हैं तो कुत्ते के दाँत प्रायः उन्हीं में रुक जाते हैं और शरीर को कोई हानि नहीं होती), उस भिखारी के होठों में न कोई स्वर है, अर्थात् उसमें बोलने की शक्ति नहीं है, न तन में प्राण हैं और न आँखों में पानी।

एक ओर तो यह दशा है और दूसरी ओर रोमों की भांति असंख्य हाथों को फैलाकर धनलोलुप समाज के गृह-द्वारों को लूट रहे हैं, अर्थात् भारी लूट मचा रहे हैं। और एक ओर छल-कपट से पूर्ण अपने कार्यों के द्वारा वे धोखे से संसार की सम्पत्ति को अपने अधिकार में कर रहे हैं। उनका यह अत्याचार संसार को इसी प्रकार नष्ट कर देता है जिस प्रकार टिड्डियों का समूह लहराती हुई फसल को चाट जाता है।

विशेष—१. भिखारी की दयनीय दशा का चित्रण तथ्यपूर्ण और प्रभावशाली है।

२. 'हरे' शब्द हृदय से अकस्मात् फूटे विषादयुक्त विस्मय का बोधक है।

बजा लोहे के······गाता संसार।

शब्दार्थ—दन्त=दाँत। जिह्वा=जीभ। वक्र=कुटिल। रोष=क्रोध। अस्थि=हड्डी। दुकाल=असमय, बुरा समय। शोणित=रक्त, खून। दिगंत=दिग्-व्यापी; चारों ओर। खर=तीक्ष्ण

अर्थ—अपने लोहे के कठोर दाँतों को बजाती हुई हिंसा की चंचल जिह्वा

मनुष्यों को नचाती है (लोहे के कठोर दाँतों से मतलब अस्त्र-शस्त्रादि से है) और क्रोध-रूपी सर्प अपने अंधे क्रोध में अंधा होकर, भृकुटि के कुटिल कुण्डल को मरोड़ कर तथा अपने फन को खोलकर फुंकारता है। लालची गीधों की तरह ये रोग-शोक-रूपी गिद्ध नित मनुष्य को नोचते रहते हैं और अस्थि-पंजर का राक्षस असमय में ही अपने बाल को—मनुष्य को—निगल जाता है।

मनुष्यों के खून की मूसलाधार वर्षा करके और रुण्ड-मुण्डों की बौछार करके प्रलय के घन के समान विकट आकार में प्रकट होकर संहार (नाश) चारों दिशाओं में गरजता है तथा तीक्ष्ण शस्त्रों की झंकार करके संसार फिर महाभारत की पुनरावृत्ति कर देता है, अर्थात् संसार में महाभारत जैसा सर्वव्यापी एवं विध्वंसक युद्ध छिड़ जाता है।

कोटि मनुजों······के शृंगार !

शब्दार्थ—कोटि=करोड़, असंख्य। तारक=तारे।

अर्थ—इस प्रकार का दिगन्त-व्यापी महाभारत जैसा भीषण युद्ध छिड़ने से मनुष्यों का एवं संसार का विध्वंस हो जाता है इसी का वर्णन करते हुए कवि कहता है—असंख्य मनुष्य काल-कवलित हो जाते हैं और उनके मणियों से सजे हुए नयन कराल आघात से सदैव के लिए बन्द हो जाते हैं तथा समस्त दिशायें-रूपी हाथियों के सिंहासन समस्त देश के मरे हुए व्यक्तियों के कंकालों से भर जाते हैं। गले में पहनी हुई मोतियों की मालाओं की लड़ें बिखर जाती हैं और वे आँसुओं के शृंगार के अतिरिक्त कुछ नहीं रह पातीं; अर्थात् सारा वैभव दुःख और शोक का प्रतीक बन जाता है।

रुधिर के······उस पार !

शब्दार्थ—रुधिर=खून। चितानल=चिता की आग। अरण्य-चीत्कार=वृथा रोदन।

अर्थ—प्रातःकाल की लालिमा मानो जगत् का खून है और सायंकाल की लाली मानो चिता की आग की लपटें हैं। आकाश का निर्माण मानो संसार की शून्य साँसों से हुआ है और विशाल सिन्धु उसके शोकपूर्ण आँसुओं से बना है। कहने का अभिप्राय यह है कि संसार में सर्वत्र दुःख ही दुःख है। इस संसार में सुख की मात्रा सरसों के बीज की तरह बहुत ही थोड़ी है और दुःख का विस्तार सुमेरु पर्वत की भाँति विशाल है। दुःख एवं शोक से परिव्याप्त यह जगत् मानो

जग नहीं, जग का कंकालमात्र है। अतः यहाँ दुःख से दुःखी होकर सुख के लिए रोदन करना वृथा है। इस संसार में न कहीं शान्ति है और न सुख। सुख और शान्ति तो इस जग की परिधियों से बाहर है।

विशेष—१. इन पंक्तियों में जग की दुःखपूर्ण अवस्था का मार्मिक वर्णन है।

२. 'अरण्य रोदन' अंग्रेजी के Cry in Wilderness' का अनुवाद है।

३. 'सुख सरसों, शोक सुमेरु' की उत्प्रेक्षायें अत्यन्त भावपूर्ण हैं।

आह भीषण······ अज्ञात !

शब्दार्थ—नर्तन=नाच। विवर्तन=परिवर्तन। आवर्तन=निर्माण। अचिर=अनित्य, नश्वर। अन्वेषण=खोज। अतल=अथाह। अकूल=कूल रहित, तट-विहीन। बूड़ जाना=डूब जाना। सैकत=बालू। अनिवार=प्रबल वायु।

अर्थ—इन पंक्तियों में कवि का दार्शनिक रूप स्पष्टतः मुखर हो गया है। वह कहता है कि परिवर्तन के विषय में सोचना मानो जग के वास्तविक दर्शन से परिचय प्राप्त करना है। यह विचार अत्यन्त भीषण है। यह परिवर्तन मानो नित्य भगवान् का अनित्य नृत्य है (कहते हैं जब सृष्टि का आविर्भाव और अवसान करना होता है तब भगवान् नृत्य के द्वारा अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति करते हैं)। जग की यह परिवर्तनशीलता ही उसकी नवीनता अथवा निर्माण का उन्मेष है (परिवर्तन के द्वारा ही जग का ध्वंस एवं नाश होता है, इसीलिए उसे जग का निर्माण कहा गया है)। इस संसार के द्वारा ही हमें भगवान् की महिमा का ज्ञान होता है। जग नश्वर है और भगवान् अनश्वर। इसीलिए यह नश्वर जग उस अनश्वर भगवान् का पता लगाने का, उसके स्वरूप का ज्ञान करने का एक साधन है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि परिवर्तन ही विश्व के तत्वपूर्ण दर्शन को समझाने की एकमात्र कसौटी है।

जिस प्रकार अथाह सागर में कूल-विहीन एक लहर उठती है और बुलबुलों की सृष्टि करती है। वे बुलबुले तुरन्त ही नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार भगवान् के ज्ञान-सागर में अपार इच्छा का आविर्भाव होता है और उसके कारण नश्वर सृष्टि का जन्म होता है। इस सृष्टि में बुलबुले-जैसी अगणित संसार बनते और बिगड़ते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे प्रबल वायु बालू की दीवार को धराशायी करने में ही लिप्त रहती है।

विशेष—१. इन पंक्तियों में कवि ने सृष्टि के निर्माण और विध्वंस की भारतीय दर्शन के अनुसार व्याख्या की है।

२. अपनी शून्यता से दुःखी होकर भगवान् सृष्टि की रचना करते हैं, इस तथ्य का वर्णन महादेवी ने भी इन पंक्तियों में किया है—

"हुआ यों सूनेपन का भान
प्रथम किसके उर में अम्लान ?
और किस शिल्पी ने अनजान
विश्व-प्रतिमा कर दी निर्माण ?"

३. दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति के अनुकूल भाषा भी दर्शन-शास्त्रों की-सी दुरूहता लिए हुए है।

एक ही छवि······संहार।

शब्दार्थ—उडुगन=तारे। स्पन्दन=कम्पन चेतना। विभात=प्रभात। लोल=चंचल। उभय=दोनों। त्रिगुण=सत्व, रज और तमस् गुण। सृजन=उत्पत्ति। संहार=अन्त।

अर्थ—इन पंक्तियों में कवि अपनी दार्शनिक विचारधारा की अभिव्यक्ति करता है। उसकी धारणा है कि इस समस्त विश्व को परिचालित करने वाली केवल एक महत्तम सत्ता है और यह दृश्यमान सृष्टि उसी के विविध रूप हैं। इन असंख्य तारों में उसी एक सत्ता की छवि विद्यमान है। सृष्टि की समस्त चेतना-शक्ति उसी एक सत्ता के कारण है, तारों में भी वही चेतना है (आकाश के तारे हिलते-डुलते से नजर आते हैं। इसे ही कवि ने तारों का 'स्पन्दन' कहा है), और प्रभात-काल में सब तारे एक ही सत्ता में विलीन हो जाते हैं। ये सब तारे, अथवा सृष्टि के समस्त उपकरण एक ही अनश्वर सत्ता के अधीन रहते हैं; अर्थात् भगवान् ही सबका नियामक और नियन्ता है।

जिस प्रकार एक ही चंचल लहर के उत्थान और पतन दो छोर होते हैं, उसी प्रकार सुख-दुःख, प्रभात और रात्रि उसी एक परम सत्ता के दो छोर हैं। यह त्रिगुणात्मक संसार उसी एक सत्ता की कृति है और दुःख और सुख के समन्वय में ही इसकी पूर्णता है। संसार में उद्भव और विध्वंस के चक्र सदैव चलते रहते हैं। विध्वंस के पश्चात् उद्भव अवश्य होता है, इसीलिए संहार ही सृजन है।

विशेष—१. कवि की अद्वैतवादी रहस्यभावना का सुन्दर प्रस्फुटन हुआ है।

२. पन्तजी का विश्वास है कि सुख-दुःख समन्वयात्मकता ही संसार की पूर्णता की परिचायिका है। इसलिए उन्होंने अन्यत्र सुख-दुःख के सम-विभाग की कामना की है—

"मैं नहीं चाहता चिर सुख,
मैं नहीं चाहता चिर दुख।

मूँदती नयन ·····आदान प्रदान !

शब्दार्थ—सर्व-प्रलयकर=सबको नष्ट करने वाली। वात=वायु। म्लान=मुरझाए हुए। अम्लान=शुद्ध, सजीव। आदान-प्रदान=लेना-देना, उत्पत्ति-विध्वंस।

अर्थ—'संहार की सृजन है' अपने इस मत की पुष्टि करते हुए कवि कहता है कि मृत्यु की रात में यदि व्यक्ति सदैव के लिए आँखें मूँद लेता है तो नव-जीवन का प्रभात फिर से उन आँखों को खोल देता है, अर्थात् मृत्यु के पश्चात् नवीन जन्म का धारण करना ध्रुव है। इसीलिए विध्वंस में उसी प्रकार निर्माण का बीज छिपा हुआ है जिस प्रकार शिशिर ऋतु की सबको नष्ट करने वाली हवा धरती के गर्भ में छिपे हुए बीजों को अनजाने ही पल्लवित कर देती है।

मुरझाये हुए फूलों की सुन्दर मुस्कान मलिन पकड़कर शुद्ध फलों के रूप में परिणत होती है। भाव यह है कि अपनापन खोकर ही ये वस्तुयें पुनः नवजीवन धारण करती हैं, इसीलिए आत्म-बलिदान की महत्ता महान् है। और जग ! वस्तुतः इसकी वास्तविकता कुछ नहीं है। यह तो केवल आदान-प्रदान, कर्म और फल का एक स्थान मात्र है।

विशेष—१. दार्शनिक भाव काव्यमयता के साथ ग्रथित होकर अत्यन्त प्रभावशाली बन गए हैं।

२. 'शिशिर और 'कुसुमों' के उदाहरण भाव-प्रवणता में अत्यधिक सहायक हुए हैं।

एक ही तो····· मधुर झंकार !

शब्दार्थ—विविधाभास=विविध रूप, भिन्न-भिन्न प्रकार से भासित होना। हरित=हरा। विलास=क्रीड़ा। लास=नृत्य। मर्म=रहस्य।

अर्थ—कवि सृष्टि की नियन्ता और नियामक एक ही परम सत्ता का

नता हैं। वह कहता है कि उस सत्ता को प्राप्त करके जिस असीम हर्ष की
ोति होती है, वह तो केवल एक ही होता है, किन्तु संसार में वह भिन्न-
न्न रूपों में दृष्टिगोचर होता है, अर्थात् इस सृष्टि का नियामक केवल एक
मात्मा है. किन्तु सृष्टि के माध्यम से वह विभिन्न रूपों में दिखाई देता है।
ार में जो हरीतिमा की क्रीड़ा परिलक्षित होती है, वह उसी सत्ता का प्रति-
न है। शान्त आकाश की नीलिमा भी उसी का ही रूप है। वही सत्ता
ा के हृदय में प्रेम का रूप धारण किए हुए विराजमान है। काव्य का रस-
ौकिक आनन्द—भी वही है और कुसुमों की सुगन्ध भी वही है। स्थिर
ों की पलकों से जिस हास्य की अनुभूति होती है, वह हास्य भी उसी सत्ता
ही रूप है और चंचल लहरों का नृत्य भी वही है। कहने का भाव यह है
वह एक ही सत्ता विविध वस्तुओं में प्रतिबिम्बित होकर विविध रूपों में
त होने लगती है। वस्तुतः वह एक ही रहस्यमयी सत्ता की एक ही मधुर
र है। जिस प्रकार झंकार से विविध ध्वनियों का आविर्भाव होता है,
प्रकार उस एक ही सत्ता के विविध रूप दृष्टिगोचर होते हैं।
विशेष—कवि ने दार्शनिक अद्वैतवाद की व्याख्या अत्यन्त काव्यमय एवं
ोत्पादक शैली में की है।

वही प्रज्ञा का .... बेड़ी का पाश!

शब्दार्थ—प्रज्ञा=बुद्धि। प्रणय=प्रेम। लावण्य=सौन्दर्य। अनूप=
ोप। शिव=कल्याणकारक। अविकार=शुद्ध। स्वीय=अपने ही।
=बन्धन।

अर्थ—कवि इन पंक्तियों में बौद्धिकता की महत्ता स्वीकार करते हुए कहता
उस परम सत्ता का वास्तविक स्वरूप बुद्धि के द्वारा ही जाना जा सकता
ही हृदय में अपार प्रेम का स्वरूप ग्रहण करती है, वही आँखों की अद्वि-
न्दरता बनती है और लोक-सेवा में वही विशुद्ध रूप से कल्याणकारिणी
है। वह स्वरों में मधुर एवं कोमल ध्वनि बनती है, और वही सत्यतः
र्णित है। उसी के द्वारा दिव्य सौन्दर्य, साकार प्रेम और भावना एव
नव संसार की सृष्टि होती है। इस प्रकार अपने ही कर्मों के अनुसार
ा (बौद्धिकता) भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होती है। ठीक उसी प्रकार
ही धागे का सूत कहीं तो कोमल राखी का रूप धारण कर लेता है
ही आपत्तिका बन्धन बन जाता है।

विशेष—बौद्धिकता का महत्व काव्यमय एवं तर्कमय शैली में प्रतिपादित होने के कारण अत्यन्त प्रभावपूर्ण बन गया है।

कामनाओं के·········की धार !

शब्दार्थ—कामनाओं=इच्छाओं। स्फूर्ति=शक्ति। पुलिन=तट।

अर्थ—हृदय में इच्छाओं के विविध प्रकार से आविर्भूत होने के कारण मनुष्य उनकी पूर्ति के लिए संसार-क्षेत्र में अवतरित होता है जिससे वह व्यक्ति स्वयं भी प्रभावित होता है और जग को भी प्रभावित करता है। उसके इन कर्मों के द्वारा ही उसमें जीवन की झंकार और शक्ति का संचार होता है। तब वह व्यक्ति सुख-दुःखों के असीम तटों को छूता हुआ; अर्थात् दुख और सुख में सामंजस्य स्थापित करता हुआ ज्ञान-रूपी अमृत को प्राप्त होता है।

कहने का भाव यह है कि सुख-दुःख का सामंजस्य ही जीवन का आदर्श एवं वास्तविक रूप है और इस सामजस्य की स्थापना ज्ञान अथवा बुद्धि से ही हो सकती है। अतः जीवन में बुद्धि का महत्व महान् है।

पिघल·········का मोल।

शब्दार्थ—हिलता-हास=अस्थिर हँसी; रोदन से तात्पर्य है। जीवन= पानी; आँसू। स्वर्ण=सुनहरा, सुख से परिपूर्ण। हुलास=प्रसन्नता। आठों याम=हर समय। प्रकाम=वांछित। अभिराम=सुन्दर; मनोहर। अलभ= अलभ्य; जो प्राप्त न हो सके। इष्ट=वांछित वस्तु।

अर्थ—होंठों की हँसी वेदना से पिघल कर जब आँसुओं का रूप धारण कर लेती है तो वे ही आँसू आँखों मे छलछलाकर मानो उन्हें पानी का दान देकर उन्हें जीवन-शक्ति दे देते हैं (रोने से वेदना का भार हल्का हो जाता है) इसलिए वेदना ही हँसी की जननी है। वेदना में तपकर ही मन सुख से परिपूर्ण प्रसन्नता से भर जाता है। (कहने का भाव यह है कि वस्तुतः सुख वेदना के कारण ही है, इसलिए वेदना का महत्त्व जीवन में अनुपम है।)

सुख का महत्त्व भी इसीलिए है कि वह सहज ही प्राप्त नहीं। चूँकि हम सुख पाने की इच्छा से सुख के लिए हर समय तड़पते रहते हैं, फिर भी वह प्राप्त नहीं होता, इसी से सुख अत्यन्त सुखप्रद और वांछित बना हुआ है। यदि सुख सहज ही प्राप्त हो जाया करे तो फिर न तो उसमें आनन्द ही रहेगा, और न फिर उसको कोई इच्छा ही करेगा। इसी प्रकार हम रात-दिन विजय प्राप्त करने के लिए

संघर्ष करते रहते हैं। इसी संघर्ष के कारण ही विजय मनोहर लगती है। यदि बिना संघर्ष के ही विजय प्राप्त हो जाया करे तो विजय में कोई आकर्षण न रहे। भाव यह है कि जिस वस्तु की हम इच्छा करते हैं, वह इसीलिए सुन्दर लगती है, क्योंकि वह अप्राप्य है। अतः जीवन मे किसी वांछित वस्तु की प्राप्ति के लिए अनवरत प्रयास करने में ही जीवन की साधना का महत्व है, उसे प्राप्त करने में नहीं।

विशेष—इन पंक्तियों मे कवि के मन की मनोवैज्ञानिक व्याख्या अत्यन्त सुन्दर ढंग से की है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जब तक मन को कोई वस्तु प्राप्त नहीं होती, उसके प्रति तब तक ही उसका आकर्षण बना रहता है। उसके प्राप्त होने पर वह आकर्षण समाप्त हो जाता है।

बिना दुख······ह्रास।

शब्दार्थ—निस्सार=व्यर्थ। आह्लाद=प्रसन्नता। विषाद=दुख। गतिक्रम=गतिशीलता। ह्रास=पतन; अभाव।

अर्थ—बिना दुःख के सब सुख व्यर्थ है, अर्थात् बिना दुख के सुख का कोई मूल्य नहीं। बिना आँसू के—वेदना के जीवन भार बन जाता है (आँसू के द्वारा ही वेदना हल्की होती है) चूँकि ससार मे दीनता दुर्बलता का अस्तित्व है, इसीलिए दया, क्षमा और प्यार का यहाँ महत्व माना जाता है। यदि ससार दुर्बल और दीन न हो तो फिर न किसी को दया की आवश्यकता रहे और न क्षमा की।

ससार मे दुःख और सुख चक्र के समान घूमते फिरते हैं। आज जो दुःख बना हुआ है, कल वही प्रसन्नता मे परिणत हो जायेगा; अर्थात् दुःख के द्वारा ही सुख की उत्पत्ति होती है और जो कल सुख बना हुआ था वह आज दुख मे बदल गया है। इसीलिए ससार एक गहरी समस्या और गूढ स्वरूप बन गया है जिसकी पूर्ति उस पार है, अर्थात् भौतिकता के त्याग करने से ही ससार की उलझी हुई पहेली का ज्ञान हो सकता है। जीवन का अर्थ है जगत् का निरन्तर विकसित होना और मृत्यु का अर्थ है गति तथा क्रम का नष्ट हो जाना। कहने का भाव यह है कि गति ही जीवन है और स्थिरता मृत्यु।

विशेष—१. इन पंक्तियों में दुःख, मृत्यु और जीवन की अत्याधुनिक एवं मनोवैज्ञानिक व्याख्या की गई है।

हमारे काम······स्वरूप !

शब्दार्थ—अपरूप = निराकार ।

अर्थ—हम जो काम करते हैं, वस्तुतः वे हमारे काम नहीं हैं। हम तो केवल साधनमात्र हैं और उनका वास्तविक कर्त्ता कोई और ही है जो हमें इन कामों को करने की प्रेरणा देता है। हम स्वयं को जो कुछ समझते हैं, हम वे भी नहीं हैं; अर्थात् हम अपनी अहंभावना के कारण अपने को गलत समझ बैठे हैं। हमारा वास्तविक स्वरूप तो वह है जो इस नामधारी अस्तित्व के पीछे अदृश्य अथवा निराकार रूप से छिपा हुआ है। हम अज्ञान के वशीभूत होकर अपने स्वरूप को गँवाने के लिए उत्पन्न होते हैं। अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हमें तभी हो सकता है जब हम अपने इस भौतिक स्वरूप की अहंमन्यता को नष्ट कर दें।

विशेष—इन पंक्तियों की दार्शनिक भावना कबीरदास की निम्नलिखित पंक्तियों से बहुत साम्य रखती है—

"तू तू कहता तू भया मुझमें रही न हूं।"

जगत को······आह्लाद !

शब्दार्थ—अवदात = शुभ्र। नवलता = नवीनता।

अर्थ—सुन्दरता ही जगत् का धर्म है और इस सौन्दर्य के पीछे जगत् के सारे अवगुण इसी प्रकार छिप जाते हैं जिस प्रकार चन्द्रमा में लगा हुआ धब्बा कुरूप न दीखकर सुन्दर ही दिखाई पड़ता है। जिस तरह चन्द्रमा दिन-रात घट-बढ़कर सुशोभित होता रहता है, उसी प्रकार जगत् की वास्तविक प्रसन्नता उसके नित नवीन परिवर्तन में है।

विशेष—१. पन्तजी के अनुसार जगत् का वास्तविक सौन्दर्य उसकी अभौतिकता में निहित है।

२. इन पंक्तियों में आई हुई नवीनता की परिभाषा संस्कृत की इन पंक्तियों से मेल खाती है—

"क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।

स्वर्ण शैशव······मन, प्राण !

शब्दार्थ—मंजरित = प्रफुल्लित। प्रौढ़ता = परिपक्वावस्था। स्थविरता = बुढ़ापा। प्रणय = प्रेम।

अर्थ—इन पंक्तियों में पन्तजी जीवन के विभिन्न विभागों—बचपन, यौवन आदि—का वर्णन करते हुए कहते हैं कि सुनहले शैशवकाल में शिशु केवल स्वप्नों का जाल बुनता रहता है। यौवन इसी प्रकार आनन्दपूर्ण होता है जिस प्रकार प्रफुल्लित डाल के फल सरस और रसाल बन जाते हैं। प्रौढ़ता उस वट की विशाल छाया की भाँति है जो दूसरों को आनन्द प्रदान करती है और वृद्धावस्था सायंकाल की नीरवता की भाँति हृदयभेदी होती है, अर्थात् इन विभागों में वृद्धावस्था ही खटकने वाली जीवन-स्थिति है।

इसी वृद्धावस्था में बचपन से यौवन तक की सारी क्रीड़ाएँ अन्तर्निहित हो जाती हैं। वही शिशु, जो विस्मय के जगत् में रहने का आदी है, युवक बनकर सौन्दर्य के प्रति आकर्षित होता है और प्रेम के बाणों से बिधकर अथवा उसके बन्धन में बँधकर जीवन और जगत् की यथार्थता से परिचय करता है। वह युवावस्था में मधुर जीवन का मधुमय पान करके, अर्थात् जीवन के समस्त उपकरणों का आनन्द-पूर्वक उपभोग करके तथा अपने सुखपूर्ण संसार को संजोकर उसे अपने तन, मन और प्राण के साथ वृद्धावस्था में डुबो देता है; अर्थात् जीवन के स्वर्णिक आनन्दों का वृद्धावस्था में पर्यवसान हो जाता है।

विशेष—वृद्धावस्था का मार्मिक वर्णन है।

एक बचपन ···· नूतन जीवन !

शब्दार्थ—नव्य = नवीन। नूतन = नवीन।

अर्थ—इन पंक्तियों में कवि दार्शनिक शब्दावली में कहता है कि हम सब एक ही बचपन में अनजाने होकर दिन-रात जागते और सोते हैं और फिर वृद्ध तथा बालक एक ही प्रभात में अज्ञात नवीन स्वप्न देखते हैं। उन स्वप्नों में प्राचीन—जिसे मरण भी कहा जा सकता है—विलुप्त होता है और नवीन जीवन का उदय होता है, अर्थात् उस स्वप्न में प्रेरक जीवन की झाँकी होती है।

विश्वमय······निर्भर !

शब्दार्थ—अकूल = सीमा-रहित; अनन्त। विपुलाकार = भारी आकार वाला। दिवावधि = दिन। अविकार = शुद्ध। अनिर्वचनीय = जिसका वर्णन न किया जा सके। भव्य = सुन्दर। अजस्र = निरन्तर। उर्वर = उपजाऊ। भीम = विशाल।

अर्थ—कवि परिवर्तन को सम्बोधित करते हुए कहता है कि हे विश्व को

[illegible] करने वाले परिवर्तन ! तुम अनन्त गहराई से—न जाने कहाँ से—अनन्त और अपार रूप धारण करके उमड़ पड़ते हो। तुम्हारा मेघों के समान विशाल आकार है। तुम दिशाओं में भली-भाँति से व्याप्त करके पुनः क्षण में फिर क्षण में समा जाते हो—न जाने कहाँ समाहित हो जाते हो ?

हे परिवर्तन ! तुम्हारे स्वरूप का वर्णन नहीं हो सकता। तुम्हारा रूप सुन्दर भी है और भयंकर भी। सुन्दर इसलिए कि परिवर्तन निर्माण का विधायक है और भयंकर इसलिए कि वह विध्वंसक है। तुम इस अनन्त संसार में इन्द्रजाल का सा सुन्दर जादू रचते हो, अर्थात् देखते-देखते ही कुछ का कुछ कर डालते हो। तुम गरज-गरजकर, हँस-हँसकर, चढ़कर और गिरकर इस पृथ्वी और आकाश पर छा जाते हो तथा उसका नाश कर देते हो। इस प्रकार तुम संसार को निरन्तर जीवन-दान देकर उसे उपजाऊ शक्ति-सम्पन्न बनाते हो। तुम्हारी विशाल भृकुटि पर समस्त संसार की आशाएँ इसी प्रकार अंकित हैं जैसे आकाश में श्रेष्ठ इन्द्रधनुष प्रतिबिम्बित होता है।

विशेष—'भयकर' और 'सुन्दर' में विरोधाभास अलंकार है।

एक औ, बहु······ सूत्रधर !

शब्दार्थ—परिवर्तित कर=बदलकर। मायाकर=मायाधारी; जादूगर। करुणतर=दुःख से परिपूर्ण। अगोचर=जो दिखाई न दे। सूत्रधर=वह पात्र जो नाटक का संचालन करता है। सुघर=चतुर।

अर्थ—हे मायावी परिवर्तन ! तुम असंख्य नवीन दृश्यों को निरन्तर बदलकर विश्व रूपी मंच पर मानो अपना नाटक दिखाते हो। इस नाटक में हँसते हुए अधर और आँसू से भरे हुए दुःखपूर्ण नेत्र प्रकट होकर तुम्हारे संकेतों के मिस शिक्षा ग्रहण करते हैं; अर्थात् परिवर्तन में यही शिक्षा मिलती है कि दुःख और सुख चक्रवत् घूमते रहते हैं, अतः मनुष्य को न तो दुःख में संतप्त ही होना चाहिए और न सुख में गर्वोन्नत, उसे सदैव समभाव का ही आलम्बन लेना चाहिए। फिर भी तुम किसी को दिखाई नहीं देते। यह विश्व रूपी मंच तुम्हारी शिक्षा देने की जगह है। तुम श्रेष्ठ नट हो और चतुर प्रकृति तुम्हारी नटी है जो समस्त संसार में सूत्रधार का कार्य करती है, अर्थात् परिवर्तन द्वारा संपादित इस ध्वंस और निर्माण के नाटक का संचालन करती है।

विशेष—१. इन पंक्तियों में सांगरूपक का अच्छा निर्वाह हुआ है।

२. परिवर्तन के स्वरूप का प्रतिपादन कवि-भाषा में मार्मिक शैली में हुआ है।

हमारे निज सुख······ पालन !

शब्दार्थ—प्रारवास=सहारा। अविरत=निरन्तर। राजयष्टि=राजदंड। अकिंचन=दरिद्र। शास्ति=शासन।

अर्थ—हे परिवर्तन ! तुम अपनी भयकरता के कारण विश्व के हृदय के अनन्त कम्पन बने हुए हो। तुम्हारा निरन्तर स्पन्दन सृष्टि की नलियों में जीवन प्रवाहित करता रहता है। जिस प्रकार तारकों से जग का अन्धकार दूर हो जाता है उसी प्रकार तुम तारक-रूपी जग के असख्य नयनों को खोलकर प्रत्येक क्षण उसका अन्धकार रूपी अज्ञान नष्ट करते रहते हो (—शिक्षा स्थल यह विश्व मंच तुम नायक नटवर !) सत्य ही तुम्हारा राजदड है; अर्थात् परिवर्तन सृष्टि का एक शाश्वत धर्म है, यह कथन सत्य है, तुम्हारे सामने तीनों लोक डर के मारे नतमस्तक हो जाते हैं। तुम भूमा होते हुए भी दरिद्र हो (भूमा इसलिए कि तीनों लोक तुम्हारा प्रभुत्व स्वीकार करते हैं, और दरिद्र इसलिए कि तुम कुछ भी बचा नहीं छोड़ते, सभी को नष्ट कर देते हो। तुम्हारी शासन-व्यवस्था अटल है जिसका तुम सदैव पालन करते हो, अर्थात् परिवर्तन के प्रकोप से कोई नहीं बच सकता, चाहे वह राजा हो, चाहे वह रङ्क हो।

विशेष—१. परिवर्तन की राजा से तुलना अत्यन्त प्रभावमयी और सार्थक है। इसमे सागरूपक अलकार है।

२. परिवर्तन का मानवीकरण छायावादी प्रवृत्ति है।

तुम्हारा हो·······विवर्तन !

शब्दार्थ—अशेष=समस्त। महाम्बुधि=विशाल सागर। स्फीत=समृद्ध, विशाल। वक्ष=हृदय। तुग=ऊँची। महोदर=भारी पेट। सत्वर=शीघ्र। उडगन=तारे। स्फुलिंग=पतिंगे। विवर्तन=परिवर्तन।

अर्थ—हे परिवर्तन ! तुम्हारा समस्त व्यापार हमारे भ्रम और मिथ्या अहंकार का कारण है, अर्थात् तुम्हारे वास्तविक स्वरूप को न पहचानकर हम तुम्हें केवल विध्वंसक समझते हैं, इसलिए हमारी यह मान्यता एकांगी ··· भ्रमपूर्ण है, कभी-कभी कोई दरिद्र परिवर्तन के कारण ही धनाढ्य बन [illegible] है और वह अपनी समृद्धि पर गर्व करने लगता है, इसलिए उसमें

अहंकार का अन्त होता है। सब वर्ग मानव, चाहे वे निराकार के उपासक हों और चाहे साकार के, तुम में ही समा जाते हैं। तुम्हारे कारण ही जीवन और मृत्यु का भेद मिट जाता है और वे एक रूप में समाहित हो जाते हैं।

हे परिवर्तन! तुम विशाल सागर के समान हो। जिस प्रकार सागर के हृदय पर लहरें क्रीड़ा किया करती हैं, उसी प्रकार तुम्हारे विशाल हृदय पर दल योनि, चर और अचर वस्तुएँ सदैव क्रीड़ा करती रहती हैं। जिस प्रकार सागर में ऊँची-ऊँची लहरें उठा करती हैं, उसी प्रकार तुम्हारे मानस पर अनन्त युग और कल्पान्तरों का आविर्भाव होता है। तुम उन्हें उत्पन्न करके शीघ्र ही अपने विशाल पेट में विलीन कर लेते हो।

असंख्य सूर्य और चन्द्रमा, असंख्य ग्रह और उपग्रह, असंख्य तारे तुम में ही पतिंगे के समान जलते और उसी साथ घूमते रहते हैं। तुम इस नश्वर संसार में समस्त क्रियाओं की सीमा हो। मन, वचन और कर्म से तुम निरन्तर हो, सदैव रहने वाले हो। तुम परिवर्तन होकर भी परिवर्तन-विहीन हो; अर्थात् तुम्हारे क्रिया-कलापों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। वे सदैव एक से ही रहते हैं।

विशेष—१. परिवर्तन को महामुनि सिद्ध करने में सांग रूपक अलंकार है।

२. 'अहे निवर्तन-हीन विवर्तन' में विरोधाभास अलंकार है।

३. परिवर्तन के विराट् स्वरूप का विराट् उपकरणों के द्वारा मार्मिक वर्णन किया गया है।

१०. गुंजन

कविता-परिचय—इस कविता का रचना-काल सन् १९३२ है। यह काल कवि के लिए भव्य आशा और प्रेरणा का काल था। 'परिवर्तन' के समय कवि के मानस पर विषाद और निराशा का जो घटाटोप अन्धकार छा गया था, वह इस समय स्वर्ण प्रभात के रूप में बदल गया था। फलतः 'गुंजन' की कविताओं में आशा की नवीन किरणों का प्रस्फुटन तो है ही साथ ही चिन्तन की रेखा भी स्पष्ट हो गई है। इसीलिए कवि जीवन की क्षणभंगुरता को भूलकर, सृष्टि की सृजन, सिंचन संहार की प्रक्रिया को छोड़कर जीवन के मधुमास में उतर आता है जहाँ का प्रत्येक स्पन्दन आशा एवं उल्लास से भरा हुआ है।

डा० नगेन्द्र के शब्दों में—'गुंजन पन्तजी के अपने शब्दों में उनकी आत्मा का 'उन्मन गुंजन' है। कवि का क्षेत्र अब हृदय से हटकर आत्मा तक पहुँच गया है, इसी कारण उसमें आवेश की न्यूनता और चिन्तन एवं मनन का प्राधान्य है।

प्रस्तुत कविता में मधुऋतु के आगमन पर वन और उपवन में आह्लाद-मय वातावरण छाया है, वह कवि के प्राणों को भी उन्मत्त बना देता है और कविप्राण भी जीवन-मधु के संचय को उन्मन होकर गुंजन करने लगते हैं—

"जीवन मधु संचय को उन्मन।
करते प्राणों के अलि गुंजन।"

वन वन······में गुंजन!

शब्दार्थ—उन्मन=उन्माद भरा हुआ। वय=आयु। अलियों का—भँवरों का। आम्र=आम। ताम्र=ताँबा।

अर्थ—इन पंक्तियों में वसन्त ऋतु का वर्णन है। प्रत्येक वन और उपवन में वसन्त की शोभा छाई हुई है। कुसुम महक रहे हैं। इस महक से मदोन्मत्त भौंरे गूँज रहे हैं। उनकी गूँज उन्माद भरी हुई है। ये नव आयु—युवक वाले भौंरों की गूँज है।

आम के बौर रुपहले और सुनहले हैं जिन पर नीले, पीले और ताँबे के रंग के भौंरे गूँज रहे हैं। वे भौंरे फूलों की सुगन्ध से मदहोश होकर अन्द-गाह पंक्ति बनाकर उन्मत्त होकर घूम रहे हैं और वसन्त-श्री से भरे हुए वन को गुंजा रहे हैं।

विशेष—इन पंक्तियों की शब्द-योजना इतनी विशद है कि पढ़ने पर गुंजन की-सी ध्वनि होने लगती है। छायावादी कवियों में पन्त के ध्वनि-चित्रण का अद्वितीय स्थान है।

वन के······अलि गुंजन!

शब्दार्थ—विटप=वृक्ष। उच्छ्वास=श्वास। मुकुल=कली। मदिर=मस्त बना देने वाली। अस्थिर=भंगुर। सौरभ=सुगन्ध। मलय श्वास=मलयानिल।

अर्थ—वन के वृक्षों की डालियाँ कोमल कलियों से लदकर लाल-लाल हो गई हैं। उनकी लालिमा ऐसी प्रतीत होती है मानो नवीन शोभा की

ज्वाला हो और जिसमें प्राण जलाकर भौंरे गुंजन तथा स्पन्दन कर रहे हों। अब फूलों में विकास फैला हुआ है, अर्थात् वे विकसित होकर खिल रहे हैं। कलियों के हृदय में मस्त बना देने वाली सुगन्ध छिपी हुई है और अस्थिर सुगन्ध से भरकर मलय वायु चल रही है (सुगन्ध को 'अस्थिर' इसलिए कहा गया है कि वसन्त ऋतु के समाप्त होने पर वह भी समाप्त हो जाती है। भौंरे इधर-उधर इस प्रकार दौड़ रहे हैं मानो जीवन-मधु को एकत्रित करने के लिए पागल होकर वे प्राणी-रूपी भौंरे गुंजार कर रहे हों।

विशेष—१. वसन्त-श्री का सजीव वर्णन।

२. उत्प्रेक्षा अलंकार।

११. गाता खग

कविता-परिचय—इस कविता का रचना-काल सन् १९३२ है। यह समय पंतजी के लिए आशा और आत्म-चिन्तन का समय था, अतः प्रस्तुत कविता मे दोनों बातें ही दृष्टिगोचर होती हैं। खग की बोली में उन्हें जीवन की माधुर्य-ध्वनि सुनाई पड़ती है, प्रफुल्लित प्रसूनों में उन्हें जीवन का आह्लाद परिलक्षित होता है, लहरों से उन्हें गन्तव्य-प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयास करने की शिक्षा मिलती है। बुलबुलों की विलीनता उनके समक्ष सम्पूर्ण जीवन का आशय ही खोल देती है।

इस प्रकार इस कविता में भाव की अपेक्षा चिन्तन का प्राधान्य है। 'गुंजन' की अधिकांश कविताएँ इसी प्राधान्य के अंकुश के कारण छोटी-छोटी है। 'गाता खग' में भी कवि की यही मानसिक प्रवृत्ति दिखाई देती है। इस कविता का अंतिम दो पंक्तियों मे तो कवि जैसे चिन्ता की चरम सीमा पर ही पहुँच गया है—

"बुदबुद विलीन हो चुपके
पा जाता आशय सारा!"

यहाँ कवि अपने कवि-उत्तरदायित्व को भूलकर एकदम दार्शनिक बन बैठा है।

गाता खग······जग जीवन!

शब्दार्थ—खग=पक्षी। मंगल=कल्याणकारी। मधुमय=आनन्द से परिपूर्ण।

अर्थ—प्रातःकाल की स्वर्णिम सुषमा में जब पक्षी बोलता है तो ऐसा प्रतीत होता है मानो वह अपने चारों ओर फैले स्वर्णिम वातावरण से जग-जीवन का अनुमान लगाता हुआ कहता हो कि वह बड़ा सुन्दर और सुखमय है। शाम को वह किसी नदी के किनारे बैठकर उसे कल्याणकारी और आनन्द से परिपूर्ण बताता है।

कहानी अपलक·····नीरव !

शब्दार्थ—अपलक=निनिमेष। तारावलि=तारों की पंक्ति। अवलोक=देखना। नीरव=शान्त, सूखी हुई।

अर्थ—निनिमेष दृष्टि से पृथ्वी को देखती हुई तारों की पंक्ति मानो अपने आँखों से देखे गए अनुभव के आधार पर कहती है कि आँसू भरी आँख देखकर सूखी आँखें भी आँसू से भर आती हैं।

हँस मुख······भर जाओ !

शब्दार्थ—प्रसून=फूल। सौरभ=सुगन्ध।

अर्थ—खिले हुए फूल, जो मानो हँस रहे हैं, मानवों को ऐसी शिक्षा देते हुए प्रतीत होते हैं कि यह हँसी—जीवन का आनन्द—क्षण-भर है, इसलिए इस मधुमय समय में जितना हँसा जाय उतना ही हँस लो और अपने हृदय की सुगन्ध से—सद्भावनाओं से—जग के आँगन को भर दो, अर्थात् अपने आनन्द से स्वयं भी सुखी बनो और दूसरों को भी सुखी बनाओ।

विशेष—इन पंक्तियों पर Live and let live की छाया परिलक्षित होती है।

उठ उठ···जावें !

शब्दार्थ—कूल=किनारा। नित=लगातार।

अर्थ—लहरें भी आगे बढ़ती हुई मानो यह शिक्षा देती हैं कि हम किनारे को कभी प्राप्त न करें, किन्तु उसके प्राप्त करने की उमंग में हम लगातार आगे ही बढ़ती रहें।

विशेष—१. गन्तव्य को प्राप्त करने में वह सुख नहीं, जो उसे प्राप्त करने के प्रयास में है। इसी भाव को पन्तजी ने 'परिवर्तन' कविता में इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"अलभ है इष्ट, अतः अनमोल,
साधना ही जीवन का मोल।"

२. इसी भाव को एक अन्य कवि ने इस प्रकार प्रकट किया है—

"मन्जिल के सामीप्य मात्र की, पगले कभी न चिन्ता करना।
आगे बढ़ना काम है राही! आगे ही नित बढ़ते रहना॥
दीपक जलता उसी भाव से—
जलना मुझे जला मत, साथी,
चलना मुझे चला मत, साथी।"

शंक कब····· तारा!

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—तरंगें केवल उठ-गिर कर रह जाती हैं, किन्तु उन्हें किनारा नहीं मिलता। बुलबुले चुपके से विलीन होकर सारा मतलब समझ जाते हैं, अर्थात् बुलबुले मिटकर मानो इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि जीवन की सार्थकता गन्तव्य प्राप्त करने में ही नहीं, बल्कि उसके लिए प्रयास करते हुए मर-मिटने में भी है।

१२ एक तारा

कविता-परिचय—इस कविता का रचनाकाल सन् १९३२ है। इन दिनों पन्तजी का कवि भावुक की अपेक्षा चिन्तक अधिक हो गया था। फलतः प्रकृति के रमणीय दृश्य भी उनकी दार्शनिकता के प्रवाह में बह जाते थे। अपनी इस मनःस्थिति का संकेत देते हुए पन्तजी लिखते हैं—'प्राकृतिक चित्रणों में प्रायः मैंने अपनी भावनाओं का सौन्दर्य मिलाकर उन्हें ऐन्द्रिय चित्रण बनाया है, कभी-कभी भावनाओं को ही प्राकृतिक सौन्दर्य का लिबास पहना दिया है।" इस आधार पर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि प्रस्तुत कविता का जन्म प्रकृति के चित्रण से नहीं, अपितु दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है। यही कारण है कि 'एक तारा' आकाश में चमकने वाला तारा न रहकर कवि की दार्शनिक भावनाओं की ज्योति से जगमग हो उठा है। वह कभी योगी का रूप धारण करता है तो कभी मुक्त पुरुष का, जिसने अपनी अनवरत साधना से अपने जीवन में सामरस्य प्राप्त कर लिया है और अन्त में तो वह ब्रह्म का ही रूप धारण कर लेता है—

"जगमग-जगमग नभ का आँगन, लद गया कुन्द कलियों से घन,
वह आत्म और यह जग दर्शन!"

अतः यह कविता किसी भी दार्शनिक कविता के साथ रखी जा सकती है। डा० नगेन्द्र के शब्दों में—" 'एक तारा' कविता में बड़ी ही गम्भीर दृष्टि का उन्मीलन है। इस कविता के चित्र चंचल न होकर स्थिर और रंग गहरे हैं। साथ ही एकाकीपन पर दार्शनिक विवेचन भी है। यह १६३२ की ही दर्शन-प्रधान कविताओं की एक कड़ी है।"

जहाँ तक कला-पक्ष का प्रश्न है, इसमें अनेक नवीन उपमानों का प्रयोग नवीन ढंग से हुआ है, जो भाव-व्यंजक भी है, और प्रभावोत्पादक भी।

नीरव संध्या भार पार!

शब्दार्थ - नीरव=स्तब्ध, शान्त। प्रान्त=प्रदेश। आनत=झुके हुए। लीन=समाप्त। धूसर=धुँधला। भुजंग=साँप। जिह्म=टेढ़ा।

अर्थ—कवि सन्ध्या का वर्णन करता हुआ कहता है कि सन्ध्या का समय बिल्कुल स्तब्ध और शान्ति से भरा हुआ है, कहीं भी किसी प्रकार का कोलाहल सुनाई नहीं देता। इस स्तब्ध और शान्त वातावरण में समस्त गाँव का प्रदेश डूबा हुआ है। पेड़ों के पत्ते नीचे को झुक गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो पत्तों के होठों पर ही समूचे वन का कोलाहल सो गया हो (कवि की कल्पना यह है कि हवा मन्द है, अतः पत्ते भी किसी प्रकार का मर्मर नहीं कर रहे हैं। मानो वे सो रहे हों और उन्हीं के साथ वन का कोलाहल भी सो गया हो), ठीक उसी प्रकार जैसे वीणा के तारों में स्पन्दित न होने के कारण स्वर छिप जाता है। (कवि की यह उपमा बहुत ही सूक्ष्म और भाव-व्यंजक है। स्वर वीणा के तारों में ही निहित होते हैं। जब तारों को छेड़ा जाता है तभी स्वर निकलते हैं, उसी प्रकार समीर पत्तों में छिपा हुआ है। जब हवा चलती है और पत्ते हिलते हैं तभी मर्मर की ध्वनि निकलती है।) सन्ध्या के समय बोलने वाले पक्षियों की आवाजें भी समाप्त हो रही हैं; अर्थात् यत्र तत्र ही कोई पक्षी बोल रहा है, अन्यथा सब मौन होकर अपने-अपने नीड़ों में जा छिपे हैं। जो पशु-मार्ग पशुओं के आने से धूल-धूसरित हो रहा था वह अब निर्जन और धूल-रहित हो गया है, क्योंकि पशु और मनुष्य सब अपने-अपने घर पहुँच गए हैं, इसीलिए उस पथ पर न तो मनुष्य ही दिखाई देता है और न पशु ही; और न उनके आने-जाने से धूलि ही उड़ती है। वह पशु-मार्ग धुँधले साँप की तरह टेढ़ा और पतला है (साँप के मार्ग किसी नियमित माप के नहीं

होते और न वे किसी नियमित रेखा में ही चलते हैं। वे प्रायः टेढ़े और पतले होते हैं; इसीलिए कवि ने उसकी उपमा कुटिल और पतले सांप से दी है)। अब केवल झींगुर बोल रहा और उसके स्वर की तीक्ष्णता ही सन्ध्याकालीन शान्ति को भंग करके उसके वातावरण को और भी अधिक गम्भीर बना रही है। शान्ति को भेदने वाली झींगुर की झंकार ऐसी प्रतीत होती है मानो महा शान्ति के उदार उर में किसी महत्तम आकांक्षा का जन्म हुआ हो और वह आकांक्षा पेट में न समाये जाने के कारण तीक्ष्ण तीर की धार की भांति आर-पार हो रही हो।

विशेष—१. सन्ध्याकालीन वातावरण का सजीव वर्णन हुआ है।

२. उपमाओं का प्रयोग सर्वथा नवीन है; किन्तु महाशान्ति वाली उपमा स्पष्ट न होकर भाव-व्यंजक नहीं बन सकी है।

अब हुआ शान्त…श्यामल !

शब्दार्थ—स्वर्णाभ=सुनहली आभा। चल=चचल। रक्तोत्पल=लाल रंग का कमल। मृदु=सुन्दर, कोमल। दल=पंखुड़ियाँ। अरुणाई=लालिमा। प्रखर=तीक्ष्ण। स्वर्ण-विहग=सूर्य। सुभग=सुन्दर। श्यामल=धुंधला, हल्का काला।

अर्थ—अब सन्ध्या की सुनहली आभा छिप गई और भूतल पर धीरे-धीरे अन्धकार छाने लगा। उस अन्धकार में सभी वस्तुऐं डूबकर अदृश्य होने लगीं; मानो संसार विविध वस्तु और रंग से विहीन हो गया हो। गंगा के चंचल एवं विशुद्ध जल में जो किरण रूपी लाल कमल खिले हुए थे, उन्होंने भी कुम्हला-कर अपनी कोमल पंखुड़ियों को बन्द कर दिया (जो लालिमा पानी पर पड़ रही थी, वह भी समाप्त हो गई) लहरों पर सूर्य की जो सुन्दर किरणें सुनहली रेखाओं की भांति खिंची हुई थीं, वे नीली पड़ गई; ठीक उसी तरह जैसे तीक्ष्ण जाड़े के कारण होठों की लालिमा नीली पड़ जाती है (यह उपमा बड़ी ही भाव-व्यंजक है)। जिस प्रकार कोई पक्षी वृक्षों से उड़ जाता है उसी प्रकार वह स्वर्ण पक्षी जैसा सूर्य अपने सुन्दर पंखों को खोलकर पेड़ की चोटियों पर से भी उड़ गया। वह किस गुप्त-नीड़ में पहुंचा, अथवा किस मार्ग से गया, यह किसी को पता नहीं। मधुर स्वप्नों को अपने अंचल में संजोये हुए, हल्का नीला सा, कोमल-सा अन्धकार सब पेड़ों और वन में छा गया। जिस प्रकार सन्ध्याकालीन

अन्धकार धुंधला-सा होते हुए भी प्यारा लगता है, उसी प्रकार सुन्दर स्वप्न स्पष्ट न होते हुए भी प्रिय लगते हैं। कवि की यह उपमा अत्यन्त सूक्ष्म एव हृदयग्राहिणी है)।

विशेष—१. सूर्य के छिपने का वर्णन बहुत-कुछ 'प्रियप्रवास' के वर्णन से मिलता है। यथा—

"दिवस का अवसान समीप था
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु शिखा पर थी अब राजती
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा।"

२. अन्धकार के छा जाने पर विश्व की सभी वस्तुएँ और रंग तममय होकर एकाकार हो जाते हैं, यह सत्य ही है। इसी एकाकारिता का वर्णन पन्त जी ने 'मौन निमन्त्रण' में भी किया है—

"तुमुल तम मे जब एकाकार
ऊंघता एक साथ संसार"

यही भाव उपर्युक्त पंक्तियों मे भी है।

पश्चिम नभ में······निर्धन!

शब्दार्थ—अमंद=चमकदार। अकलुष=कालिमा-रहित; शुद्ध। अनिन्द्य=प्रशंसनीय। विवेक=ज्ञान। दीपित=प्रदीप्त; प्रकाशयुक्त। टेक=इच्छा। स्वर्णाकांक्षा=सुनहली अभिलाषा; मनोहर इच्छा। प्रदीप=दीपक। मुक्ताज्योतित=मोतियों की ज्योति से प्रकाशयुक्त। रजत=चांदी, चांदी जैसे रंग वाली अर्थात् श्वेत।

अर्थ—सन्ध्या की सुनहली आभा समाप्त हो जाती है। आकाश मे तारे उग आते हैं। उन्हीं मे से एक तारे को सम्बोधित करते हुए कवि कहता है कि मैं आकाश में पश्चिम की ओर एक तारा देख रहा हूँ जो उज्ज्वल एवं चमकदार है। वह कालिमा रहित, प्रशंसनीय या अत्यन्त सुन्दर है। ऐसा प्रतीत होता है मानो साक्षात् ज्ञान ज्योति-पुञ्ज होकर प्रकट हो गया है; अथवा हृदय में कोई इच्छा उदित हो गई हो। इसके अनन्तर कवि दूसरी कल्पना करता है। तारे मे विद्यमान प्रकाश मानो दीप है। दीप उपहार स्वरूप अपने देव के पास जाता है। इसी बात का आधार लेकर कवि कहता है कि यह मानो सुनहली इच्छाओं

की पूर्ति के लिए प्रार्थना करने न जाने किस देव के पास जा रहा है? उस
कान्ति ऐसी है मानो श्वेत सीप में मोती की ज्योति चमक रही हो। इस कल्प
के बाद कवि तारे की तुलना एक योगी से करता है। जिस प्रकार योगी ध्यान
साधना के द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करता है, उसी प्रकार मान
यह तारा भी ऐसी ही साधना कर रहा है। इसी का आधार लेकर कवि कहत
है कि यह तारा निर्निमेष दृष्टि से अथवा दृष्टि को स्थिर करके अपनी आत्म
के चिन्तन का धन संजोकर यह आत्मज्ञान तो नहीं खोज रहा है? यदि ऐसं
ही बात है तो यह गलती कर रहा है, क्योंकि आत्मज्ञान का प्राप्त कर लेन
अत्यन्त कठिन कार्य है, कभी किसी की इच्छा इस संसार में पूरी नहीं होती।
ऐसा ज्ञात होता है कि यह उजड़ा हुआ विश्व अपनी असफल इच्छाओं के कारण
ही दरिद्र बना हुआ है; अर्थात् विश्व इसीलिए दुखी है कि उसकी इच्छाएं पूरी
नहीं हो पाती।

विशेष—१. नवीन उपमानों का प्रयोग भाव-व्यंजक है।

२. दार्शनिकता का पुट आने से भावों में दुरूहता एवं असम्बद्धता आ
गई है।

आकांक्षा म······पार!

शब्दार्थ—उच्छ्वसित=प्रबल। उद्वेलित=आकुल। अहरह=सदैव।
अविरल=निरन्तर। उडुगण=तारे। दुस्तर=कठिन। निसंग=अनासक्त;
एकाकी।

अर्थ—इन पंक्तियों में कवि आकांक्षा की व्याख्या करता हुआ कहता है
कि आकांक्षा का प्रबल वेगज्ञान का बन्धन नहीं मानता; अर्थात् व्यक्ति, जैसे
भी हो, अपनी इच्छा की पूर्ति कर लेना चाहता है। वह नहीं सोचता कि इसका
परिणाम अच्छा होगा, अथवा बुरा। आकांक्षा जीवन को हिला देती है, उसे
अस्त-व्यस्त कर देती है। ऐसा लगता है जैसे सागर भी अपनी किसी आकांक्षा
[illegible] र होकर ही सदैव थर-थर कांपता और व्याकुल रहता है, तभी तो
[illegible] नर्तन करती हुई, नाचती रहती है। सूर्य, चन्द्रमा और तारे भी
[illegible] निरन्तर इच्छा के कारण ही सतत घूमते रहते हैं। अतः इच्छा
[illegible] बोध लेना बड़ा ही कठिन कार्य है। हे तारे! तुम अपने प्राणों
[illegible] इच्छा की पूर्ति के लिए ही क्यों विकल करके जला रहे हो? तुम्हारा

चुपचाप रहना और आँसू बहाना सभी व्यर्थ है, क्योंकि एकाकी जीवन केवल व्यर्थ ही नहीं होता, विफल भी होता है। (कवि की कल्पना है कि तारे आकाश में नीरव और एकाकी जीवन की साधना लेकर किसी इच्छा की पूर्ति का प्रयास कर रहे हैं) एकाकी जीवन अन्धकार के समान दुरन्त है और इसका अनजान भार सहन करना बड़ा ही दुरूह है, क्योंकि एकाकी जीवन के दुख का कोई अन्त नहीं होता, अर्थात् एकाकी जीवन में निरे दुख ही दुख हैं।

विशेष—१. इन पंक्तियों में कवि का चिन्तन और भी प्रगाढ़ हो गया है। इसी चिन्तन के परिणामस्वरूप ऐसी पंक्तियों की रचना हो सकी है—

"आकांक्षा का उच्छ्वसित वेग
मानता नहीं बन्धन विवेक।

२. तारे का मानवीकरण है। यह छायावाद की प्रमुख प्रवृत्ति है।

३. सम्भवतः कवि का योगी जैसी एकांकी साधना पर विश्वास नहीं है, तभी तो वह एकाकी जीवन को अनन्त विषाद से परिपूर्ण मानता है।

४. इन पंक्तियों में पन्तजी के जीवन का स्पष्ट संस्पर्श है।

चिर अविचल······जग दर्शन !

शब्दार्थ—अविचल = स्थिर। मीन = मछली। मगन = मग्नासक्त, एकाकीपन। निष्कंप = स्थिर। निरुपम = अद्वितीय। सम = सामरस्य। घन = घना, बादल।

अर्थ—इन पंक्तियों में कवि एकदम दार्शनिक हो उठा है। तारे को उसने एक मुक्त पुरुष बना दिया है। जिस प्रकार मुक्त पुरुष किसी बन्धन को स्वीकार न करके अपनी ही साधना में स्थिर रहता है, उसी प्रकार यह तारा भी स्थिर और प्रकाशयुक्त है तथा किसी प्रकार के बन्धन को स्वीकार नहीं करता। यह तारा उस अनन्त सागर की मछली के समान है जो सागर में बिना किसी बन्धन के इधर से उधर दौड़ती फिरा करती है और अपने एकाकी जीवन में ही प्रसन्न रहती है। इसी प्रकार यह तारा भी समूचे आकाश में विचरण करता है और एकाकी रहता है। यह अपने ही स्वरूप में लीन रहता है और उसका स्वरूप नित नया है। यह तारा स्थिर दीप-शिखा की भाँति अद्वितीय है जिस प्रकार दीप शिखा जगत् के अन्धकार को दूर करती है, उसी प्रकार भी मन-जीवन के अन्धकार को तिरोहित करता है। यह शुद्ध है ·

शुक्र तारे के समान है तथा इसने सामरस्य प्राप्त कर लिया है—दु:ख-सुख विफलता-सफलता में इसके लिए कोई भेद नहीं रह गया है।

इसके बाद वह अनन्त आकाश वायु के झोंकों से भौंरे जैसी गुंजार करने लगा तथा बादलों का अन्धकार भी सुन्दर दिखाई देने लगा। अन्य तारों के उग आने से इस तारे के अकेलेपन का दुःख का भार भी हल्का हो गया और आकाश का आँगन जगमगाने लगा तथा अत्यधिक (घन) बुन्द की कलियों के समान असंख्य तारों से लद गया। उन तारों के मध्य वह तारा आत्मा के समान और अन्य तारे जग-दर्शन के समान प्रतीत होने लगे; अर्थात् मानो वह तारा ब्रह्म है जिसने अपने एकाकी जीवन के भार को दूर करने के लिए सृष्टि की रचना करली है।

३. ब्रह्मा ने अपने सूनेपन को दूर करने के लिए ही सृष्टि की रचना की, इसे महादेवी भी स्वीकार करती हैं—

> "हुआ यों सूनेपन का भान
> प्रथम किसके उर में अम्लान
> और किस शिल्पी ने अनजान
> विश्व-प्रतिमा कर दी निर्माण ?

४. उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकारों के भाव-व्यंजक प्रयोग हैं।

१३. नौका विहार

कविता-परिचय—'एक तारा' कविता का परिचय देते हुए हमने पन्तजी के ये शब्द उद्धृत किए थे—"प्राकृतिक चित्रणों में प्रायः मैंने अपनी भावनाओं का सौन्दर्य मिलाकर उन्हें ऐन्द्रिय चित्रण बनाया है, कभी-कभी भावनाओं को ही प्राकृतिक सौन्दर्य का लिबास पहना दिया है।" ये शब्द जितने 'एकतारा' पर चरितार्थ होते हैं, उतने ही प्रस्तुत कविता पर भी होते हैं। कवि भौतिक 'नौका विहार' करता हुआ और प्रकृति के सौन्दर्य के रमणीक चित्र खींचता हुआ अन्त में आध्यात्मिक 'नौका-विहार' का वर्णन करने लगता है—

> हे जीवन के कर्णधार ! चिर जन्म-मरण के आर पार
> शाश्वत जीवन नौका विहार !

भाव और कला की दृष्टि से यह कविता अत्यन्त विशद एवं सफल है। भाव और कला का अपूर्व सामंजस्य अनुपम चित्रों की सृष्टि करता है। डा०

नगेन्द्र के शब्दों में—"पन्तजी की कविताओं में 'नौका-विहार' अपने चित्रों के लिए प्रसिद्ध है। वास्तव में शब्द और तूली में इतना निकट सम्बन्ध हिन्दी का कोई कवि स्थापित नहीं कर सका।" डा० नगेन्द्र के ये शब्द किसी प्रकार की अत्युक्ति अथवा अतिशयोक्ति न कहे जाकर इस कविता का यथार्थ और सही-सही मूल्यांकन करते हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

शान्त स्निग्ध······मृदुल लहर !

शब्दार्थ—स्निग्ध=तरल। ज्योत्स्ना=चाँदनी। सैकत=बालू की। दुग्ध=दूध। तन्वंगी=कृश शरीर वाली, पतली। विरल=पतली। श्रांत=थकी हुई। क्लांत=दुःखी। कुंतल=बाल, केश। विभा=आभा, चाँदनी। वर्तुल=गोल।

अर्थ—कवि रात्रिकालीन गंगा का, जिस पर चन्द्रमा की चाँदनी छिटकी हुई है, वर्णन करता हुआ कहता है कि चन्द्रमा की चाँदनी से आवृत होकर आकाश शान्त, तरल और उज्ज्वल दिखाई पड़ता है। उसमें जो तारे खिले हुए हैं, वे मानो उस असीम आकाश के नेत्र हैं जिनसे वह निनिमेष दृष्टि से पृथ्वी को देख रहा है पृथ्वी पर पूर्णत: शांति छाई हुई है। इस समय बालू की शैया पर दूध जैसी श्वेत, पतले अंग वाली गंगा लेटी है। उसका यह पतलापन ग्रीष्म ऋतु के कारण है (क्योंकि गर्मी में गंगा का प्रवाह बहुत-कुछ सूख जाता है) और वह मानो गर्मी के ही कारण थकी हुई, दुःखी हुई निश्चल होकर (बालू की शय्या पर) लेटी हुई है (गर्मी में व्यक्ति थक जाता है और गर्मी से परेशान होकर चुपचाप लेट जाता है। गंगा की भी यही दशा है)। गंगा तपस्वियों की बाला की भाँति निर्मल है। चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब ही मानो उसका मुख है। इस मुख की आभा से उसकी हथेली—लहरें—दीप्त हो रही हैं (चाँदनी के साथ अंकित होकर लहरें बहुत सुन्दर दिखाई देती हैं) या वे लहरें मानो उसके कोमल केश हैं जो अपनी लम्बाई के कारण उसके हृदय पर लहरा रहे हैं। उसके गोरे अंगों पर तारों से खचित आकाश रूपी सुन्दर और महीन नीला वस्त्र चंचल होकर तथा सिहर-सिहर कर लहरा रहा है। (कहने का भाव यह है कि आकाश तारों से युक्त है। यह मानो नीला एवं महीन वस्त्र है। तारों से खचित आकाश का प्रतिबिम्ब गंगा में पड़ रहा है, मानो वह इस नीले अंचल को धारण किए हुए है। लहरें जब मन्द वायु के साथ हिलती हैं तो साथ ही आकाश ..

प्रतिबिम्ब भी हिलता है। यही उस अधरा का लहराना है। और गंगा जी की लहरों पर चन्द्रमा की जो चाँदनी छिटकी हुई है वह लहरों के साथ ही घटती-बढ़ती है। यही मानो साड़ी की सिकुड़न है। दूसरे शब्दों में, चन्द्रमा की रेशम सी झलकदार आभा से परिपूर्ण होकर गोल और मृदुल लहर मिमट कर साड़ी की सिकुडन-सी जान पड़ती है।

विशेष—१. गंगा का तापस बाला के रूप में चित्रण अत्यन्त भाव-व्यंजक एवं सांगोपांग है।

२. गोरी हथेली पर चन्द्रमा जैसे आभायुक्त मुख का रख लेना सौंदर्य की साकार प्रतिमा को जन्म दे देना है। यही भाव 'शशि मुख से दीपित मृदु करतल', में अभिव्यक्त किया गया है।

३. छायावादी प्रवृत्ति के अनुसार गंगा का मानवीकरण किया गया है।

चाँदनी रात ····· सघन !

शब्दार्थ—सत्वर=शीघ्र। सस्मित=हँसती हुई। तरणि=नौका। शुचि=स्वच्छ, निर्मल। रजत=चाँदी। प्रसन=प्रसन्न। सघन=गहरे।

अर्थ—रात का प्रथम पहर था। हम शीघ्र ही नाव लेकर चल पड़े। चाँदनी में बालू मुस्कराती हुई सीपी-सी जान पड़ती थी जिस पर मोती के समान चाँदनी की आभा विकीर्ण हो रही थी। लो, देखते-देखते नावों पर पालें चढ़ा दी गईं और लंगर उठा दिया गया। पालों के पंखों को खोलकर वह हँसिनी-सी सुन्दर छोटी नाव सुन्दरता से धीरे-धीरे तिरने लगी। जल स्थिर था, अतः स्थिर जल रूपी निर्मल दर्पण में चाँदी जैसे श्वेत किनारे प्रतिबिम्बित होकर थोड़ी देर के लिए अपने आकार से द्विगुणित जान पड़ने लगे। कालाकाँकर के राजभवन का प्रतिबिम्ब भी जल में परिलक्षित होता था जो ऐसा जान पड़ता था मानो वह राजभवन अपनी पलकों में वैभव के गहरे स्वप्न सँजोकर जल में निश्चित और प्रसन्न होकर सो रहा हो।

विशेष—१. उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकार।

२. 'मृदु मन्द मन्द, मंथर मंथर' में नाव की गति का चित्रण साकार हो उठा है।

३. जल को दर्पण मानना पन्त जी की बहुत प्रिय कल्पना जान पड़ती है। 'पर्वत प्रदेश में पावस', कविता में भी यही कल्पना इन पंक्तियों में मुखरित हुई है—

"मेखलाकार पर्वत अपार, अपने सहस्र दृग सुमन फाड़
अवलोक रहा है बार-बार, नीचे जल में निज महाकार,
—जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण-सा फैला है विशाल !

इन पंक्तियों में पर्वत को जल में अपना दुःख देखते हुए बताया गया है ।

नौका से ···· रुक रुक ।

शब्दार्थ—विस्फारित=फटे हुए, निर्निमेष । चल=चंचल । तारक दल=तारों के समूह । अन्तस्तल=हृदय । अविरल=निरन्तर । कल=सुन्दर । कच=केश । तिर्यक्=टेढ़ा । मुग्धा=नायिका का एक भेद, वह नायिका जिसमें लज्जा अधिक होती है ।

अर्थ—जब नाव चलती थी तो स्थिर जल हिलने लगता था और साथ ही उसमें प्रतिबिम्बित होने वाला अनन्त आकाश भी हिलता हुआ जान पड़ता था । इसी घटना के आधार पर कवि कहता है कि जब नौका चलती थी तो आकाश के ओर-छोर भी हिल जाते थे । तारों की ज्योति गंगा में पड़ रही थी, इसी पर कवि कल्पना करता हुआ कहता है कि निर्निमेष दृष्टि से स्थिर होकर तारों का समूह जल के हृदय में प्रकाश करके मानो कुछ खोज रहा था (व्यक्ति अँधेरे में जब भी किसी वस्तु को ढूंढता है तो वह दो क्रियायें करता है—पहली तो यह कि वह दीपक आदि की सहायता से अन्धकार में प्रकाश करता है, और दूसरी यह कि वह अपनी आँखों को फाड़-फाड़कर हर वस्तु को देखता है । अतः इस वर्णन में कवि की दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म है) । तारों के उन छोटे-छोटे दीपकों को निरन्तर अपने चचल धवल की ओट में करके (ताकि वे बुझ न जायें) लहरें पल-पल लुकती-छिपती फिर रही हैं । सामने ही शुक्र तारे की शोभा झलमल करती हुई चमक रही है । वह पानी में इस प्रकार दिखाई देती है जैसे जल में कोई सुन्दर परी अपने सुनहले केशों में स्वयं को छिपा कर तैर रही हो (काली लहरें कच हैं और उन पर यत्र-तत्र झलकती हुई चाँदनी परी के शरीर का सौन्दर्य) । दशमी का चन्द्रमा अपने टेढ़े मुँह को मुग्धा नायिका की तरह रुक-रुक कर तथा लहरों के घूँघट में छिपा-छिपाकर दिखा रहा है । (लहरें जब हिलती हैं तो चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब नष्ट हो जाता है, और जब स्थिर होती हैं तो यह दिखाई देने लगता है । इसी घटना को लेकर कवि अपनी कल्पना के बल पर चन्द्रमा को मुग्धा नायिका बना दिया है ।)

विशेष—१. इन पंक्तियों में कवि की सूक्ष्म-दृष्टि सर्वत्र परिलक्षित होती है।

२. उपमा और उपमेयों का प्रयोग नवीन भी है और प्रभावशाली भी।

३. 'लो पालें चढ़ीं, उठा लंगर', और 'सामने शुक्र की छवि 'मलमल', इन वाक्यों से तत्कालीन वातावरण आँखों में झूलने लगता है।

अब पहुँची······विलोक!

शब्दार्थ—चपला = चंचल नाव। कगार = किनारा। तीर = किनारे। [illegible]दा = दुर्बल। विटप माल = पेड़ों की पंक्ति। भ्रू-रेखा = भौं। अराल = टेढ़ी। ऊर्मिल = लहरों से युक्त। प्रतीप = उलटा।

अर्थ—अब हमारी चंचल नाव बीच धारा में पहुँच गई थी और स्थान का अन्तर अधिक होने से चाँदनी से चमकता हुआ किनारा दिखाई नहीं देता था। [दू]र होने से वे दोनों ओर के दोनों किनारे दो बाहुओं की भाँति धारा के दुर्बल [ए]वं कोमल शरीर को आलिंगन में बद्ध करने के लिए अधीर से दिखाई देते थे [औ]र बहुत दूर पर खड़ी हुई वृक्षों की पंक्ति भौंह की रेखा की भाँति कुटिल-सी [दि]खाई देती थी। आकाश में खचित तारे ऐसे लगते थे मानो अपने विशाल [न]यनों से आकाश निर्निमेष दृष्टि से देख रहा हो। जिस प्रकार माँ के हृदय के [पा]स बच्चा सोया रहता है, उसी प्रकार धारा के पास एक द्वीप था जिससे [ट]कराकर चाँदनी से सुसज्जित लहरों का प्रवाह वापिस लौट रहा था। वह [उ]ड़ने वाला पक्षी कौन है? क्या यह विरह विकल कोक पक्षी है जो जल में [प]ड़ी हुई अपनी ही छाया को अपनी प्रेयसी कोकी जानकर अपना विरह-शोक [मिटाने के लिए] उड़-उड़कर उसके पास जाना चाह रहा है।

विशेष—१. नवीन उपमानों का विशद कल्पना के साथ भव्य प्रयोग [हु]आ है।

२. उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकारों का प्रयोग भावपूर्ण है।

३. 'वह कौन विहग' से वातावरण का सजीव एवं समूर्त्त चित्रण है।

पतवार घुमा······सहोत्साह!

शब्दार्थ—प्रतनु = हल्का। स्फार = बड़े-बड़े। रश्मियाँ = किरणें। [स]होत्साह = उत्साह के साथ।

अर्थ—नौका का बोझ हल्का होने से पतवार घुमाकर हमने उसे विपरीत

धार की ओर घुमा दिया। चलती हुई नौका ऐसी प्रतीत होती थी मानो डाँडों की चचल हथेलियाँ फैलाकर और उनमें वड़े-बड़े फेन रूपी मुक्ताफलों को भरकर वह उन्हें जल मे बिखरा कर उनके तारों से हार बना रही थी (नाव के चलने पर फेन उठते और मिटते हैं)। रेखाओं की भाँति तरलता और सरलता से खिच-खिचकर चाँदी के साँपों जैसी चंचल किरणें जल मे चमकती हुई नाच रही थीं। लहर रूपी बेलों में शशि और तारों के रूप में असंख्य फूल खिल-खिलकर फेनयुक्त जल में विलीन हो रहे थे। अब सरिता का प्रवाह गहरा न था, अतः हम आसानी से लग्गी से पानी की थाह ले लेकर घाट की ओर उत्साह के साथ बढ़े।

विशेष—१. 'रलमल' शब्द से साँपों का फिरने का चित्र साकार हो गया है।

२. चाँदनी युक्त किरणों को चाँदी के साँपों से उपमित करना अत्यन्त भावमयी कल्पना है।

इस धारा……अमरत्व दान !

शब्दार्थ—शाश्वत = चिरंतन। उद्गम = उत्पत्ति-स्थान। संगम = मिलने का स्थान। विलास = आनन्दमयी क्रीड़ा। अस्तित्व = सत्ता।

अर्थ—इन पंक्तियों में कवि अन्त में उसी प्रकार दार्शनिक शब्दावली में बोलने लगता है जिस प्रकार 'एक तारा' मे। वह अपनी 'नौका विहार' को आध्यात्मिकता का रूप देता हुआ कहता है कि जिस प्रकार यह गंगा की धारा है जिससे लहरें उत्पन्न होती हैं, जिसकी गति और सागर से मिलन चिर तन है, उसी प्रकार विश्व भी इस धारा के समान है जिसमें लहरों की भाँति असंख्य प्राणियों का जन्म होता है, जो सदैव गतिशील है; ब्रह्म से मिलन जिसका चिरन्तन धर्म है। जिस प्रकार आकाश का नीलापन, चन्द्रमा की चाँदी जैसी श्वेत हँसी और लघु लहरों की आनन्दमयी क्रीड़ाएँ चिरन्तन हैं, उसी प्रकार जीवन की दुःख, सुख और उल्लासमयी क्रियाएँ भी सदैव स्थिर रहने वाली हैं। हे जग-जीवन के कर्णधार भगवन् ! जीवन और मरण के आर-पार जीवन-नौका-विहार भी शाश्वत है अर्थात् जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद जन्म जीवन का अटल धर्म है। नौका-विहार के आनन्द में मैं तो अपनी सत्ता को ही भूल बैठा था; किन्तु यह तो जीवन का चिरन्तन

है, अर्थात् जीवन का गति का अंकुर करता है और मुझे ममता का दान देता है।

विशेष—१. मोहा-विहार को जीवन की मोहा-विहार में कवि ने बड़ी चतुरता से चित्रित किया है। यह चित्रण दार्शनिक होते हुए भी दर्शन के शुष्क भावों की भाँति नीरस नहीं है।

२. जीवन के दो अनिवार्य पक्षों—जन्म और मृत्यु का—वर्णन पन्त जी ने 'परिवर्तन' में भी इन शब्दों में किया है—

> "खोलता इधर जन्म लोचन,
> मूँदती उधर मृत्यु क्षण-क्षण।"

गीताकार को भी यही मत मान्य है।

३. जीव का मृत्यु के उपरान्त ब्रह्म में लीन हो जाना भारतीय दर्शन-शास्त्र की एक प्रमुख मान्यता है। यह मान्यता अद्वैतवाद पर आधृत है।

१४. सांध्य वन्दना

कविता-परिचय—इस कविता का रचना-काल सन् १९३२ है। यह काल पन्त जी के आध्यात्मिक विकास का युग है। अतः वे आज के घोर भौतिकवादी युग में रहकर भी ईश्वर की असीम सत्ता पर विश्वास करते हैं—

> "ईश्वर में चिर विश्वास मुझे !"

प्रस्तुत कविता में एक ओर सन्ध्याकालीन वातावरण का यथातथ्य चित्रण है और दूसरी ओर ईश्वर से प्रार्थना की गई है कि वह संसार के समस्त क्लेशों एवं अज्ञानों का हरण करे तथा संसार में सुख और शान्ति का प्रसार करे। भावाभिव्यक्ति अत्यन्त सरल भाषा में की गई है। कल्पना का आवरण भी विशेष नहीं। फलतः भाव एकदम बोधगम्य हैं। अपने इस चिन्तन-प्रधान काल में पन्त जी ने ऐसी प्रसादगुण से युक्त कविताएँ कम ही लिखी हैं।

जीवन का······भरो हे !

शब्दार्थ—श्रम = थकान। ताप = दुःख। सुखमा = सुषमा, शोभा।

अर्थ—कवि सन्ध्याकालीन वन्दना करता हुआ ईश्वर से प्रार्थना करता है कि हे ईश्वर ! जीवन की थकान और दुःख का निवारण करो। सुख की शोभा के मधुर सोने से सूने जग के गृह और द्वारों को भर दो, अर्थात् जिस प्रकार स्वर्ण आदि के आने से गृह की शून्यता नष्ट होकर वैभव में परिणत हो जाती है, उसी प्रकार संतप्त संसार को सुख की शोभा से आच्छन्न कर दो।

सोते गृह······करो, हे !

शब्दार्थ—श्रान्त=थके हुए। चराचर=जीव। पल्लव=पत्ते। प्रच्छाय=छाया।

अर्थ—समस्त प्राणी दिनभर के कार्यों से थककर अपने-अपने घरों को लौट रहे हैं। वन नीरव एवं शान्त है, मन इनके अधरों पर अपनी करुणा का पत्ता रूपी हाथ झुकाकर मर्मर का शब्द भर दो, अर्थात् जो मन उदास और खिन्न हैं, उनमें प्रसन्नता और स्फूर्ति का उसी प्रकार संचार कर दो जिस प्रकार पत्तों की मर्मरध्वनि से वृक्षों की नीरवता सजीव हो उठती है। तुम अपनी करुणा से विश्व रूपी घोंसले की छाया कर दो, जिससे उसमें धूप रूपी दुःख का प्रवेश न हो।

उदित शुक्र······विचरो, हे !

शब्दार्थ—शुक्र=एक तारे का नाम। भानु-कर=सूर्य की किरणें। स्तब्ध=शान्त। पद्म=कमल। दल=समूह।

अर्थ—अब सूर्य की किरणें छिप गई हैं और शुक्र तारा उदय हो गया है। पवन शान्त है और कमलों के दलों ने अपनी आँखें नीची कर ली हैं, अर्थात् वे कुम्हला गए हैं, उसी प्रकार तुम संसार के अज्ञान को हरण करके सुखद स्वप्न की भाँति उसके हृदय में विचरण करो।

विशेष—१. रात्रि का यथार्थ वर्णन है।

२. अन्तिम दो पंक्तियों में उपमा अलंकार है।

१५. स्वप्न-कल्पना

कविता-परिचय—प्रस्तुत कविता में स्वप्न का मानवीकरण किया गया है। जिस प्रकार 'बादल' कविता में बादल अपने मुख से अपना परिचय देता है, उसी प्रकार इस कविता में स्वप्न भी अपनी बात कहता है। यद्यपि इसमें स्वप्न का सर्वांगीण मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत नहीं हो सका है। (इतनी सी पंक्तियों में ऐसा सम्भाव्य भी नहीं था) तथा उसका कुछ स्पर्श अवश्य किया गया है। उदाहरणार्थ निम्नांकित पंक्तियाँ देखिए—

'हम मनोलोक से जग में
युगयुग में आते जाते'

स्वप्न मन की उपज है। यह उपज आज से नहीं, युग-युगों से चली आ

रही है। इसी तरह की अवस्था के रागिनी करती है। अपूर्ण विषय होते हुए
भी यह कविता अधिक गूढ़ और दुरूह नहीं है। यह सच है कि इसमें कवि के
हृदय की अपेक्षा उसके मस्तिष्क का विशद प्रसार है।

शिशुओं के······पर खिलते !

शब्दार्थ— अविकच=अविकसित। अनिमिष=निर्निमेष, अपलक। भावी
=भविष्य। स्वर्ण कथाएँ=आनन्दपूर्ण कहानियाँ।

अर्थ—अपना परिचय स्वयं देते हुए स्वप्न कहता है कि हम बच्चों के
अविकसित हृदय में अनादिकाल से एक प्रकार का रहस्य बने हुए हैं (बच्चा
स्वप्न तो अवश्य देखता है, किन्तु उसका कोई अर्थ नहीं समझ पाता, इसीलिए
से 'चिर रहस्य' कहा गया है।) हम छाया-वन के गुंजन में युग
हानी कहते हैं; अर्थात् स्वप्न का अस्तित्व छाया की भाँति होता है
कार वस्तुतः छाया की कोई सत्ता नहीं, इसी प्रकार स्वप्न भी केवल
ात्र है। इसीलिए उनकी उत्पत्ति छाया-वन में मानी गई है। दूसरी ब
कि स्वप्न पर देश और काल की सीमा का बन्धन नहीं होता, इसीलि
ग-युग की गाथा कहने वाला बताया गया है। अपलक तारों की पल
न भविष्य का पथ देखते हैं; अर्थात् तारों—ग्रह नक्षत्र आ
वलोकन से ज्योतिषज्ञ बहुत-सी बातें भविष्य की बता देते हैं। इसी ब
ाधार लेकर कवि कहता है कि मानो तारों की निर्निमेष पलकों पर
प्न भविष्य की बातें बता रहे हों। उषाकाल बड़ा मादक होता है,
क सुन्दर और मनचाहे स्वप्न की तरह। इसीलिए स्वप्न कहता है कि
ा के अंचल पर नये युग की—दिवस के समारंभ की—आनन्दपूर्ण कह
खते हैं।

सीमाएँ ······डुबाते !

शब्दार्थ—निःसीम=सीमा-रहित, बन्धन रहित। मनोलोक=
क। ज्वार=चढ़ाव। दिशि=दिशा। पुलिन=किनारा।

अर्थ—स्वप्न कहता है कि संसार में सीमा बाधा और बन्धन हैं।
से घिरा हुआ है, किन्तु हम पर इनका कोई प्रभाव नहीं है। हम सदैव
ल के बन्धनों से निर्बन्ध होकर विचरण करते हैं। संसार के नियम भी
लागू नहीं होते। हम संसार के नियमों को तोड़कर ही संसार पर इ

रते हैं। हमारा आविर्भाव मन से होता है। मन से उत्पन्न होकर ही हम
नन्त काल से इस जग मे आते-जाते हैं। नव-जीवन—यौवन—की इच्छाओं
चढ़ाव में हम दिशाओं के किनारे को भी पल भर मे डुबो देते हैं – युवावस्था
युवक अधिक कल्पनाशील होता है। वह असख्य कल्पनाओं का जाल और
हले स्वप्नों का ताना-बाना प्रायः बुना करता है। 'दिशाओं के किनारे
ाने' से कवि का अभिप्राय इसी संख्याधिक्य से है।

१६. द्रुत झरो

कविता-परिचय—यह कविता सन् १९३४ में लिखी गई थी, जो 'युगान्त'
माती है। 'युगान्त' के प्रतिपाद्य की व्याख्या स्वयं पन्त जी के शब्दों में
ए—

'युगान्त' की क्रान्ति भावना में आवेश है, और है नवीन मनुष्यत्व के प्रति
त। नवीन सत्य के प्रति मेरे मन का आकर्षण अधिक वास्तविक बन नवीन
वना के रूप में प्रस्फुटित होने लगता है। दूसरे शब्दों में, बाह्य क्रान्ति के
ही मेरा मन अन्तः क्रान्ति का, नवीन मनुष्य की भावात्मक उपलब्धि का
आकांक्षा बन जाता है।" इसमें सन्देह नहीं कि प्रस्तुत कविता में कवि की
आकांक्षा अजस्र प्रवाह लेकर फूट पड़ी है। इसमें एक ओर पिछली
विकास को बदलने के लिए ओजपूर्ण आवेश है तो दूसरी ओर नवीन
न को सौन्दर्य से मण्डित करने का आग्रह भी है। इसी प्रसंग मे डा०
द्र के ये शब्द ध्यातव्य हैं—

"'युगान्त' में पन्त जी सौन्दर्य-युग का अन्त कर देते हैं। + + +
व का करुणा-वलित भाव, जो गुंजन मे आकर समझौते का रूप धारण
चुका था, युगान्त में आकर पूर्णतया मांगलिक कामनाओं का वाहक हो
है। इन कृतियों में कवि जगत् के जीर्ण उद्यान में मधु प्रभात लाने की
कांक्षा बार-बार करता हुआ देखा जाता है। उसका करुणा-तृप्त-हृदय
व-हित से पूर्ण हो गया है। वह मानवता के विकास द्वारा जीवन की
फिर से स्थापित करने की शुभेच्छाओं से आकुल है।"

इस कविता मे कवि की यही आकुलता अबाध गति से प्रवहमान है।

द्रुत झरो······विलीन !

शब्दार्थ—द्रुत=शीघ्र। जीर्ण=पुराने। पत्र=पत्ते। स्रस्त-ध्वस्त=

नष्ट प्रायः। शुष्क=सूखे। शीर्ण=निर्बल। हिम=सर्दी। ताप=गर्मी। मधुवात=वसन्त की हवा। भीत=भयभीत। च्युत=पृथक्।

अर्थ—कवि का विश्वास है कि जब तक पुरानी परम्पराओं को तिलांजलि न दे दी जायगी, तब तक नवयुग का उदय नहीं होगा और न तब तक वांछित नवीन समाज-व्यवस्था का ही उद्भव होगा। अतः वह प्राचीन परम्पराओं को पत्तों के रूप में सम्बोधित करते हुए कहता है कि हे जगत् के पुराने, नष्टप्राय; सूखे और दुर्बल पत्तों! तुम शीघ्र ही झर जाओ (ताकि तुम्हारे स्थान पर नये एवं कोमल पत्ते निकल आएँ)। तुम सर्दी-गर्मी से पीले पड़ गये हो। वसन्त ऋतु की हवा से भयभीत हो (वसन्त ऋतु की हवा पुराने पत्तों को झाड़ देती है)। तुमको किसी से लगाव नहीं रहा है, अत: तुम जड़ और पुराने बन गए हो।

बीता हुआ युग (भूतकाल) निर्जीव हो गया है। वह मरे हुए पक्षी की भाँति है। यद्यपि अभी भी उसने संसार में अपना घोसला बनाया हुआ है, किन्तु न तो उसमें बोलने की ही शक्ति रही है और न साँस लेने का दम ही (कवि ने प्राचीन परम्पराओं को 'मृत विहग कहा' है)। यद्यपि आज भी ये संसार में फैली हुई हैं, किन्तु उनकी प्रभावशालिता पूर्णतः नष्ट हो गए हैं, अतः उनको विदा करना ही श्रेयस्कर है। तुम्हारे पत्र अस्त-व्यस्त हो गए हैं, अतः उनका पृथक् हो जाना ही श्रेयस्कर है। इसीलिए कवि फिर पत्तों से कहता है कि जिस प्रकार मृत विहग के पंखों का अलग हो जाना ही ठीक है, उसी प्रकार तुम भी झर-झर कर अनन्त में विलीन हो जाओ; अर्थात् सदा के लिए छूट जाओ।

विशेष—१. इन पंक्तियों में कवि का पुरातनता के प्रति स्पष्ट विद्रोह व्यक्त हुआ है।

२. प्राचीन रूढ़ियों को 'जीर्ण पत्र' और 'मृत विहग' से उपमित करना अत्यन्त प्रभावपूर्ण है।

कंकालजाल······ प्यासी!

शब्दार्थ—नवल=नई। रुचिर=सुन्दर। पल्लव=पत्ता। मर्मर=ध्वनि। मंजरित=फला-फूला। मदिरा=शराब।

अर्थ—जीर्ण पत्तों के झड़ जाने पर अर्थात् प्राचीन रूढ़ियों के समाप्त होने

पर समाज की क्या व्यवस्था होगी; इसका वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि जिस प्रकार पुराने पत्तों के झड़ जाने पर उसकी जगह लाल-लाल कोंपल फटती हैं, उसी प्रकार प्राचीन रूढ़ियों के समाप्त होने पर जग के शरीर में—जो अब कंकाल-मात्र रह गया है—नवीन खून का दौरा होगा और प्राणों की आह्लाद-मयी ध्वनि से ध्वनित होकर जीवन में स्वस्थ हरियाली—प्रसन्नता—का प्रादुर्भाव होगा। इस प्रकार फले-फूले—विकसित—विश्व के यौवन में जगकर संसार मतवाली कोयल की भाँति आह्लादित होकर कूक उठेगा और अपने अमर प्रेम के स्वर की शराब से फिर नवयुग की प्याली भर देगा। कहने का भाव यह है कि जब प्राचीन रूढ़ियाँ समाप्त हो जाएँगी तो नवीन युग का उन्मेष होगा। उस समय सर्वत्र प्रसन्नता, सुख एवं ऐश्वर्य छाए रहेंगे। संसार सब प्रकार से सुख-सम्पन्न होगा।

विशेष—प्रकृति-विकास के माध्यम से मानव-विकास का वर्णन अत्यन्त काव्यमय एवं सजीव बन पड़ा है।

१७. ताज

कविता परिचय—इस कविता का रचना-काल सन् १९३५ है। इस समय प्रकृति के सुकुमार कवि पन्त द्रुमों की मृदुल छाया छोड़कर जग-जीवन के यथार्थ प्रांगण में उतर आए थे जहाँ उन्होंने जीवन में भीषण विषमताएँ देखी। करुण-क्रन्दन सुने और क्षुधातुरों को बेमौत मरते देखा। कवि का करुणा-कलित हृदय इस दृश्य को देखकर छटपटा उठता है और ताज के अनुपम सौन्दर्य को देखकर तो उसका यह विक्षुब्ध आक्रोश अपने प्रबल वेग में उबल पड़ता है। ताज के आधार को लेकर कवि शोषक और शोषितों के बीच आ जाता है और शोषकों की उनके घृणित व्यवहारों के कारण भर्त्सना करता है। इस कविता का प्रतिपाद्य इन दो पंक्तियों में निहित है—

"भूल गए हम जीवन का सन्देश अनश्वर,
मृतकों के हैं मृतक, जीवितों का है ईश्वर!

अर्थात् हम जीवन के इस अमर संदेश को भूल गए हैं कि जीवित व्यक्ति ही ईश्वर की सच्ची विभूतियाँ हैं और उनके सुख-दुख का ध्यान रखना ही न केवल मानवता का कर्म है वरन् ईश्वर के प्रति गहन आस्था की [illegible] भी है।

हाय……रति !

शब्दार्थ—अपार्थिव = अलौकिक । विषण्ण = दुखी । स्फटिक = संगमरमर । सौध = महल । क्षुधातुर = भूख से व्याकुल । वास-विहीन = गृह-रहित । विरक्ति = उदासीनता । रति = प्रेम ।

अर्थ—ताजमहल को देखकर कवि के मन का प्रसुप्त विद्रोह सजग हो उठता है । वह कहता है कि अत्यन्त खेद है कि मृत्यु का ऐसा अमर और अलौकिक पूजन हुआ (अपनी प्रेयसी मुमताज की स्मृति में शाहजहाँ ने इसे बनवाया था, इसी की ओर कवि का संकेत है, क्योंकि जब तक ताजमहल रहेगा, तब तक मुमताज की मृत्यु सबके दिल को कचोटती रहेगी और उसकी मृत्यु सबके दिल में सदैव ताजा बनी रहेगी) । जबकि जग के रहने वाले अन्य प्राणियों का जीवन दरिद्रता के कारण दुखी और निर्जीव-सा बन गया है। एक ओर संगमरमर के भव्य महल में मृत्यु का सुन्दर शृंगार किया गया है (ताजमहल का निर्माण मानो मृत्यु का शृंगार है) और दूसरी ओर नगे, भूख से व्याकुल और गृह-रहित होकर दरिद्र प्राणी किसी भाँति अपने जीवन के दिन काट रहे हैं । इस विचार के आते ही कवि का हृदय असीम करुणा से भर आता है और वह मानव को सम्बोधित करते हुए पूछता है कि हे मानव ! जीवन के प्रति ऐसी भी क्या उदासीनता ? अर्थात् जीवन को इस प्रकार उपेक्षित कर देना शोभा नहीं देता, क्योंकि आत्मा का अपमान हो रहा है (जीवित प्राणियों की कोई परवाह नहीं करता) और मृत व्यक्तियों के प्रति प्रेम का प्रदर्शन किया जा रहा है ।

विशेष—१. ताजमहल के प्रति कवि के असीम आक्रोश का कारण उस का करुणा-प्लावित हृदय है जो उसे चलकर आगे प्रगतिवादी बना देता है ।

२. 'हाय' शब्द का प्रयोग कवि के हृदय के अनन्त विषाद को मूर्त्त करता है । यही बात 'मानव' को सबोधित करने में भी कही जा सकती है ।

प्रेम अर्चना……ईश्वर !

शब्दार्थ—प्रांगण = आँगन । शव = मृत शरीर । कुत्सित = घृणित । अनश्वर = अमर ।

अर्थ—ताज के प्रति अपनी विद्रोहात्मक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति करते हुए कवि प्रश्न करता है कि क्या प्रेम की पूजा इसी मे है कि हम मृत्यु का सत्कार

करें ? अर्थात् क्या मृतक व्यक्तियों के प्रति अपनी प्रेमाभिव्यक्ति प्रदर्शित करना ही उच्च प्रेम का लक्षण है ? नहीं, यह समझना गलत है। क्या हम मृतकों को इकट्ठे करके जग का आँगन भरते रहें ? अर्थात् जो मृतक हैं उनकी पूजा करते रहे और जो जीवित हैं उन्हें मृतक बनाते रहें ? मृत शरीर को क्या मानवोचित आदर और रूप-रंग देना उचित है ? नहीं, कदापि नहीं। और इसके विपरीत हम मानव को हर प्रकार से दुखी रखकर—उसके जीवन के साधन छीनकर—घृणित मृतक ही बना दें ? अब कवि ताज को संबोधित करते हुए कहता है कि हे ताज ! तुम मनोहर तो अवश्य हो, किन्तु तुम में युग-युग के मृत आदर्श भी सन्निहित हैं और तुम उन्हीं को अच्छे लगते हो जिनके हृदय में मोह का अन्धकार पूरी तरह से छाया हुआ है, अर्थात् अज्ञान व्यक्ति ही मृतकों को प्यार करते हैं। इसका कारण यह है कि हम जीवन के अमर सन्देश को भूल गए हैं कि मृतकों को वही प्यार करेगा जो स्वयं मृतक है, जिसमें ज्ञान का प्रकाश नहीं है, वरना जीवित व्यक्ति ही ईश्वर की सच्ची विभूतियाँ हैं और उनके सुख-दुःख का ध्यान रखना ही न केवल मानवता का धर्म है, अपितु ईश्वर के प्रति भी अपनी गहन आस्था प्रकट करना है।

विशेष—१. प्रश्न शैली के अपनाने के कारण भाव और भी अधिक प्रभावशाली बन गए हैं।

२. ताज के प्रति कवि का विद्रोह पूँजीवाद के विरुद्ध गम्भीर आक्रोश है।

३. 'मृतकों के हैं मृतक, जीवितों का है ईश्वर' यह पंक्ति बहुत भाव-व्यंजक है। इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि भले ही अज्ञानी व्यक्ति मृतकों की पूजा करें और जीवितों का ध्यान न रखें, किन्तु इन जीवितों का भी कोई आधार है—और वह है ईश्वर। इस अर्थ से कवि की ईश्वर के प्रति गहनतम आस्था प्रकट होती है।

१८. सन्ध्या

कविता परिचय—प्रकृति के प्रति छायावाद का दृष्टिकोण एकदम नूतन है। प्रमुख रूप से छायावाद ने प्रकृति के दो रूप प्रस्तुत किए—मानवीकरण और विस्मयभरी रहस्य भावना। प्रस्तुत कविता में ये दोनों रूप मिलते हैं। एक ओर कवि सन्ध्या का केवल मानवीकरण ही नहीं करता, बल्कि ... रूपसी के रूप में सौन्दर्य अंकित करता है—

'ग्रीव तिर्यक् चम्पक द्युति गात,
नयन मुकुलित, नत मुख जलजात ।"

तो दूसरी ओर 'कौन' शब्द की बार-बार आवृत्ति करके अपनी गहनतम विस्मय भावना को अभिव्यक्त करता है। इस कविता में शब्द-चित्र बड़े ही लावण्यपूर्ण और सफल है। 'सन्ध्या' जैसे अमूर्त आधार को सजीवता की मूर्ति प्रदान कर देना सिद्धहस्त कवियों की ही साधना का फल है। पन्तजी की यह साधना यहाँ अपनी चरम कोटि पर पहुँची हुई परिलक्षित होती है। छायावादी काव्य मे यह कविता सर्वोत्कृष्ट कविताओं मे स्थान प्राप्त कर सकती है, इसमें कोई सन्देह नही है।

कहो······मृदु मौन !

शब्दार्थ—रूपसि=सुन्दरि ! व्योम=आकाश। केश-कलाप=बाल-जाल। मंथर=मन्दी।

अर्थ—कवि सन्ध्या को सम्बोधित करते हुए कहता है कि हे सुन्दरि ! बताओ तुम कौन हो ? तुम चुपचाप आकाश से भूतल पर उतर रही हो और अपनी ही शोभा की छाया मे स्वयं छिपी हुई हो। तुम्हारा सुनहला बाल-जाल चारों ओर फैला हुआ है। तुम्हारा रूप मधुर और कोमल है, तुम्हारी गति मन्द है और तुम चुप हो।

विशेष—सन्ध्या का मानवीकरण अपनत्व के भावों का द्योतक बन गया है।

मूँद अधरों में······तुम मौन !

शब्दार्थ—मधुपालाप=मधुर बातचीत। निमिप=मूँदना। चाप=ध्वनि। संकुल=परिपूर्ण। बकिम=टेढ़ा।

अर्थ—हे सुन्दरि ! तुम मौन होकर आकाश से उतर रही हो। तुम्हारे होंठ इस प्रकार भिंचे हुए हैं जैसे तुम बरबस किसी मधुर बात को दबाए हुए हो। तुम्हारी पलकें मुँदी हुई हैं। तुम्हारे चरण आहटहीन होकर पड़ रहे हैं। तुम अनेक भावों से परिपूर्ण हो। तुम्हारा भौंह रूपी धनुष टेढ़ा है। तुम मौन हो; जब संसार में चारो ओर कोलाहल है तब तुम ही केवल मौन हो।

ग्रीव तिर्यक ···· तुम कौन ?

शब्दार्थ—ग्रीव=गर्दन। तिर्यक्=टेढ़ी। द्युति=शोभा। मुकुलित=कलियों की भाँति बन्द। जलजात=कमल।

अर्थ—तुम्हारी गर्दन टेढ़ी है। तुम्हारे शरीर की शोभा चम्पक के फूल की तरह है। तुम्हारे नयन कलियों की भाँति बन्द हैं। तुम्हारा मुख कमल की भाँति नीचे की ओर झुका हुआ है। तुम रात-दिन अपनी देह की छाया में छिपकर न जाने कहाँ रहती हो? तुम कौन हो?

विशेष – सन्ध्या का मूर्तीकरण करके उसके सौन्दर्य का वर्णन किया गया है जो भावपूर्ण है।

अनिल पुलकित······में मौन!

शब्दार्थ—अनिल = समीर, वायु। स्वर्णाचल = सुनहला आँचल। लोल = चंचल। रोल = आवाज। जलद = बादल।

अर्थ—तुम्हारा चंचल सुनहला आँचल हवा से पुलकित होकर लहलहा रहा है। तुम्हारे नूपुरों की मधुर ध्वनि खगकुल की आवाज-सी जान पड़ती है। तुम सीप जैसे सफेद बादलों के पंख खोलकर आकाश में चुपचाप उड़ रही हो।

विशेष—सन्ध्या का नायिका के रूप में वर्णन है।

लाज से······तुम मौन!

शब्दार्थ—अरुण = लाल। सुरा = शराब। पावस घन = वर्षा ऋतु के बादल।

अर्थ—तुम्हारे सुन्दर कपोलों पर लाज से लालिमा छाई हुई है (सन्ध्या के समय आकाश में लालिमा छा जाती है)। तुम्हारे अधरों की सुरा इतनी नशीली है कि उसका मूल्य ही नहीं आँका जा सकता। वर्षाऋतु के बादल तुम्हारे सुनहले हिंडोले बने हुए हैं जिन पर तुम झूम-झूमकर झूल रही हो। हे एकाकिनी! तुम मधुर हो, मन्दगति हो और मौन हो। बताओ तो, तुम कौन हो?

विशेष—यहाँ सन्ध्या का चित्रण मुग्धा नायिका के रूप में किया गया है।

१६. अल्मोड़े का वसन्त

कविता-परिचय—इस कविता में अल्मोड़े की वसन्त-श्री का वर्णन किया है। अल्मोड़ा एक पहाड़ी प्रदेश है जो अपनी नैसर्गिक सुषमा के लिए प्रसिद्ध है। वसन्त ऋतु में तो इसकी सुषमा में और भी चार चाँद लग जाते हैं जिसका वर्णन पन्तजी ने प्रस्तुत कविता में किया है। प्रकृति का आलम्बन रूप में

सीधा-सादा और यथातथ्य वर्णन है। अलंकारों का प्रयोग बहुत ही स्वाभाविक है जो भावों को और भी सजीव बना देता है।

पन्तजी ध्वनि-चित्रण के सिद्धहस्त कलाकार हैं। इस कविता में भी निम्न-लिखित पंक्तियों में ध्वनि का सफल चित्रण हुआ है—

"लो, चित्रशलभ सी पंख खोल
उड़ने को है कुसुमित घाटी,—"

यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि यह कविता भाव और भाषा दोनों ही दृष्टियों से पूर्ण सफल है।

विद्रुम······कोमलालोक।

शब्दार्थ—विद्रुम=मूँगा, प्रवाल। मरकत=पन्ना, एक प्रकार का रत्न। परिमल=सुगन्ध। कृश=दुर्बल। लावण्य=सौंदर्य। हरीतिमा=हरियाली। कोमलालोक=मधुर प्रकाश।

अर्थ—कवि कश्मीर की वसन्त-श्री का वर्णन करता हुआ कहता है कि वसन्त की शोभा ऐसी प्रतीत होती है जैसे प्रवाल और पन्नों की छाया हो। सूर्य की किरणें सोने-चाँदी की भाँति गुनगुनी जान पड़ती हैं। शीतल सुगंध से पूर्ण मन्दी-मन्दी हवा चल रही है। असंख्य खिले हुए पुष्प रत्नों के समूह से जान पड़ते हैं। आकाश में इतने पक्षी उड़ रहे हैं मानो आकाश पक्षियों के चित्रों से पूर्ण कोई पटल हो। पतझड़ ने जिन वृक्षों एवं लताओं को दुर्बल और पीला बना दिया था, वे ही अब पल्लवित हो गए हैं और उन पर नवीन सौंदर्य झलक रहा है। चारों ओर हरियाली फैली हुई है जो आँखों को एवं हृदय को शीतलता प्रदान करती है। चारों ओर मधुर प्रकाश छाया हुआ है जो शीतल ज्वाला-सा प्रतीत होता है।

आह्लाद······घाटी।

शब्दार्थ—आह्लाद=प्रसन्नता। सद्य=नवीन। मंजरित=मंजरियों से लदी हुई। मुकुलित=कलियों से परिपूर्ण। दिगन्त=दिशाएँ। चित्रशलभ=चित्र से अंकित शलभ। कुसुमित=खिले हुए फूलों से भरी हुई। घाटी=पंक्ति।

अर्थ—कश्मीर की वसन्त-श्री ऐसी प्रतीत होती है, मानो प्रसन्नता, प्रेम और यौवन का नव स्वर्ग भूतल पर उतर आया हो, अथवा सौंदर्य की नवीन सृष्टि हुई हो। समस्त प्रकृति मंजरियों से लदी हुई है, समस्त दिशाएँ कलियों

से परिपूर्ण हैं। पक्षियों का कूजन और गुंजन ऐसा प्रतीत होता है मानो आकाश से वृष्टि हो रही हो। खिले हुए कुसुमों से भरी हुई घाटी ऐसी लगती है मानो चित्र में अंकित शलभ अपने पंख खोलकर उड़ने के लिए तैयार हो रहा हो। यह अल्मोड़े का वसन्त है, जहाँ पर समस्त पर्वत-पंक्ति वसन्त-श्री को लेकर खिल गई है।

विशेष—१. प्रकृति का आलम्बन रूप में वर्णन है।

२. पन्तजी ध्वनि के माध्यम से चित्र खींचने में बड़े कुशल हैं। इस कविता में —

"—लो, चित्रशलभ-सी, पंख खोल
उड़ने को है कुसुमित घाटी,—"

इसका उदाहरण है। 'पर्वत प्रदेश में पावस' कविता में भी ऐसा ही ध्वनि चित्रण है—

"उड़ गया अचानक लो भूधर,
फैला अपार वारिद के पर।

२०. बापू

कविता-परिचय—इस कविता का रचनाकाल सन् १६२७ है। यह समय वह था जब कवि पन्त न तो भूतवाद को बिल्कुल भुठला ही सका था और न पूर्णरूपेण उसका त्याग ही कर सका था। फलतः भूतवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय हो जाना स्वाभाविक था। प्रस्तुत कविता में भूतवाद मार्क्सवाद का प्रतीक है और अध्यात्मवाद गाँधीवाद का। मार्क्सवाद एकदम स्थूल दृष्टि लेकर चलता है और गाँधीवाद सूक्ष्म। इन दोनों के ही समन्वय से भावी समाज का सर्वांगिण निर्माण हो सकता है, ऐसी पन्त जी की मान्यता है—

'भूतवाद उस धरा स्वर्ग के लिए मात्र सोपान,
जहाँ आत्मदर्शन अनादि से समासीन अम्लान !

इन पंक्तियों पर अपनी टिप्पणी देते हुए स्वयं लिखते हैं—'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में क्रान्ति-भावना मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित ही नहीं होगी, उसे आत्मवाद् पर प्रमाणित करने का भी प्रयत्न करती है।

किन तत्वों में......शासवना ?

शब्दार्थ—भावी=भविष्य के। समरोन्मुख=युद्ध के लिए तैयार। भव=संसार। मण्डित=सुसज्जित। निरस्त=परास्त; नष्ट।

अर्थ—कवि बापू को सम्बोधित करते हुए कहता है कि हे बापू! तुम भविष्य के मानव का निर्माण किन तत्वों से करोगे, ताकि वह सच्चे अर्थों में मानव बन सके। इस युद्ध के लिए तैयार संसार को कौन-सा प्रकाश दोगे, ताकि वह युद्ध से विमुख होकर शान्ति प्रसार के लिए तत्पर हो जाए? तुम कौन-सा प्रयास करोगे जिससे मानव के मन में सत्य और अहिंसा का प्रकाश फैल जाए और किस प्रकार इस त्रस्त जग-जीवन को अमर प्रेम से परिपूर्ण करके स्वर्ग बनाओगे? किस प्रकार नवीन मानवता आत्म-शक्ति की महिमा से सुसज्जित होगी? अर्थात् व्यक्ति अपने आत्मबल का विश्वास प्राप्त करेगा और यह फैली हुई पशुता किस प्रकार प्रेम की शक्ति से नष्ट हो जाएगी, अर्थात् मनुष्य प्रेम के बल पर पशु के समान भयंकर मनुष्य को सच्चा मानव किस प्रकार और कब बनायेगा?

विशेष—इन पंक्तियों में कवि ने 'तुम' सम्बोधन के द्वारा बापू के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा की अभिव्यक्ति की है, साथ ही वह यह जानने के लिए भी आतुर है कि गांधी-दर्शन कब इस भू पर प्रसारित होगा ताकि इसी धरा पर स्वर्ग उतर आए।

बापू! तुमने······अनिवार्य!

शब्दार्थ—तेजराशि=तेजपुंज। आह्वान=पुकार। भूतवाद=संसार में रमने की प्रवृत्ति, भौतिकवाद। समासीन=आसीन; प्रतिष्ठित। संग्राम=युद्ध। विवर्त=परिवर्तन। क्षय=संहार। इष्ट=वांछित।

अर्थ—हे बापू? तुमने आत्मा के तेजपुंज की पुकार सुनकर, अर्थात् आत्मबल के अपूर्व कार्यों को सुनकर प्रसन्नता से रोम-रोम खिल उठता है और प्राण पुलकित हो जाते हैं। संसार के प्रति अनुराग तो उस स्वर्ग तक पहुँचने के लिए - जिसका आप निर्माण करना चाहते हैं—केवल एक सीढ़ी है; अर्थात् भौतिकवाद आपके लिए साधन है, साध्य नहीं। आप उस स्वर्ग का निर्माण चाहते हैं जहाँ आत्म-दर्शन अनादि काल से ही अपने शुद्ध रूप में प्रतिष्ठित है, अर्थात् आप आत्मबल को ही संसार में सबसे बड़ी शक्ति समझते हैं, और यह ठीक भी है। मुझे पता नहीं कि धरा को स्वर्ग बनाने के इस परिवर्तन में

कितना जन-संहार होगा; किन्तु इतना अवश्य जानता हूँ कि मनुष्य को सत्य और अहिंसा निश्चित रूप से वांछित होंगे; अर्थात् सत्य और अहिंसा के बिना मानव का उत्कर्ष असम्भव है। हे नव-संस्कृति के दूत ! तुम अनिवार्य रूप से मनुष्य की आत्मा का उद्धार करने के लिए अवतरित हुए हो। यह कार्य किसी मनुष्य के द्वारा सम्पादित नहीं हो सकता। यह तो देवताओं का कार्य है। अतः तुम देव ही नहीं, महादेव हो।

विशेष—कवि की गाँधी-दर्शन के प्रति गहरी आस्था मुखरित है, किन्तु मार्क्सवाद का जादू भी उसके सिर पर बोल रहा है, भले ही वह साध्य न होकर साधन-मात्र हो।

२१. नव-संस्कृति

कविता परिचय—इस कविता का रचनाकाल सन् १६३७ है। इस समय कवि दुर्मों की मृदुल छाया छोड़कर जन-जीवन के यथार्थ प्रदेश में प्रवेश कर चुका था जहाँ उस जन-जीवन अत्यन्त अव्यवस्थित और भ्रस्त दिखाई दिया। फलतः वह भावी समाज के सुन्दर निर्माण के स्वप्न मे डूब गया। प्रस्तुत कविता मे इसी स्वप्न का स्वरूप वर्णित हुआ है। इसमे सन्देह नहीं कि कवि ने जो भावी समाज का स्वप्न देखा है, यदि वह कार्यान्वित हो जाए तो धरा पर स्वर्ग समुपस्थित करके मानव नवीन संस्कृति की किरणों से उसे ज्योतित कर देता है; किन्तु स्वप्न केवल स्वप्न ही होते हैं।

इस कविता में कवि पर मार्क्सवाद का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। कवि द्वारा प्रस्तुत समाज का ढाँचा एकदम मार्क्सवादी है।

भाव कर्म··· विभाजित !

शब्दार्थ—भाव = विचार। साम्य = समानता। संतत = सदैव। रत = अनुरक्त, लिए। निष्क्रिय = अकर्मण्य, शक्ति-शून्य। सक्रिय = क्रियाशील। आधारित = पूजनीय; सम्मानित।

अर्थ- पन्तजी भावी समाज का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि वह सामाजिक व्यवस्था कुछ ऐसी होगी जहाँ हमेशा विचार और कर्म दोनों मे समानता रहेगी, अर्थात् व्यक्ति जो कुछ कहेगा, वही करेगा और जो कुछ करेगा, वही कहेगा, प्रत्येक व्यक्ति के विचार जन-जीवन के कल्याण के हेतु होंगे, अर्थात् वह अपने व्यक्तिगत हितों से ऊपर उठकर सर्वसुख के लिए प्रयत्नशील होगा। वहाँ का

ज्ञान वृद्ध न होकर नित नवीन होगा, अर्थात् व्यक्ति नई-नई बातों का नित अन्वेषण करते रहेंगे और वहाँ मनुष्य का मन अकर्मण्य न बनकर सदैव कर्मशील बना रहेगा। वहाँ प्राचीन रूढ़ियों के—जो अब मृत हो गई हैं अथवा समाज को अब जिनकी आवश्यकता नहीं रह गई है—बन्धन नहीं होंगे। सबका जीवन क्रियाशील होगा, अर्थात् सब निरन्तर अपने-अपने कर्मों को करने में लगे रहेंगे। वहाँ पर रूढ़ि और पुरातन रीतियों को मान्यता नहीं मिलेगी, कोई व्यक्ति लकीर का फकीर नहीं होगा। न वहाँ मनुष्य ऊँच-नीच, धनी निर्धन आदि विभागों में विभाजित होंगे, बल्कि सबका सामाजिक स्तर समान होगा, सबकी आवश्यकताओं का समान रूप से ही समाधान किया जाएगा।

विशेष—१. पन्त के भावी समाज पर मार्क्सवाद का प्रभाव स्पष्ट है।

२. कवि पुरातन रूढ़ियों के एकदम विरुद्ध है। 'द्रुत झरो' कविता में भी प्राचीन रूढ़ियों का ही सशक्त भाषा एवं अदम्य विश्वास के साथ बहिष्कार किया गया है।

धन बल से······ सशंकित !

शब्दार्थ—पूरित=पूर्ण। भव=संसार। निखिल=समस्त। दैन्य=दीनता, गरीबी। गर्हित=निन्दनीय। छाया-भाव=दुष्कर्म। त्रासित=दुखी।

अर्थ—उस भावी समाज में कोई भी व्यक्ति धन के बल से सम्पन्न होकर लोगों के श्रम का शोषण नहीं करेगा, अर्थात् पूँजीवादी व्यवस्था उस समाज में नहीं रहेगी। वहाँ पर न तो दीनता के द्वारा कुचला हुआ और न अभाव के ज्वर से पीड़ित जीवन होगा। सभी लोगों के पास अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुसार धन होगा। इसी प्रकार मनुष्य सुख से अपना जीवन बिताएगा और किसी भी व्यक्ति का जीवन उसके लिए बोझा बनकर निन्दनीय न बन सकेगा। आदिकाल से ही व्यक्ति अपने दुष्कर्मों के द्वारा जो परस्पर एक-दूसरे को दुख देते आए हैं, वह दुख भी समाप्त हो जाएगा और मनुष्य का मनुष्य के प्रति शंकालु मन विश्वास और आस्था से परिपूर्ण हो जाएगा।

मुक्त जहाँ······ज्योतित !

शब्दार्थ—मुक्त=बन्धन रहित। रति=प्रेम। परिणति=फल, परिणाम। संस्कृत=शुद्ध। वसन=वस्त्र। ज्योतित=आलोकित।

अर्थ—उस समय समाज में मन के ऊपर—विचारधारा पर—कोई भी [illegible] नहीं होगा। सभी व्यक्ति अपने-अपने विचारों में पूर्णरूप से स्वतन्त्र

होंगे। सबको जीवन के प्रति अनुराग होगा। किसी का भी जीवन अभाव के ज्वर से पीड़ित होकर उसके लिए बोझा नहीं बनेगा। संसार की मानवता का परिणाम होगा जन-जीवन, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति का जीवन मानवता से परिपूर्ण होगा। सबकी वाणी शुद्ध होगी, सबके भाव, कर्म और मन शुद्ध होंगे तथा सबके रहने के स्थान, वस्त्र और शरीर सभी शुद्ध एवं सुन्दर होंगे। कवि की यह कामना है कि ऐसा स्वर्ग, जहाँ उपर्युक्त विशेषतायें हों, पृथ्वी पर उतरे और मानव की नवीन संस्कृति की किरणों से आलोकित हो।

विशेष — १. नए समाज के स्वप्न में मार्क्सवाद की स्पष्ट अभिव्यक्ति है।
२. भाषा अत्यन्त सरल एवं प्रसादगुण सम्पन्न है।

२२. दो लड़के

कविता परिचय—यह कविता सन् १९३८ में रची गई थी। यह कविता पन्तजी की प्रगतिवादी कविताओं में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इसका विषय बहुत ही साधारण है, बल्कि साधारणतम है। इसमें केवल दो गरीब बच्चों के माध्यम से शोषित वर्ग का प्रतिनिधित्व वर्णित किया गया है। इस कविता में पन्तजी ने यह धारणा प्रकट की है कि यदि समाज की अर्थगत विशेषताएँ समाप्त हो जायें और मनुष्य आपस में प्रेम से रहकर मानवता का निर्माण करें तो इसी पृथ्वी पर स्वर्ग उतर सकता है। कहने का भाव यह है कि पृथ्वी को सर्व सुख-सम्पन्न बनाने के लिए आर्थिक विषमताओं को नष्ट करना होगा और मानव की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करनी होगी।

इस कविता में प्रगतिवाद का स्वर प्रधान है।

मेरे आँगन······मोती पीली !

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—मेरा घर टीले पर बना हुआ है और मेरे आँगन में दो छोटे-छोटे लड़के प्रायः आ जाते हैं। उनका बदन नंगा होता है, कुछ गदबदे से हैं, साँवले हैं, किन्तु देखने में सुन्दर भी लगते हैं। उनकी आकृति देखकर तो ऐसा ज्ञात होता है कि ये सिर्फ मिट्टी के मटमैले पुतले हैं, परन्तु वे बहुत फुर्तीले हैं।

वे आते हैं और जल्दी से टीले पर चढ़कर तथा इधर-उधर घूमकर कूड़े में सुन्दर सुन्दर चीजों को चुन-चुनकर ले जाते हैं—तथा सिगरेट के खाली डिब्बे,

चमकीली पन्नी, फीतों के टुकड़े और नीली पीली तस्वीरें (जो मासिक पत्रों के कवरों की होती हैं)।

विशेष—बच्चों की दीन अवस्था का तथा उनकी आदत का स्वाभाविक वर्णन है।

(७) मासिक पत्रों·········सच्चे !

शब्दार्थ—मांसल=मजबूत।

अर्थ—मासिक पत्रों के कवरों की (वे नीली पीली तस्वीरों को चुनते हैं) और वे फिर हृदय से खुश होकर बन्दर की सी किलकारियाँ भरते हैं। फिर वे दौड़कर आँगन से बाहर चले जाते हैं और आँखों से ओझल हो जाते हैं। उनका कद छोटा है, फिर भी छः सात साल की आयु के ये बच्चे बहुत ही मजबूत एवं स्वस्थ हैं।

उनका नंगा शरीर देखने में सुन्दर है जो आँखों तथा मन को मोह लेता है। चूँकि वे मानव के बच्चे हैं, इसलिए मानव होने के नाते उनके प्रति मन में आत्मीयता का भाव जग आता है। ये पासी के बच्चे मानव-पुत्र ही तो हैं। उनका रोम-रोम मानव का है और वे मानव के सच्चे साँचे में ही ढाले गए हैं।

(८) अस्थि····· साधन !

शब्दार्थ—अस्थि=हड्डी। अधिवास=निवास स्थान। अनश्वर=अमर। वह्नि=आग। उल्का=उल्का तारा जिसका उदय विध्वंसक होता है। कलेवर=शरीर।

अर्थ—इन पंक्तियों में कवि व्यंग्यपूर्ण पदावली का प्रयोग करता हुआ कहता है कि यह संसार ऐसे ही बच्चों की भाँति हड्डी और माँस के पुतलों के रहने की जगह है। यह आत्मा का निवास स्थान नहीं हो सकता, क्योंकि वह अमर और अजर है। यह अनश्वर आत्मा इस नश्वर रक्त माँस के पुतलों पर न्योछावर है; अर्थात् इसमें सच्चुम आत्मा की कोई महत्ता नहीं रह जाती, क्योंकि जो जितना कमजोर है वह जग में उतना ही अधिक रहने का अधिकारी है।

इस पृथ्वी पर जहाँ धाम, वायु, उल्का, झंझा आदि भीषण परिवर्तन होते रहते हैं, कोमल शरीर ज्यादा अधिक देर तक रह सकता है। यह कब कहाँ

निष्ठुर है और जीवन की सहज प्रकृति क्षणभंगुर है, अतः इस जड़ प्रकृति की निष्ठुरता से बचने के लिए तथा इस संसार में रहने के लिए मानव को मानवोचित साधन ही चाहिएँ। इन साधनों के अभाव में वह इस निष्ठुर धरा पर नहीं रह सकता।

क्यों न एक ··· धरा पर!

शब्दार्थ—लोकोत्तर=अलौकिक। प्रासाद=महल। हित=कल्याण।

अर्थ—मानव सभी आपस में मिलकर अलौकिक मानवता का इस जग में निर्माण क्यों नहीं करते? अर्थात् उन्हें पारस्परिक सहयोग से भव्य मानवता की सृष्टि करनी चाहिए। इससे पृथ्वी पर अपना गौरव सजोता हुआ जीवन का भव्य महल ऊपर उठेगा, अर्थात् जीवन गौरवान्वित होगा और निश्चय ही मनुष्य का राज्य मनुष्य के कल्याण के लिए स्थापित हो जायेगा।

जहाँ जीवन का प्रत्येक भाग सुरक्षित रह सके और मानव के जीवन की स्थूल आवश्यकताओं की बिना संघर्ष के पूर्ति हो जाए, जहाँ मनुष्य आपस में प्रेम से रह सके, वहाँ ही स्वर्ग स्थापित हो जायेगा और मनुष्य ईश्वर के समान बन जायेगा। इसके अतिरिक्त धरा पर और क्या स्वर्ग हो सकता है? अर्थात् यही स्वर्ग है।

विशेष—१. कवि ने अपने भावी समाज के स्वर्ग-निर्माण के स्वप्न का स्वरूप प्रदर्शित किया है।

२. समस्त कविता में प्रगतिवादी विचारधारा का प्राधान्य है।

२३. वह बुड्ढा

कविता-परिचय—इस कविता में एक बुड्ढे का और उसकी दयनीय स्थिति का वर्णन बड़े ही मार्मिक शब्दों में किया गया है। वृद्धावस्था में—विशेषरूप से उन लोगों की जो एकदम असहाय हैं—शरीर की कैसी दशा हो जाती है, इसका अत्यन्त कारुणिक चित्र खींचा गया है। यह चित्र तब और भी गहरा हो जाता है जब कवि उनके यौवन की कल्पना करके कह उठता है—

> "इस खंडहर में बिजली-सी
> उन्मत्त जवानी होगी दौड़ी!"

कवि पर इसका जो प्रभाव पड़ा, उसका भी कवि ने अत्यन्त प्रभावोत्पादक शब्दों में वर्णन किया है।

"काली नारकीय छाया निज छोड़ गया वह मेरे भीतर,
पैशाचिक-सा कुछ दु:खों से मनुज गया शायद उसमें मर।"

अतः कहा जा सकता है कि इस कविता में प्रगतिवाद की चरम अभिव्यक्ति हुई है जिसमें समाज की अव्यवस्था के प्रति प्रच्छन्न आक्रोश है।

खड़ा द्वार पर·····दौड़ो !

शब्दार्थ—पंजर=ढांचा। ठठरी=हड्डियों का ढांचा। अमर बेल=एक प्रकार की पीली बेल जो पेड़ों पर विकसित होती है। काठी=छाती। उन्मत्त=पागल।

अर्थ—कवि बुड्ढे का वर्णन करता हुआ कहता है कि उसका शरीर इतना दुर्बल हो गया है कि वह सिर्फ हड्डियों का ढांचा मात्र रह गया है। वह लाठी का सहारा लिए हुए द्वार पर खड़ा है। उसकी सिकुड़ी हुई खाल हड्डी के हिलते ढांचे से चिपटी हुई है। उसकी नसें ढीली हो गई हैं और जाल-सी बनकर उसके दुर्बल एवं सूखे हुए शरीर से चिपटी हुई हैं। वे नसें ऐसी प्रतीत होती हैं मानो पतझड़ में बिलकुल झड़ जाने वाले पेड़ से सूखी अमर बेल लिपटी हुई हो। उसका डीलडौल (शरीर का ढांचा) लम्बा है। उसकी छाती चौड़ी है जो कभी हट्टी-कट्टी रही होगी। उसके जरा-ग्रस्त शरीर को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि कभी इस खण्डहर हुए शरीर में पागल यौवन बिजली की भाँति दौड़ा होगा।

धँसी छाती की·······बाहर !

शब्दार्थ—कमठा=कमान।

अर्थ—अब वृद्धावस्था के कारण उसकी छाती की हड्डियाँ धँस गई हैं और उसकी रीढ़ की हड्डी कमान की तरह झुक गई है। उसका पेट पिचका हुआ है। कन्धों पर गड्ढे हो गए हैं और पैर की ऐड़ियां बिवाइयों से फट गई हैं। वह धरती पर बैठकर अपना माथा टेककर तथा झुककर सलाम करता है। उसकी इस स्थिति को देखकर थोड़ी देर के लिए जी में ऐसा आता है कि जिस धरती पर ऐसे असहाय एवं दुर्बल व्यक्ति रहते हों, उसे तो यदि छोड़ ही दिया जाय तो अच्छा रहे। उसकी टाँगें घुटनों से मुड़कर जाँघों से सट गई हैं। उन्हीं जाँघों के बीच वह सिर झुकाए हुए है जिससे उसका झुर्रियों से लदा हुआ मुँह निकला हुआ है।

हाथ जोड़ ······इसमें मर !

शब्दार्थ—त्रस्त=भयभीत । कातर=करुणार्द्र । उपरनी=चादर ।

अर्थ—वह हाथ जोड़कर तथा चौड़े-चौड़े हाथों की उँगलियों को सामने करके, मौन एवं भयभीत चितवन से देखकर तथा करुणार्द्र वाणी में वह अपने दुःख की कहानी सुनाता है। गर्मी के दिन थे। वह सिर पर चादर रखे हुए था और लुंगी से अपने शरीर को ढँके हुए था। उसकी नंगी देह पर काफी बाल उगे हुए थे जिनके कारण वह बुड्ढा वनमानुष-सा दिखाई देता था। वह भूखा है, यह बार-बार वह पुकारकर कह रहा था और कुछ पैसे मिलने पर वह प्रसन्न-सा होकर खड़ा हो जाता तथा अपने घर जाने लगता। जाता हुआ वह ऐसा प्रतीत होता था मानो कोई जानवर अपने पिछले पैरों के बल पर जा रहा हो।

बुड्ढे के इस दृश्य को देखकर कवि पर उसका क्या प्रभाव पड़ा, उसका वर्णन करते हुए कवि कहता है कि यह अपनी काली और नरक जैसी भयंकर लगने वाली छाया मेरे हृदय में छोड़ गया है। यदि उसके स्वरूप का रूप स्थिर करना हो तो कह सकते हैं कि वह कुछ-कुछ पिशाच-सा था; क्योंकि सम्भवतः दुःखों के कारण उसका मानवत्व तो मर चुका था और उसका स्थान पिशाचत्व ने ले लिया था।

२४. कहारों का रुद्र नृत्य

कविता-परिचय—आज के नगरों की कृत्रिम सभ्यता की चकाचौंध से बिल्कुल दूर गाँवों में अब भी कुछ ऐसी जातियाँ हैं जो अपने मनोरंजन एक बँधी हुई परम्परा में करती हैं। कहारों का रुद्र नृत्य इसी परम्परा की एक कड़ी है। प्रस्तुत कविता में इसका वर्णन किया गया है, किन्तु यह वर्णन यथातथ्य कम और भाव-प्रवण अधिक है। कवि की भावमयी कल्पना ने इस नृत्य को ऐसी उदात्त भावनाओं से मंडित कर दिया है कि नृत्य के आधार पर कवि नृत्य को भूलकर स्वयं अपनी बात कहने लगता है, अथवा उसका चिन्तन चितक की शब्दावली में मुखरित हो उठता है।

> "खोल गए संसार नया तुम मेरे मन में, क्षण भर,
> जन संस्कृति का तिग्म स्फीत सौंदर्य स्वप्न दिखलाकर।"

रहे हैं। उनकी अँगुलियाँ इस प्रकार काँप रही हैं जैसे प्रबल इच्छा की ज्वाला की शिखाएँ हों। कहारों के इस मोदभरे नृत्य को देखकर कवि कहता है कि जीवन की इतनी सघन विवशताओं के बावजूद भी तुम (कहार) इतने उल्लसित हो। तुम्हारा यह उल्लास ठीक उसी प्रकार का है जैसे शुष्क प्रदेश में पानी से लहलहाता हुआ कोई झरना फूट पड़ा हो। तुम्हारी यह विचित्र वेश-भूषा ऐसी लगती है जैसे प्रबल कामना ही अपने मनोहर रूप में उतर आई हो। एक हाथ में तुम ताँबे का डमरू लिए हो और एक हाथ पार्वती का अभिनय करने वाली नर्तकी की कमर पर रक्खे हुए हो। नृत्य की तरंगों से मदमस्त तान की तरह तुम लोगों के मन को सुख देने वाले हो। (नृत्य की थिरकनों के साथ ही जब संगीत भी आरोह और अवरोह एवं सम से बजता है, तभी आनन्द और प्रभाव पूर्ण होता है।)

विशेष—१. अमूर्त्त उपमानों का भाव-व्यंजक प्रयोग।

२. उपमा अलंकार।

वाद्यों के उन्मत्त ·····चिन्तन पर !

शब्दार्थ—वाद्य=बजाने के यंत्र। घोष=आवाज। विस्तृत=तीव्र, प्रसर। स्फीत=विशाल। भावी=भविष्य।

अर्थ—उस नृत्य का कवि के ऊपर क्या प्रभाव पड़ा, इसका वर्णन करते हुए वह कहता है कि बाजों की पागल बनाने वाली आवाज से तथा गीतों के स्वरों से स्पन्दित करके तुम मेरे हृदय पर जन-इच्छा का गहरा चित्र अंकित कर गये हो। तुम जनसाधारण की संस्कृति का क्षण-भर में प्रसार और विशाल सौन्दर्य-स्वप्न दिखा करके मेरे मन में एक नया संसार खोल गये हो, अर्थात् मेरी कल्पना को उद्दाम बना गए हो। मेरा हृदय युग-युग के उपचारों से पीड़ित है; अर्थात् मैं युग की अधूरी परम्पराओं के प्रति दुःखी हूँ। अन्य लोग मानव के खोये हुए गौरव को याद करके विस्मय में डूब जाते हैं, किन्तु मैं तो मनुष्य के भावी निर्माण के चिन्तन में लगा हुआ हूँ, अर्थात् भविष्य में कैसे तुम्हारे समाज का निर्माण हो सकता है, यही मेरे चिन्तन का विषय है।

विशेष—एक छोटी-सी घटना में इतना महत्त्वपूर्ण और उदात्त निष्कर्ष निकालना कवि पन्त की सामर्थ्य प्रतिभा और सूक्ष्म चिन्तन का परिचायक है।

२५. गंगा

कविता-परिचय—इस कविता का रचना काल सन् १९४० है। यह वह समय था जब पन्त जी समाज के यथार्थ धरातल पर उतर आये थे और समाज के कल्याण का पथ खोज रहे थे। उन दिनों वे इस निष्कर्ष पर पहुंच चुके थे कि वर्तमान समाज का हित न तो कोरी यथार्थवादिता में है और न केवल आध्यात्मिकता में ही, बल्कि इन दोनों के सुन्दर समन्वय में है। अतः पन्तजी की विचारधारा इस समन्वय को लेकर ही चली है।

यही समन्वय प्रस्तुत कविता में भी है। कविता का समारम्भ भौतिक गंगा से है, किन्तु इस गंगा के साथ ही कवि एक दूसरी गंगा की कल्पना कर बैठता है जो लोक चेतना अथवा मानस की गंगा कही जा सकती है। कवि इस लोक चेतना की गंगा को अधिक महत्व ही नहीं देता, वरन् उसके प्रति अपना अगाध विश्वास और गहरी आस्था भी प्रकट करता है।

कविता का अन्त भौतिक गंगा के वर्णन से ही होता है।

अब आधा जल······किसे ज्ञात ?

शब्दार्थ—निश्चल=स्थिर। संध्यातप=सन्ध्या की आभा।

अर्थ—कवि सन्ध्याकाल की आभा से प्रभावित गंगाजी का वर्णन करता है कि अब गंगा का आधा जल स्थिर और पीला हो गया है तथा आधा चंचल और नीला। गंगा के गीले तन पर अर्थात् गंगा के पानी पर सन्ध्या की सुन्दर आभा ऐसी लग रही है मानो रेशम का कपड़ा ढीला होकर सिमट गया हो। इस प्रकार के सुनहले सन्ध्या और प्रातःकाल के कालों को तथा चाँदी जैसे श्वेत दिन और रातों को एवं जीवन के युगों को तथा क्षणों को गंगा कहाँ बहाकर ले जाती है, किसी को भी पता नहीं है। (यों तो समय अपनी स्वाभाविक गति से चलता रहता है, किन्तु कवि की कल्पना है कि उसे गंगा ही बहा करके किसी अज्ञात प्रदेश में ले जाती है।)

विशेष—१. गंगा के जल पर पड़े सन्ध्याकालीन प्रभाव का सजीव चित्रण है।

२. अन्तिम पंक्तियों में कवि की दार्शनिकतानुभूति बरबस मुखर हो उठी है।

विद्युत हिम······और जीवित !

शब्दार्थ—विद्युत=प्रसिद्ध। निर्भर=निरन्तर। चल=चपल। स्व=

सुन्दर। ऊर्मि=लहर। निरत=संलग्न; डूबी हुई। परिणत=बदल जाना। प्रथित=प्रसिद्ध।

अर्थ—यह गंगा प्रसिद्ध हिमालय पर्वत से निकलकर तथा अपनी किरणों से उज्ज्वल, चंचल एवं सुन्दर लहरों में डूबकर और यमुना, गोमती आदि नदियों से मिलकर अन्त में यह समुद्र में जा मिलती है और उसी के रूप में बदल जाती है।

यह गंगा, जिसका ऊपर वर्णन किया गया है तथा जिसके किनारे बहुत से नगर बसे हुए हैं, भौगोलिक है और सब लोग इसे जानते हैं, किन्तु इस जड़ गंगा से मिली हुई एक और गंगा है जो जड़ न होकर चेतन है। इसे जन-गंगा कहा जा सकता है।

विशेष—इन पंक्तियों में कवि का दार्शनिक रूप मुखरित हो उठा है।

वह विष्णु पदी······श्रुता!

शब्दार्थ—शिव मौलि स्रुता=शिवजी की चोटी से निकलने वाली। भीष्म-प्रसू=भीष्म को जन्म देने वाली। जह्नुसुता=जह्नु की पुत्री। निमग्न डुबाने वाली। श्रुता=प्रसिद्ध।

अर्थ—वह भौगोलिक और जड़ गंगा सबको ज्ञात है, क्योंकि वह विष्णु के पदों से हिमालय पर्वत पर गिरकर शिव की चोटी से निकली है। यह भीष्म पितामह की जननी है और जह्नु की पुत्री है। वह देवताओं को डुबोने वाली तथा स्वर्ग में बहने वाली है और वह राजा सगर के पुत्रों का उद्धार करने के कारण प्रसिद्ध है।

विशेष—१. गंगाजी किस प्रकार इस भूतल पर आईं, इसका वर्णन भर्तृहरि ने इस प्रकार किया है—

> "शिरः शार्वं स्वर्गात्पशुपतिशिरस्तः क्षितिधरम्।
> महीध्रादुत्तुंगादवनिमवनेश्चापि जलधिम्॥
> अधोधो गंगेयं पदमुपगता स्तोकमथवा।
> विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः॥

२. यह कहा जाता है कि महाराज सगर बड़े प्रतापी और तेजस्वी राजा थे। इन्द्र को उनसे अपने सिंहासन का भय था, अतः उसने उनका अश्वमेध का

अश्व चुराकर पाताल लोक में महर्षि अगस्त्य के आश्रम में बाँध दिया । रा
सगर के साठ हजार पुत्र उस अश्व को ढूंढते-ढूंढते जब उस आश्रम में पहुँचे औ
और अश्व को वहाँ बँधे देखा तो क्रुद्ध होकर महर्षि को गालियाँ देने लगे
महर्षि ने गुस्से में आकर उनको भस्म कर दिया । इन्हीं के वंशज भगीर
अपने इन पूर्वजों का उद्धार करने के लिए अपने कठिन तप से गंगा को स्वर्ग
लाए थे । इसीलिए गंगा को 'भागीरथी' भी कहा जाता है ।

३. उल्लेख अलंकार है ।

वह गंगा······प्लावित !

शब्दार्थ—आत्म-वाहिनी=आत्म-बल से युक्त । कंचुक=नश्वर । निःसृ
=निकली हुई । नर्तित=नाचते हैं । संसृति=जगत् । प्लावित=जलयुक्त ।

अर्थ—कवि ने दो गंगा मानी हैं, एक तो भौगोलिक गंगा है और दूसरी
मानस-गंगा । अब इन दोनों की तुलना करता हुआ वह कहता है कि
वास्तविक गंगा तो मानस-गंगा ही है, यह भौगोलिक गंगा तो उसकी छाया
मात्र है । वह लोक की चेतना से प्रवाहित होती है और वह माया की भाँति
केवल भ्रमपूर्ण है । उस गंगा से आत्मबल की ज्योति विकीर्ण होती है । यह गंगा
स्वर्ग से भूमि पर आई है, अतः पतनोन्मुख है । इसका शरीर भी नश्वर है ।
यह कभी भी सूख सकती है, किन्तु वह गंगा उत्कृष्ट एवं अमर है, क्योंकि वह
लोगों के मन से निकलती है । यह गंगा तो केवल बुलबुलों को ही नचाती है,
पर उस गंगा में युग के युग बुलबुलों की भाँति नाचते हैं । वही जन-चेतना की
गंगा आज संसार के बालू रूपी प्राणों को नवजीवन देने के लिए जन के मानसों
में तरंगित हो रही है ।

विशेष—लोक-चेतना की गंगा के रूप में उद्भावना अनूठी कल्पना है ।
इससे गंगा का वर्णन आध्यात्मिक तो अवश्य हुआ है, किन्तु उसमें अध्यात्म की-
सी दुरूहता नहीं आने पाई है ।

दिशा-दिशि ······मृदु उर्वर !

शब्दार्थ—वाहित कर=प्रवाहित कर, संजोकर । पुलिन=किनारे ।
उर्वर=उत्पादक शक्ति ।

अर्थ—जिस प्रकार भौगोलिक गंगा का प्रवाह जल से है, उसी प्रकार इस

मानस-गंगा का प्रवाह अनवरत है। अतः अपने इस प्रवाह को सजोकर यह अपने तटों की सीमाओं को तोड़ती हुई अतल सागर के समान बन गई है। और यह देखते-देखते ही दिशा रूपी किनारों में नए जीवन की सुन्दर उत्पादक शक्ति भर देती।

अब नभ ······अंकित।

शब्दार्थ—श्यामल=काला। अंकित=लिखना, चिह्न डालना।

अर्थ—कवि सन्ध्याकालीन गंगा को देखकर मानस-गंगा की कल्पना में डूब गया था। उसकी कल्पना टूटी और वह फिर से भौगोलिक गंगा के दृश्य पर आ टिका। अब सन्ध्या समाप्त हो चुकी थी और आकाश में उगे हुए चन्द्रमा की सुन्दर किरणें गंगा के जल को कालिमा प्रदान कर रही थीं। चंचल लहरों से चाँदी जैसी श्वेत किरणें इस प्रकार गुँथी हुई थी मानो वे प्रकाश की मसि से उन पर कुछ अंकित कर रही हों।

२६. दिवा स्वप्न

कविता-परिचय—इस कविता में प्रकृति का बड़ा ही मनोहर वर्णन किया गया है। कवि नौका में बैठा हुआ गंगाजी के जल में विचर रहा है और जल की शोभा के साथ-साथ वह पास के वन की शोभा से भी मुग्ध हो जाता है। इस प्राकृतिक सौन्दर्य को देखकर उसका जी मचल उठता है और वह चाहता है कि जीवन के कोलाहल से दूर भागकर वह भी प्रकृति की इस सुरम्य क्रोड में अपने को छिपा ले। इस कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ पन्त-काव्य की प्रसिद्ध पंक्तियाँ है जो उन्हें पलायनवादी सिद्ध करने के लिए प्रायः उद्धृत की जाती हैं—

"यहीं कहीं सो करता, मैं जाकर छिप जाऊँ,
मानव जग के क्रन्दन से छुटकारा पाऊँ,
प्रकृति नीड़ में व्योम खगों के गाने गाऊँ,
अपने चिर स्नेहातुर उर की व्यथा भुलाऊँ।"

विशेष—इन पंक्तियों में पन्त जी का प्रकृति के प्रति अगाध प्रेम व्यक्त हुआ है।

दिन की इस ·····छोरों पर।

शब्दार्थ—फलक=पटल। पारावार=समुद्र। अहरह=दिन-रात; निरन्तर। अन्तर=हृदय।

अर्थ—दिन की इस विशाल शोभा में खुली नाव पर चढ़कर देखने से आर-पार के दृश्य बहुत मामूली-से दिखाई दे रहे थे; केवल आकाश ही नीले पटल के समान दिखाई दे रहा था। तरल बिल्लौर (एक श्वेत पत्थर) की तरह गंगा का श्वेत जल चमक रहा था जो चंचल वायु के संचरण से निरन्तर उसी प्रकार हिल रहा था जैसे शान्त हँसी हृदय को प्रसन्न कर देती है। उसकी लहरें बार-बार किनारों से टकरा रही थी जो ऐसी प्रतीत होती थीं मानो उन्मुक्त एवं तरल प्रसन्नता लहरों के रूप में उमड़कर नृत्य करती हुई पुलकित होकर किनारे के छोरों से टकरा रही थी।

विशेष—१. 'चंचल पवन आह्लादित' में उपमा का सूक्ष्म एवं भाव-व्यंजक प्रयोग है।

२. प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण है।

गुन के बल……सा फिर !

शब्दार्थ—गुन=पाल, रस्सी। प्रतनु=हल्की। चटुल=चंचल। पनेवा=एक पक्षी। सूस=एक प्रकार का पक्षी।

अर्थ—नाव पाल के बल पर चढ़ाव पर चढ़ रही थी और तट के सुन्दर दृश्य चित्रपट के दृश्यों की भाँति रह रहकर बदल रहे थे। चंचल पनेवा पक्षी पानी के नजदीक होकर उड़ रहे थे। उनको उड़ने के लिए किसी प्रकार की पतवार की आवश्यकता नहीं थी। उनकी उजली छाती इस प्रकार चमक रही थी जैसे काले-बादलों में क्षण-क्षण पर बिजली चमक उठती है। एक ओर किनारे पर पीपल का पेड़ खड़ा हुआ था जिसकी जटा जैसी-बिखरी लम्बी और टेढ़ी जड़ें बाहर निकल रही थीं। सामने सूस पक्षी जल में अपनी चमकीली पूँछ मारकर करवटें खाता हुआ पनडुब्बी की भाँति तिर रहा था।

विशेष—जल-दृश्य का सम्पूर्ण वर्णन है।

सोन कोक……मांसल कर—

शब्दार्थ—पाँतों पर=टीलों पर।

अर्थ—बालू के टीलों पर बैठे हुए सोन कोक के जोड़े परस्पर एक दूसरे को सहलाते हुए सुख देने वाली क्रीड़ा कर रहे थे। देख दिखाई कहीं भी नहीं बैठती थी। वह बार-बार इधर-उधर चक्कर काट रही थी जिसकी श्वेत और पीली परछाईं लहरों पर गिर रही थी। मछरंगा तीर की भाँति द्रुतगति से आकाश

से नीचे उतरकर तड़पती हुई मछली को पकड़कर फिर आकाश में चला गया। चाहा पक्षी करकुल (एक पक्षी) को चोंचों से फट्-फट् करते हुए उड़ रहे थे और सुरखाब आर्तनाद करते हुए आकाश में मंडरा रहे थे (जिनके पंखों के विविध रंग चमक रहे थे।)

काले,पीले ·····दोपहर !

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—(आकाश में उड़ते हुए सुरखाबों के) काले, पीले, सुनहरे और बहुत प्रकार से चित्रित पंख इसी प्रकार से चमक रहे थे जैसे मुस्कान की शोभा से मनुष्य का चेहरा भरकर चमक उठता है। टीले के ऊपर खड़े हुए बबूल पर तिनकों से बना हुआ बया का सुन्दर घोंसला लटक रहा था जो तूम्बी-सा लग रहा। उधर दूर जंगल में एक मनोहर छोटा वन देवों का-सा पर जान पड़ता था जहाँ पर छाया और धूप, हवा, वृक्षों के पत्तों की आवाज परस्पर खेलने थे और जहाँ निर्जन एवं शान्त स्थान में दोपहर की धूप इस प्रकार छायी हुई थी मानो वह कोई सुन्दर सपना देख रही हो।

वन की परियाँ ·· भुलाऊँ।

शब्दार्थ—मस्त = मस्त। नव मुकुल = नवीन कलियाँ। सौरभ = सुगन्ध। हरित = हरा। श्वसित = साँस लेता हुआ। रोमिल = रोएँदार। वन्य = वन के। अन्तर = हृदय। स्नेहातुर = प्रेम से व्याकुल।

अर्थ—जहाँ पर वन की परियाँ धूपछाँह की रंगीन और चमकती हुई साड़ियाँ पहनकर वसन्त ऋतु के फूलों को गहनों के लिए इकट्ठा करने के लिए विचरण करती हैं, जहाँ नवीन कलियों की सुगन्ध मन को मस्त बनाती है; जहाँ वृक्षों की हरियाली में साँस लेता हुआ आकाश सदैव गुंजन-सा करता रहता है, जहाँ गिलहरी चंचल लहर की भाँति अपनी सुन्दर और रोएँदार पूँछ को उठाकर पेड़ की डाली-डाली पर दौड़ती रहती हैं और जहाँ वन के पक्षी और कीड़ों के मधुर स्वर गीत के बाजों की तरह शोकाकुल हृदय की व्यथा को दूर करते हैं। ऐसा जी करता है कि वहीं कहीं मैं भी इस संसार के संघर्ष को छोड़कर जाकर छिप जाऊँ और मानव के इस दुःखपूर्ण संसार से छुटकारा पाकर प्रकृति के सुन्दर आँगन में अपना घोंसला बनाकर तथा आकाश में विचरण करने वाले पक्षियों की भाँति उन्मुक्त गीत गाकर अपने प्रेम से व्याकुल हृदय की

के कारण प्रकृति-वर्णन कुछ दब-सा गया है, किन्तु अधिकांशतः प्रकृति-प्रेम और कल्पना का समुचित सामंजस्य ही रहा है। इससे कविता में अत्यन्त भाव-प्रवणता आ गई है। पौराणिक कथानकों को प्रकृति के साथ गूँथ देने से उसमें एक ओर धार्मिक वातावरण मुखरित हुआ है तो दूसरी ओर भाव और भी अधिक प्रभावशाली बन गये हैं। यह कविता पन्त की प्रकृति-विषयक कविताओं में, निस्सन्देह, उच्च पद की अधिकारिणी है।

मानदंड······जीवन !

शब्दार्थ—मानदण्ड = मापने के यंत्र। अंचलवासी = अंचल में रहने वाला। पावन = पवित्र।

अर्थ - अपने जीवन के प्रथम प्रहर में प्रकृति के अनन्त प्रभाव की ओर संकेत करता हुआ कवि कहता है कि हे हिमाद्रि ! तुम पृथ्वी के अखण्ड माप-दण्ड हो और पुण्य से परिपूर्ण पृथ्वी में स्वर्गारोहण के समान हो। हे प्रिय ! हिमाद्रि ! जिस प्रकार तुम बर्फ से ढके हुए हो, उसी प्रकार मेरे जीवन के भी प्रतिक्षण सुखकर बर्फ से आवृत्त रहें; अर्थात् मैं सदैव तुम्हारी प्राकृतिक रमणीयता से घिरा रहूँ। तुमने ही मुझे बचपन में, जब मैं तुम्हारे अंचल में रहता था, पवित्र आशा दी, प्रकृति के प्रति मुझे निष्ठावान् बना दिया और तभी से मैं आकाश के सौन्दर्य में अपनी आँखों को उलझाकर सुनहले स्वप्न देखने का अभिलाषी बन गया हूँ।

कब से······विस्मित !

शब्दार्थ—शुभ्र = स्वच्छ। भूभृत् = सम्राट्।

अर्थ—हे हिमाद्रि ! मैं तुम्हें शब्द रूपी चोटियों के द्वारा बहुत समय से चित्रित करना चाहता हूँ, किन्तु अभी तक मेरी वह इच्छा पूर्ण नहीं हो सकी है (किसी पर्वत के गौरव के मानदण्ड उसके शिखर ही होते हैं। अतः कवि ने शब्दों के शिखरों का प्रयोग किया है)। हे अमर सुन्दरता के सम्राट् ! तुम स्वच्छ शांति में अपनी समाधि में लीन हो (श्वेत बर्फ का आच्छादन शुभ्र शांति है। उससे आच्छादित होकर पर्वत ऐसे लगता है जैसे वह किसी गहन समाधि में लीन हो)। मेरी बाल-सुलभ भावनाएँ तुम्हारे कथित सौन्दर्य को देखकर किंकर्तव्यविमूढ़-सी (जड़ीभूत) होकर तुम में ही तन्मय हो जाती थीं, और मेरे हृदय में आनन्द की लहरें उठने लगती थीं। यद्यपि मैं सौन्दर्य का

पुजारी हूँ, तथापि तुम्हारे अनन्त सौन्दर्य को देखकर मेरी वह सौन्दर्य साधना भी महा आश्चर्य से भरकर विस्मित हो जाती थी। कहने का भाव यह है कि हिमाद्रि का सौन्दर्य अनन्त एवं अपार है।

विशेष—रूपक अलंकार।

जिन शिखरों ·····झंकृत !

शब्दार्थ— स्वर्ण=सुनहली। मुकुट = ताज। मंडित = सुशोभित। स्खलित=गिरी हुई। तड़ित्=बिजली। आलोक=प्रकाश। रजत=चाँदी। स्तम्भित=आश्चर्य-चकित।

अर्थ—इन पंक्तियों में कवि हिमाद्रि की चोटियों के सौन्दर्य का वर्णन और तज्जन्य प्रभाव की ओर संकेत करता हुआ कहता है कि जिन चोटियों को प्रतिदिन प्रातः एवं सायं अपनी सुनहली किरणों से उनके सिरों पर ज्योति के मुकुट रखकर सुशोभित करती थी, जिन पर अचानक बिजली गिरकर अपने ही प्रकाश से चकित-सी हो जाती थी जिन चोटियों पर पूर्णिमा की चाँदी जैसी स्वच्छ चाँदनी इतनी मनोहारी बन जाती थी कि वे चोटियाँ सिन्धु ज्वार की भाँति आश्चर्यचकित-सी दिखाई देती थीं और जिनकी नीरवता में मेरे स्वप्नों के गीत झंकृत होते रहते थे।

विशेष—उल्लेख अलंकार।

जिनकी शीतल······तरल !

शब्दार्थ – स्वर्गोन्नत=स्वर्ग के समान दिव्य। किरीट=मुकुट। शृंग= शिखर।

अर्थ—जिन चोटियों की शीतल ज्वाला में जलकर मेरी चेतना शुद्ध बनी थी और जिनके स्वर्ग के समान दिव्य सौन्दर्य को देखकर मेरे प्राण आलोकित और सजल हो उठते थे, हृदय चाहता है कि उन्हीं शिखरों को काव्य कल्पना का उज्ज्वल मुकुट पहना दूं; अर्थात् कल्पना का आधार लेकर उनके सौन्दर्य का वर्णन काव्य के रूप में कर दूं। आज भी उन चोटियों के प्रकाश का तारल्य मेरी स्मृति में स्वर्ग-जैसी भव्य ज्योति से तरंगित हो उठता है।

रवि को······मोहित !

शब्दार्थ—निनादित=झंकृत। स्वर्णोज्वल=सुनहली आभा से प्रदि ...। इन्दु=चन्द्रमा। क्षीरोदधि=दूध का सागर।

अर्थ किरणों को चीरकर और नव विकसित शरीर को लेकर अविकच फूलों से भरी हुई वसन्त ऋतु आती थी जो फूलों के अंगों पर अपनी असंख्य किरणों से शोभा डाल देती थी। तब फूलों की खुलती हुई पंखुड़ियों का हृदय सुगन्ध से भरे हुए सांसों से स्पंदित हो जाता था। तुम्हारी वह शोभा मेरी गीत रूपी कोयल को मेरे बचपन में सदैव कूकते रहने के लिए विवश करती थी अर्थात् उस प्रकार शोभा को देखकर मेरे गीत बरबस फूट निकलते थे।

विशेष—रूपक अलंकार।

कलरव ·····परिहृत !

शब्दार्थ—कलरव=सुन्दर शोर। स्वप्नातप=स्वप्नों की गर्मी। सुरधनु=इन्द्रधनुष। प्रेषित=भेजी हुई। चन्द्रिका=चाँदनी। विजड़ित=किंकर्तव्यविमूढ़। परिहृत=घेरना।

अर्थ—पक्षियों के सुन्दर शोर से युक्त, स्वप्नों की गर्मी से परिपूर्ण होकर तथा इन्द्रधनुष का पट, शशि का मुख, बर्फ की हँसी और फूलों की सुगन्ध से युक्त शरीर लेकर यहाँ ऋतुएँ इन्द्र के द्वारा भेजी हुई अप्सराओं की भाँति बारी बारी से आती-जाती थीं। तुम्हारे शृंगों पर पड़ी हुई चाँदनी ऐसी लगती थी जैसे वह तुम्हारी अपार शोभा को देखकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गई हो। ऐसा ज्ञात पड़ता था जैसे बर्फ की परियों के समूह ने उड़कर पृथ्वी को घेर लिया हो।

विशेष—१. ऋतुओं की अप्सराओं के रूप में कल्पना अत्यन्त सुन्दर है। इसमें रूपक अलंकार है।

२. नवीन उपमाओं एवं नवीन कल्पनाओं का सुन्दर प्रयोग है।

रंग रंग ·····चित्र !

शब्दार्थ—चीर=चीरे। भृंगी=भौंरी। ऊष्मा=गर्मी। इन्द्रचाप=इन्द्रधनुष।

अर्थ—तरह-तरह के रंगों के पक्षी आकाश में उड़ते और प्रसन्न होकर गीत गाते थे। भौंरे-भौंरियों की गुंजार वन की शान्ति को सदा ध्वनित करता था। तुम्हारे ऊपर बहकर धूप की गर्मी सुन्दर दीप्तिमान सी लगती थी। वर्षा ऋतु में इन्द्रधनुष धुन के समान दिखाई देता था। मानो वह तुम्हें चित्रित करने के लिए बना हो।

जग प्रच्छाय······मोहन !

शब्दार्थ—प्रच्छाय=छाई हुई। वाष्प=भाप। मोहन=मनोहर।

अर्थ—जग में छाई हुई गुफाओं में नई-नई भापों से बनकर मेघ हाथी के समान गरजते थे। चंचल बिजली की रेखाएँ उसी समय आँखों से लिपट जाती थी और तारों के साथ ही सहज भाव से बचपन के स्वप्न याद आ जाते थे जिनसे मेरा मन भर जाता था। हे हिमाद्रि ! तुम मेरे हृदय में सौन्दर्य-स्वप्न के शिखरों की भाँति मनोहर बनकर उठ आते थे।

मेघों की छाया······ घन !

शब्दार्थ—हरित=हरी। उत्स=झरने।

अर्थ—बादलों की छाया के साथ-साथ हरी घाटियाँ भी प्रतिक्षण चलती हुई प्रतीत होती थी। वन के भीतर उड़ती हुई तितलियों के झुण्ड ऐसे जान पड़ते थे जैसे फूलों से भरे हुए वन हों। विभिन्न प्रकार की चट्टानों पर से रणमण करके निकलते हुए झरने सुन्दर गीत गाते-से प्रतीत होते थे। चाँदी जैसी श्वेत बर्फ पर पड़ी हुई बादलों की सुन्दर छायाएँ ऐसी लगती थीं, मानो इन झरनों के गीत के स्वर जम गए हों।

भीम विशाल···पुंकित !

शब्दार्थ—रभस-वेग से=द्रुतगति से। ज्योतिरिंगण=तारे।

अर्थ—उन अत्यन्त लम्बी-चौड़ी शिलाओं की वह मूकता मेरे हृदय में अब तक अंकित है, अर्थात् अभी तक मुझे उनकी याद है और फेनों के जल-खम्बों से वे निर्झर जो द्रुतगति से बहा करते थे, वे भी मैं भूला नहीं हूँ। चीड़ वृक्षों का वन, जिसकी सघनता के कारण दिन में भी अन्धेरा छाया रहता था। आज भी मेरे मन को आन्दोलित करता हुआ याद है तथा घाटियों की गहरी छायाएँ जो फूलों से इसी प्रकार भरी हुई थी जैसे आकाश तारों से भरा हुआ होता है, अब भी ज्यों-की-त्यों मेरी स्मृति-पटल पर अंकित हैं।

विशेष—इन पंक्तियों पर वर्ड्सवर्थ की कविता डेफोडिल्स (*Daffodils*) का प्रभाव है।

गति······कोमल !

शब्दार्थ—क्षिप्र=द्रुतगति से बहने वाले। स्रोत=झरने। तुषार=बर्फ। अलक=केश। प्रान्तर=प्रदेश।

अर्थ – द्रुतगति से बहने वाले निर्झरों के गीत आज भी मेरे हृदय में बसे हुए हैं; वर्फ के निर्मल तथा लहराते तालाबों की शोभा अभी तक ताजी है और वह वायु भी याद है जो सुगन्ध से भरी हुई कलियों को छूकर जिन पर हर समय भौंरे गूँजते रहते थे। हृदय को शीतलता प्रदान करती थी। नीली, पीली, हरी, लाल बिजलियों से चमकता हुआ चंचल आकाश, जो चाँदी जैसे श्वेत कुहासे के कारण थोड़ी देर में छिपकर मानो उस माया भरे समस्त प्रदेश को ही आँखों से ओझल कर देता था, अब भी मेरी स्मृति में घूमता है।

मदन दहन ....उदित !

शब्दार्थ—मदन=कामदेव। अनिल=हवा। वनश्री=वन की शोभा। अवाक्-सी=स्तब्ध-सी। गिरिजा=गंगा, पार्वती। क्रोड़=गोद।

अर्थ—अब तक कामदेव के दहन की भस्म हवा में उड़कर तन को प्रसन्नता प्रदान करती है और सती-अपर्णा (पार्वती) के तप से वन की शोभा स्तब्ध और विस्मित-सी जान पड़ती है। अब भी वहाँ की उषा का सौन्दर्य उमा के सलज्ज मुख की भाँति दिखाई देता है तथा चन्द्रमा की बढ़ती हुई कला उस गंगा के समान है जिसका जन्म पर्वत की गोद में हुआ है।

विशेष—पौराणिक कथाओं को ग्रहण करके कवि ने भाव-व्यंजना में और भी चार चाँद लगा दिए हैं।

अब भी......स्थित !

शब्दार्थ—गंधोद्दाम=सुगन्ध से उन्मत्त। गौरा=पार्वती। ऊर्ध्व=ऊँचे।

अर्थ—पुष्प-बाणों से हँसी भी-सी मनोहारिता से दिग-दिगन्तों को भरकर वही वसन्त-ऋतु अब भी वहाँ आती-जाती है। वही सुगन्ध से उन्मत्त हुई पृथ्वी है, वे ही चट्टानें हैं जो विविध प्रकार के फूलों से पल्लवित-सी जान पड़ती है। अब भी वहाँ खग और पिक अपने स्वरों में पार्वती के बचपन का वर्णन करते हैं और वहाँ ऊँची चोटियों वाले देवदारु के वृक्ष समाधि में स्थित महादेव की याद दिलाते हैं।

३०. प्रभात का चांद

कविता-परिचय—साधारणतः इस कविता में प्रभातकालीन चाँद का वर्णन ... रात्रिकालीन ज्योत्स्ना को खोकर प्रभात में धुँधला-सा पड़ जाता

है, किन्तु इस भाव के पीछे कवि ने दिनकर के उदय के रूप में स्वर्ण चेतना का उदय माना है।

"उदित हो रहा भू के नभ पर,
स्वर्ण चेतना का नव-दिनकर।"

इस प्रकार यह कविता केवल प्रकृति का चित्रण न रहकर कवि के भावों का चित्रण बन गई है। इसमें कवि की लोकहित की प्रवृत्ति भी समाहित है।

नील पंक······मुख-मण्डल !

शब्दार्थ—पंक=कीचड़। स्नेहपूरव=प्रेम से परिपूर्ण।

अर्थ—कवि प्रातःकालीन चाँद के सौंदर्य का वर्णन करता हुआ कहता है कि जिस श्वेत कमल का अंश कीचड़ में धँसा हुआ हो, उसके समान ही नीले आकाश में प्रभात का चाँद शोभा पा रहा है। आकाश की नीलिमा में प्रभात का उनींदा चाँद इतना सुन्दर लगता है कि आँखें उसे अब तक देखती रहती हैं (प्रातःकालीन चाँद में ज्योति की चमक नहीं होती, इसीलिए उसे उनींदा कहा गया है), अब इस चाँद में वह छवि नहीं है जो रात में थी। अब तो दूध के फेन की भाँति यह नवीनता एवं कोमलता लिए हुए है। इसका प्रेम से परिपूर्ण एवं करुणा से समन्वित मुख-मण्डल आँखों को बहुत ही सुन्दर लगता है।

तिरते उजले······उदासी !

शब्दार्थ—अन्तरित=छिप जाना। मनस्=हृदय।

अर्थ—जिस प्रकार बेला की कलियाँ मुरझा जाती हैं, उसी प्रकार नभ में तैरते हुए उजले बादल भी मुरझाए से प्रतीत होते हैं, और चाँद उन बादलों के मानो सीप जैसे श्वेत बादलों के पंखों के सहारे नागदन्त की तरह उड़ता जा रहा है। इसकी ज्योति छिप गई है, मानो वह चाँद भी भू का निवासी बन गया है। कवि के इस वाक्य में दार्शनिकता का पुट है। जिस प्रकार संसार में अवतरित होकर प्रभायुक्त आत्मा कलुष के कारण ज्योति-विहीन-सी बन जाती है, उसी प्रकार चाँद भी ज्योति-रहित बन गया है। ऐसा ज्ञात होता है कि चन्द्रमा पर जो धुँधला-सा आलोक है, वह तो हृदय का है और उसके मुख पर जीवन के संघर्ष में जूझने से थकान के कारण उदासी छा गई है।

विशेष—१. अन्तिम चार पंक्तियों में कल्पना का विराट प्रसार परिलक्षित होता है।

२. दार्शनिकता का पुट भी काव्यमय है।

दिव्य भले……मुख पर !

शब्दार्थ—दिव्य=सुन्दर। मंडित=सुशोभित । निशिपति=चन्द्रमा। आनन=मुख। दिनकर=सूर्य।

अर्थ—भले ही चन्द्रमा का मुख किरणों से सुशोभित होकर सुन्दर लगता हो, किन्तु मुझे तो यह गौर मांस का सा ही चन्द्रमा अच्छा लगता है, क्योंकि इसके अवसान पर ही पृथ्वी के आकाश में सूर्य का उदय हो रहा है, मानो यह संसार के लिए नवीन और स्वर्णिम चेतना लेकर आ रहा हो और इस चेतना के कारण ही मनुष्य जीवन संघर्ष में सहोत्साह जुटता है जिसके कारण उसके मुख पर श्रमकणों की पावनता दिखाई दे रही है।

विशेष—१. पन्तजी की कल्पना एक स्वर्णिम स्वप्न में तल्लीन है । इन पंक्तियों में उसी स्वप्न की ओर संकेत किया गया है।

२. निर्माण के लिए हमें ध्वंस को सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिए, यह भाव भी इन पंक्तियों से स्पष्ट है।

ऐसे ही ……शोभन !

शब्दार्थ—परिणत=बदला हुआ। विधु=चन्द्रमा।

अर्थ—जिस प्रकार नवोदित सूर्य स्वर्णिम चेतना के प्रतीक-स्वरूप उदित हो रहा है, उसी प्रकार इस विनम्र चन्द्रमा का बदला हुआ मुख नेत्रों को बहुत ही प्यारा लगता है। पृथ्वी के श्रम के पसीने से भीगा हुआ यह शरत्कालीन चन्द्रमा उस मानव के मुख की भांति सुन्दर लगता है जो अन्य लोगों के हित में अनथक परिश्रम करता है।

विशेष—उपमा अलंकार।

३१. लोरी

कविता-परिचय—लोरी बच्चे को सुलाते समय गाए जाने वाले अथवा गुनगुनाये जाने वाले गीतों को कहते हैं। इस कविता में इसी प्रकार का एक गीत है। लोरी के रूप में यह कविता काफी अच्छी है।

लोरी ……सिमटाओ !

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—लोरी गा-गाकर उसे फूलों के हिण्डोले में झुलाओ। हे नींद की प्रिय

परियों ! आकर और इस नन्हे बच्चे का मुख चूमकर इसे सुला जाओ और अपने स्वप्नों की छाया की भाँति सूक्ष्म पंखों को इस नन्हे बच्चे के ऊपर फैला जाओ।

चन्द्रलोक······रिझाओ !

शब्दार्थ—सुरभि=सुगंध ।

अर्थ—हे चन्द्रलोक की परियो ! आओ और अपने स्मित से अमृत बरसाकर इस बच्चे के होंठों को रंग जाओ। हे मलय की सुगन्ध से चंचल परियो ! तुम साँसों के अंचल भर लाओ। हे वन की परियों ! जुगनू की भाँति चमक कर प्रकाश करो और उस प्रकाश की झिलमिलाहट में इस बच्चे की पलकें झपकाओ। हे मेघों की परियों ! रिमझिम करके बरसो और पावस गीत गा-गाकर इस प्रिय बच्चे के हृदय को रिझाओ।

अहरह······लोरी गाओ !

शब्दार्थ—दोलित=स्पन्दित । मर्म=रहस्य, हृदय । मुग्ध=मोहित, अत्यन्त प्रसन्न ।

अर्थ—दिन-रात हृदय में स्पृहा की मूर्ति देखकर और मुस्कराकर माँ का हृदय अनेक कम्पनों से स्पन्दित होता है (भाव यह है कि अपने बच्चे को आधार बनाकर माँ अपने हृदय में अनेक मनोहर भावों एवं कल्पनाओं को जन्म देती है)। अपने बच्चे पर मोहित ऐसी माँ के ऊपर बलि-बलि जाओ और आनन्द-निमग्न होकर लोरी गाओ।

३२. कैशोर

कविता-परिचय—इस कविता में पन्त जी ने एक ओर जहाँ किशोरावस्था का सजीव एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है, वहाँ दूसरी ओर किशोरों के महत्वपूर्ण और महत्तम दायित्वों का भी वर्णन किया है। अतः यह निर्भ्रान्त कहा जा सकता है कि इस कविता में प्रच्छन्न रूप से कवि ने किशोरों का उनके उत्तरदायित्वों के लिए आह्वान किया है जिससे वे आधुनिक जग-जीवन की भीषणतम समस्याओं का समाधान खोजें और उसे क्रियात्मक रूप-प्रदान करें।

देख चुके······ऋतु संवत्सर !

शब्दार्थ—पंच दस=पन्द्रह । प्रभ=प्रभापूर्ण । भास्वर=दीप्त । संवत्सर=वर्ष ।

अर्थ—किशोरावस्था का समय पन्द्रह वर्ष तक माना जाता है, इ

दुनिया में रहते थे और इतिहास आदि पुस्तकों से उनका यथार्थ जगत् से परिचय होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यथार्थ और कल्पना में आकाश-पाताल का अन्तर होता है)। पहले जो विश्व उनकी दृष्टि में चपल था, अब उसकी चपलता काले अक्षरों का रूप धारण करके उन्हें नई-नई बातों से अवगत करती है और हर समय उनके सामने इसी प्रकार हिलडुलकर नाचती रहती है जैसे चींटियों की रेंगती हुई पंक्तियाँ। न जाने उनकी दृष्टि कब कल्पना के लोक से निकलकर बाहर यथार्थ जगत् में आ जाती है और उनकी कल्पना में बसी हुई राजधानियाँ उनके मन से ही नहीं, इस भूतल से भी समाप्त हो जाती हैं। किशोर का हृदय बड़ा महत्वाकांक्षी होता है। यह नीले आकाश पर, पर्वत-प्रदेशों में, पक्षियों के घोंसलों में और क्षितिज के कोनों में हवा की भाँति उड़ता रहता है और झूठी कल्पनाओं में अहर्निश डूबा रहता है। वह चिड़ियों के पंख और हिमजल के मोतियों को बटोर कर इसी प्रकार प्रफुल्लित होता रहता है जिस प्रकार पर्वत से निकल निर्झर फेनों को सजोकर कलरव करता हुआ अबाध गति से प्रवाहित होता है।

विशेष—किशोर-प्रकृति का बड़ा ही सजीव एवं मनोवैज्ञानिक चित्रण है।

क्या है······विकसित !

शब्दार्थ—सिंहावलोकन=विशाल परीक्षा। नियति=भाग्य।

अर्थ—इतिहास में वर्णित युद्ध, सम्राट्, प्रथित जन, विविध शास्त्र, विज्ञान आदि किशोरों के द्वारा ही आविर्भूत हुए हैं, इन्हीं के बीते जीवन के ये परिणाम हैं। इन्होंने आविष्कारों को किया है और युग-युगों से बचपन की विचारधाराओं के वहन करने वाले इनके मन ने ही इन आविष्कारों की खोज की है। इन्हीं के द्वारा भूतकाल की विशाल परीक्षा होती है; अर्थात् गत जीवन के अनुभवों के आधार पर नवीन विषयों को ये ही जन्म देते हैं। आज विश्व कहाँ है, किस स्थिति में है ? मानव का जीवन आज क्या बन रहा है ? किन तत्वों से पृथ्वी के जीव और उनके भाग्य को परिचालित किया जा सकता है ? जीवन की इच्छाओं को पूर्ण करने के क्या-क्या साधन हो सकते हैं ? किन आदर्शों से भावी मानव की हिंसात्मक प्रवृत्ति पर नियन्त्रण किया जा सकता है और किस प्रकार समूचे विश्व की सभ्यता और संस्कृति को विकसित किया जा सकता है ? सब महत्वपूर्ण प्रश्न हैं और इनका समाधान किशोर ही ढूँढ़ते हैं। कहने

अभिप्राय यह है कि जग-जीवन, सभ्यता और संस्कृति के विकास के सब प्रश्न किशोर ही हल करते हैं। इस धरा पर उनके ही सबसे बड़े उत्तरदायित्व हैं।

३३. तारुण्य

कविता-परिचय—इस कविता में तारुणावस्था के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की अपेक्षा तरुणों को आह्वान देना प्रधान है। 'वन्देमातरम्' वाला भाग शेष कविता से बिल्कुल असम्बद्ध-सा मालूम देता है। यदि इस असम्बद्धता का सूक्ष्म निरीक्षण-परीक्षण किया जाये तो कह सकते हैं कि जहाँ तरुणों के ओज का प्रसंग आया है, वहाँ कवि की विश्वहिताय, सर्वजनहिताय की भावना अदम्य प्रवाह में फूट निकली है और कवि अपना प्रसंग भूलकर ओजस्वी भाषा में और ओजभरी लय में 'वन्देमातरम्' गा उठा है। सर्वाशेन, कविता भाव और कला दोनों ही दृष्टियों में सफल एवं हृदयस्पर्शी है।

हृष्ट-पुष्ट······मन !

शब्दार्थ—हृष्ट-पुष्ट = सुदृढ़, मजबूत। युग्म = जोड़ा, हाथ-पैर से अभिप्राय है। शौर्य = वीरता, साहस। वीर्य = तेज।

अर्थ—तरुण युवकों का शरीर सुदृढ़ हाथ-पैरों वाला होता है। उनके खून की गति में उनका जीवन बोलता रहता है, अर्थात् उनका खून गरम होता है। उनके आत्मभाव अत्यन्त विस्तृत होते हैं और भावों की यह विस्तृतता उनकी आँखों से झाँका करती है। उनका मन वीरता और तेज से विकसित होता है, अर्थात् उनके मन में वीरता का भाव भी होता है और तेज की ज्योति भी।

विशेष—तरुणों का स्वाभाविक वर्णन है।

नहीं मानता······भू पातक !

शब्दार्थ—निशंक = शंका रहित। निर्भीक = डर-रहित। नियन्त्रण = बन्धन, कन्ट्रोल। अदम्य = जिसका दमन न किया जा सके। प्लावन = ज्वार-भाटा। पलित = वृद्ध। विदारक = फाड़ने वाला। पातक = पाप।

अर्थ—तरुण युवकों का हृदय किसी प्रकार की न तो द्विविधा में ही पड़ता है और न किसी प्रकार की बाधा तथा बन्धन को स्वीकार करता है। वह तो सदैव स्वच्छन्द और उन्मुक्त होता है। इनके हृदय में ऐसे उत्साह का, जिसका दमन न किया जा सके, प्रतिक्षण संचार होता रहता है। तरुणावस्था यौवन की अभिलाषा और आशा का ज्वार-भाटा है; अर्थात् इसमें आशाएँ और अभि-

जाधाएँ अपनी सीमा तोड़कर बहा करती हैं—खेद है, वृद्ध पीढ़ियाँ आज तक
ऐसा करती रही जिसके कारण कीचड़ और खून से सनी हुई व्यक्तियों की धरती
भयानक बन गई है और रोग, शोक, भूख, विश्वास और व्यापक अविद्या आदि
भीषण दुर्गुण समाज में फैल गए हैं तथा नंगे भूखे और लूले व्यक्तियों को देख
कर हृदय फटने लगता है। इस क्रूर सभ्यता के, जिसमे ऐसी विषम विषमताएँ
और दुःख हैं, संस्थापक कौन थे ? इस प्रकार की स्थापना व्यक्तियों के लिए
नरक, मानवता के लिए कलंक और पृथ्वी के लिए पाप है।

बदलेंगे ……रहित ।

शब्दार्थ—विपण्ण = दुःखी। आनन = मुख। अजरित = विकसित, बली।
दिशाभ्रान्त = दिशा को भूल जाने वाले, पथ भ्रष्ट। नाविक = मल्लाह। गोचर
= परिलक्षित। कवलित = खाये हुए, ग्रस्त।

अर्थ—हम (तरुण नवयुवक) ही पृथ्वी के दुःखी मुँह को बदलेंगे; अर्थात्
पृथ्वी के दु:खों को दूर करके सुख का संचार करेंगे और बिजली की भाँति
तीव्र गति से इस संसार में परिवर्तन ला देंगे। क्यों नहीं आज विश्वसंयुक्त युवकों
का एक विश्व-संगठन स्थापित हो जाता, क्योंकि यौवन की नवीनता और
आशाओं की नवीनता कोई नई बात नही है। यह तो प्रत्येक देश में प्रत्येक युग
में आती रहती है। आज जो धनी, पण्डित और वैज्ञानिक बने हुए हैं, ये न
जाने क्या करते रहते हैं, क्योंकि देश का हित तो इनसे हो नहीं रहा है। —
राष्ट्र की नौका को खेने वाले ——

अर्थात् उसके दिन समाप्त हो रहे हैं और वे दिन नीरस एवं आनन्दहीन क्षणों के रूप में चुपचाप सिसक-सिसक कर और खिसक कर गिर रहे हैं। जो कभी जग की लहलहाती डाल के समान था, वही अब हड्डियों का ढांचा-मात्र रह गया है और पत्रहीन एवं सूखी डाल की भांति हिल-हिलकर ठण्डी सांसें भर रहा है। उसकी स्मृति के कुहासे में बीते हुए यौवन के क्षण, जो वसन्त ऋतु की भांति मादक थे, रह-रहकर उभर आते हैं। (बूढ़े को अपना अतीत बहुत प्यारा लगता है, यह एक सर्व-मान्य मनोवैज्ञानिक तथ्य है।)

विशेष—परिवर्तन, कविता मे भी पन्तजी ने इस प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं।

भूल, फूलों·········अनन्त !

शब्दार्थ—वात हत=वायु से गिराई हुई। लतिका=बेल। भू-लुण्ठित=पृथ्वी पर पड़ी हुई। असार=व्यर्थ, नश्वर। अनन्त=काल, समय।

अर्थ—इस समय उस बुड्ढे की दशा ठीक उस वायु से गिराई हुई और पृथ्वी पर पड़ी हुई बेल जैसी है जो अब फूलों के आलिंगन को भूल गई है। न अब वह तरु-जीवन ही रहा है जिसकी सुरभि के कारण भौंरे उस पर गुंजन करते रहते थे और न अब अपनी स्त्री से ही कोई परिचय रहा है। न वह अब मधुरस रहा है और न वह अब रंग-रेलियों की गुंजार रही है। उसकी समस्त सुनहली इच्छाएं एवं आकांक्षाएं पूर्णतया धूल-धूसरित हो गई हैं। जिस प्रकार बीज वृक्ष के रूप में परिणत होकर और फूल-फलों की सृष्टि करके स्वयं अन्तर्धान हो जाता हैं, उसी प्रकार यौवन की अनेक मधुमय क्रीड़ाओं को जन्म देकर एवं उन्हें समेटकर काल भी सदैव के लिए विलीन हो गया हैं।

विशेष—रूपक अलंकार।

दृगों में········ स्वर !

शब्दार्थ—क्लांत=दुःखी। भव=संसार। त्वक=खाल। गिरा=वाणी।

अर्थ—जिस प्रकार कमल-पत्र के ऊपर शीतल पानी थर-थर करके हिला करता है, उसी प्रकार उसकी आंखों मे जीवन के आंसू हंसते हैं, अर्थात् उसके जीवन में आनन्द और विषाद का अपूर्व सामंजस्य हो गया है। उसका हृदय जो कभी शान्त, नीरव और आत्म-सन्तोष से परिपूर्ण था, वही अब संसार के दुःखों से भर गया है। उसकी वह देह, जो कभी हृष्ट-पुष्ट और रूप रंग की

खान थी, अब तीलियों की तरह केवल खाल का पिंजड़ा बनकर रह गई है। उसके गम्भीर शब्द अब वाणी मे ही समाहित हो गए हैं, अर्थात् वह अब गम्भीर शब्दों में बात नही करता, ठीक उसी प्रकार जैसे अधिक बोलने वाले पक्षी के स्वर उसकी आत्मा मे ही समा गए हों।

चल रहा......अनंत !

शब्दार्थ—साभार=कृतज्ञतापूर्वक। अवलम्ब=सहारा। अनन्त=ईश्वर।

अर्थ—वह वृद्ध आज लाठी पर झुक कर चल रहा है मानो झुककर वह जीवन के प्रति कृतज्ञता प्रकट कर रहा हो। इसी प्रकार झुककर चलता हुआ वह जड़ और चेतन का सहारा छोड़कर मृत्यु का द्वार पार कर जायेगा। वह अकेला ही अपने महत्त्वपूर्ण पथ पर चल रहा है। उसके पथ के साथ उसकी यात्रा का अन्त नहीं है, अर्थात् यात्रा पथ से भी अधिक लम्बी है। यदि विश्व से कोई आदमी चला जाये तो उसके द्वारा खाली हुए स्थान को स्वयं भगवान् भी नही भर सकते।

विशेष—भावों मे दार्शनिकता का पुट है।

मारता वह......पदार्थ !

शब्दार्थ—विनोद=मजाक। नीरद=बादल। रंध्र=छेद।

अर्थ—वह नवयुवक और नवयुवती को साथ-साथ देखकर मजाक से आँखें मारने लगता है (क्योंकि वह जानता है कि जवानी और उसकी मदभरी खिलवाड़ हमेशा नहीं रहती)। उसकी हँसी झुर्रियों में से इसी प्रकार चमकने लगती है जैसे बादलों मे बिजली। हँसी के कारण उसका पेट फूल जाता है और सिर नीचे को झुक जाता है। वह बूढ़ा अब पके हुए जीवन का पूर्ण फल बन गया है; अर्थात् जिस प्रकार पके हुए फल के बारे में नहीं कह सकते कि वह कब झड़ जाए, इसी प्रकार किसी बुड्ढे के विषय में भी नहीं कहा जा सकता कि यह कब मौत के मुँह मे चला जाये। अब उसका हृदय तृप्त है, अर्थात् उसमें अब आशा-आकांक्षाओं के तूफान नहीं चलते। उसकी खाल के छेद अपने गुण-धर्म को पूरा कर रहे हैं क्योंकि जिस प्रकार छेद किसी तरल पदार्थ को नहीं ठहरने देते उसी प्रकार उसका शरीर, आत्मा और प्राण विश्व के पदार्थों के तत्त्व को ग्रहण नहीं कर पाते, मानो वे खाल के छेदों से बाहर निकल जाते हैं।

व्यग्र रे……अन्तर !

शब्दार्थ—व्यग्र=आकुल। अनिल=वायु। पलित=श्वेत। अन्तर=हृदय।

अर्थ—उसके साँस इतने धीरे-धीरे चल रहे हैं मानो आज (वृद्धावस्था के कारण) अमृतमय हवा में मिल जाने को आकुल हो रहे हों। जिस प्रकार उड़ने के लिए विकल पक्षी अपने पंखों को खोल लेता है और भस्म हुए तरु को छोड़ने के लिए उड़ना चाहता है, उसी प्रकार वृद्ध भी इस देह को छोड़कर परलोक-गमन करने के लिए आतुर होता है। वह अब पितामह (बाबा) बन चुका है। उसके बाल काँस की तरह सफेद हो गए हैं। उसका घर अब प्रिय पुत्र और पोतों से भर गया है। जिस समय वह अपनी पुत्र वधू के अंचल में उसके शिशु को देखता है तो तटस्थ होकर उसका हृदय कुछ सोचने लगता है (उसे अपनी जवानी की याद आ जाती है और उसका दिल कचोटने लगता है)।

क्या है……नभ पर ?

शब्दार्थ—गहन=गम्भीर। करुणाक्त=दुःखभरा। कथानक=कहानी। विगत=बीते हुए। धूम योनि=धुएँ के बादल।

अर्थ—उसके गम्भीर हृदय में यही एक प्रश्न बार-बार भयानक रूप धारण करके उठता रहता है कि मृत्यु क्या है? अर्थात् उसे मृत्यु सदैव याद आती रहती है और वह स्वयं को मृत्यु के सन्निकट जानकर डरता रहता है। वह यह सोचता है कि क्या मृत्यु के आने पर यहीं जीवन की यह दुःखभरी कहानी समाप्त हो जायेगी। इस प्रश्न को सोचते ही उसकी स्मृति में बीते जीवन की घटनाएँ क्षण-भर के लिए साकार हो उठती हैं और जिस प्रकार आकाश में धुएँ के बादल उड़ते हैं उसी प्रकार स्वप्नों के चित्रों की भाँति गत जीवन उसकी स्मृति में छा जाती है।

यह तृष्णा……कारण ?

शब्दार्थ—[illegible]=भार। भंगुर=नश्वर। निधन=मृत्यु। मोषित=छीनी हुई।

अर्थ—वह सोचता है कि क्या जीवन का निर्माण केवल तृष्णा की बातों से हुआ है? क्या यह क्षणभंगुर जीवन उन बातों की माया है? या यह जीवन काल और दिशा की वेला पर सोया हुआ क्षण-क्षण न जाने क्या स्वप्न देखता

रहता है ? न मालूम मृत्यु को प्राप्त करके और इस शरीर के बन्धन से छूटकर यह आत्मा कहाँ विचरण करेगी ? और क्या जीवन की छिपी हुई तृष्णा ही इसके जन्म और मृत्यु का कारण है ? (ऐसे दार्शनिक भाव वृद्ध के मन में प्रतिक्षण उठते और मिटते रहते हैं।)

आत्म मुक्ति······निर्मित !

शब्दार्थ—अमित=अपार। सर्जित=रचा हुआ।

अर्थ—क्या इस अपार संसार का और इसके रंग-बिरंगे वैभव का सृजन, जो ग्रह से गुंथा हुआ है, आत्म-मुक्ति के लिए हुआ है ? क्या प्रकृति ने इसीलिए मनुष्य को इन्द्रियों का वैभव दिया है कि वह तपकर नित मुक्त बनता रहे ? सन्त भी कभी सन्त जैसी पूर्णता को नहीं पहुँचा क्योंकि जीव और प्रकृति के अनुसार ही मानव का निर्माण होता है। क्या प्रकृति का ध्येय समूचे विश्व की मुक्ति करना है और मनुष्य का ध्येय जग-जीवन का निर्माण करना है ?

तन से ही ······भूषित !

शब्दार्थ–सर्जन=रचना। भव-मुक्ति=संसार से छुटकारा। वाहन=आधार।

अर्थ—अमर चेतना (आत्मा) एक शरीर को छोड़कर दूसरा नया शरीर धारण करती है और इस आत्मा की सांसारिक मुक्ति के लिए नश्वर शरीर ही एकमात्र आधार है, बन्धन नहीं (क्योंकि तन के प्राप्त करने पर ही मनुष्य कर्म कर सकता है और कर्म ही मुक्ति अथवा बन्धन के कारण होते हैं)। मुक्ति के द्वारा प्राप्त आनन्द को स्वभाव से ही बन्धनों का रूप स्वीकृत होता है, इसीलिए आत्मा धूलि का (देह का) पुराना वस्त्र छोड़कर नये शरीरों के नवीन वस्त्र धारण करके सुशोभित होती है।

विशेष—इन पंक्तियों में गीता का प्रभाव स्पष्ट है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण आत्मा के अमरत्व का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।"

बिल्कुल इसी भाव को पन्त जी की ये पंक्तियाँ हैं—

"आत्मा जीर्ण वसन तज रज का

नव वसनों में होती भूषित !"

अतः कहा जा सकता है कि इन पंक्तियों पर गीता का गम्भीर प्रभाव है।

आत्मिक ··चिरन्तन !

शब्दार्थ—अगोचर=अदृश्यमान। सनातन=शाश्वत।

अर्थ—जब बुद्ध ने जीवन और मृत्यु की मीमांसा की तो उसे जीवन के जड़ चेतन का बौद्धिक दर्शन दिखाई दिया, क्योंकि इन जड़ और चेतन से परे भी एक अदृश्यमान सत्ता (ईश्वर) है जिसमें जीवन का शाश्वत मूल सन्निहित है। अन्न, प्राण, मन, आत्मा में तो केवल ज्ञान-भेद के कारण सत्य के ही विविध रूप हैं और इन सबमें एक ही सत्ता व्याप्त है जो मुक्त है, सच्चिदानन्द है, चिरन्तन है। इसी सत्ता को ईश्वर कहते हैं।

विशेष—इन पंक्तियों में अद्वैतवाद की स्थापना की गई है।

आज समस्त····· अकलुषित !

शब्दार्थ—नीराजन=आरती; प्रार्थना। गुंठन=अंचल। श्लथ=शिथिल; दुर्बल। अकलुषित=निर्मल; विशुद्ध।

अर्थ—आज समूचा विश्व एक अखण्ड और चिरन्तन मन्दिर की भाँति दिखाई दे रहा है। जहाँ सुख, दुःख जन्म, मरण और आरती के दृश्य परिलक्षित होते हैं। ये दृश्य सदैव एक-से होते हैं। इनमें कहीं भी परिवर्तन दिखाई नहीं देता। जिस प्रकार उषा के सुनहले अंचल से ज्योति निकलकर पृथ्वी को स्पर्श करती है, उसी प्रकार ज्ञान की अमर ज्योति मन को स्पर्श कर रही है; अर्थात् ज्ञान विकीर्ण हो रहा है। शिथिल जीवन की छाया पद तलों पर पड़ी हुई है, अर्थात् नीचे की ओर जा रही है और सामने नवीन ज्ञान की ज्योति से जगमगाता हुआ देश दिखाई दे रहा है। पुष्पवती और हरीतिमा से युक्त पृथ्वी पर जो घास उगी है वह पाप और ताप से पृथक् है, इसीलिए वह हमेशा विशुद्ध रहती है; अर्थात् सम्यक् ज्ञान सभी प्रकार के दोषों से मुक्त होता है।

स्वर्ग चेतना······चिरन्तन !

शब्दार्थ—छायानन=छाया से परिपूर्ण मुख। विनत=झुका हुआ। पद्म=कमल। स्तिमित=आदृत्त।

अर्थ—जिस प्रकार स्वर्ग से धूप धरातल पर उतरती है, उसी प्रकार अब चेतना चेतन मन से निकलकर जीवन को जीवन प्रदान कर रही है। इस चेतना के अवतरण से निद्रा भंग हो गई है और जागृति आ गई है और जिस

प्रकार प्रात.कालीन चन्द्रमा का मुख क्षीण हो जाता है, उसकी ज्योति धुँधली पड़ जाती है, उसी प्रकार इस चेतना के आने से 'अहं' भाव का तिरोभाव हो गया है। जिस प्रकार प्रातः पक्षी चहचहाते हैं उसी प्रकार अब लोक चेतना के शाश्वत जागरण की ध्वनि सुनाई पड़ रही है। सन्ध्या समय में जिस प्रकार कमल झुक जाता है, उसी प्रकार अब व्यक्ति उस चेतना के समक्ष मौन होकर आत्मसमर्पण कर रहे हैं और तारों से खचित आकाश मे जिस प्रकार शांति व्याप्त हो जाती है, उसी प्रकार अब लोक में चिरन्तन शान्ति छाई हुई है।

खुला गगन ······आवरण।

शब्दार्थ—योनि=समूह। सलिल आवरण=जल का आच्छादन।

अर्थ—आज गगन के सदृश मन भी मुक्त हो गया है और नीलिमा के समूह मे अब वह सुन्दर दिखाई दे रहा है। अब आसन पर केवल उसका शरीर टिका हुआ है, किन्तु मन तो उसके हृदय में स्थित चेतना मे लीन हो गया है। ससार के सारे सघर्ष उसकी अटल शान्ति में निहित हो गए हैं, जन्म और मरण अमृत की गोद मे चले गए हैं; अर्थात् चेतना के प्राप्त होने से व्यक्ति संघर्ष और जन्म-मरण से मुक्त हो गया है। इस चेतना-सागर का विस्तार असीम है, इसकी गहराई अथाह है और इस पर तटों का भी बन्धन नहीं है। इससे ससार रूपी सागर के जल का आच्छादन केवल क्षुब्ध दिखाई देता है, वस्तुत: उसका भी कोई प्रभाव नहीं रह गया है।

विशेष—भावो मे दार्शनिक गम्भीरता होते हुए भी काव्यमयता है।

हुआ हृदय······ गुंफित।

शब्दार्थ—स्फुरित=प्रकट। अपृथक्=सम्बद्ध। मनोद्रव्य=चेतना।

अर्थ—उसके हृदय मे अचानक ही यह सत्य प्रकट हो गया जो समस्त जग मे व्यापक है। वह देखता ही रहा कि वह क्या है, कहाँ है जिससे समस्त जग सदैव सम्बद्ध है। तब उसे प्रतीत हुआ कि मानो युग-युग से एकत्रित चेतना से ही संस्कृति का निर्माण होता है। नीति, धर्म, आदर्श भले ही दुर्बल और मृत हों, किन्तु वे जन और समाज के जीवन से सदैव गुँथे हुए रहते हैं।

जाति वर्ण ······जीवित।

शब्दार्थ—आवेग=आवेश। कृतकाम=सुफल। नियति=भाग्य।

अर्थ—मानव का सागर रूपी मन आज जाति वर्ण के गौरव की अहं-

मान्यता से दुःखी हो रहा है, वर्ग और राष्ट्र अपने स्वार्थों की सीमित परिधियों में बँधे हुए हैं, इसी से आज मानव का यह सागर रूपी मन चेतना-शून्य है और अन्ध (अज्ञान) के आवेश से आन्दोलित हो रहा है। आज आवश्यकता है पुरातन का मोह छोड़कर नवीन और समयानुकुल आदर्शों का ग्रहण, अतः जो लोक-संस्कृति नवीन मान्यताओं को लेकर नवीन आदर्शों के प्रकाश से प्रकाश-पूर्ण होगी, वही धरा का कल्याण कर सकती है, उसी से मानव का भाग्य सफल हो सकता है, और स्वर्ग साकार होकर इस मृत्युलोक की पृथ्वी पर विचरण कर सकता है।

भू पर'' समन्वित !

शब्दार्थ—भूति-वाद=ऐश्वर्य युक्त। सहिष्णुता=सहन-शीलता। समन्वित=युक्त।

अर्थ—आन्तरिक जीवन से सम्बद्ध होकर पृथ्वी पर जन-सत्ता का विकास हो। और जिस प्रकार एक शिल्पी निर्जीव पाषाण को सजीव बना देता है उसी प्रकार नव-चेतना जागृत होकर लोक और मानव के मन का निर्माण करे। आज पृथ्वी की रचना में ऐश्वर्य से युक्त युग विश्व के इतिहास में उदित हो रहा है, अतः आवश्यकता इस बात की है कि सहनशीलता, सद्भाव और शांति से धर्म तथा संस्कृति युक्त हों, अर्थात् इन दोनों में ये गुण होने चाहिएँ।

बना पूर्व ·····तिरोहित !

शब्दार्थ—दिग्=दिशा। प्राची=पूर्व। उदित=प्रकट। तमस=अन्धकार।

अर्थ—इन पंक्तियों में पन्तजी पूर्व और पाश्चात्य के समन्वय का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि पौर्वात्य और पाश्चात्य संस्कृतियों के पृथक्करण [illegible] है और दिशा-भ्रष्ट होना है। यह सच है कि इस प्रकार [illegible] को नष्ट कर सकता है, पर. इन दोनों का समन्वय होना [illegible]

[illegible] भी धारित हो और मानव का विकास भी [illegible]

[illegible] ज्ञान और विज्ञान के साथ ही उसकी अन्त-

[illegible] उसके जीवन न भूतवाद और अध्यात्मवाद

[illegible] दर्शन का सौंदर्य लेकर विकसित हो [illegible]

[illegible] है। आज पौर्वात्य को पाश्चात्य [illegible]

चेतना भी हो जिसका आगमन उदित सूर्य के समान है जो अन्धकार का नाश कर देता है, उसी प्रकार भारत का आध्यात्म दर्शन अज्ञान का नाश करके ज्ञान का प्रकाश कर देगा। फलतः पाश्चात्य का विज्ञान और पौर्वात्य का ज्ञान ही आज के जीवन की पूर्णता है।

विशेष—स्वामी विवेकानन्द ने एक बार कहा था—"मैं यूरोप का जीवन सौष्ठव तथा भारत का जीवन-दर्शन चाहता हूँ।" सम्भवतः यही वाक्य कवि को इन पंक्तियों की प्रेरणा है।

लोक नियति······ उन्नयन !

शब्दार्थ—विबुध=पंडित। विपश्चित्=विद्वान्। दुर्वह=कठिन। क्षेम-कल्याण। उन्नयन=विकास।

अर्थ—इस प्रकार विज्ञान और ज्ञान का समन्वय करके देश-देश के पंडित और विद्वान् राष्ट्रों के नये भाग्य का निर्माण करें और वे राष्ट्र के नेताओं के साथ राज्य के कठिन कार्यों में सक्रिय सहयोग प्रदान करें (उनका कार्य केवल मौखिक ही न हो)। सबसे पहले मानव अपना सुधार करे और मानवता के प्रसार के लिए प्रेरित हो। वह धन, मान, पद, यश, कुटुम्ब, वर्ग और निजी राष्ट्र तक ही सीमित न रहें। वह अपने चित्त को इतना विशाल बना ले कि समस्त वसुधा ही उसके लिए कुटुम्ब बन जाये। समस्त भूमण्डल पर रहने वाले प्राणियों का जीवन एक-सा हो, सभी एक ही मानवता के लिए संघर्ष करें। वे सब धन और ज्ञान का अर्जन सबके लिए—सर्वहिताय—करें तथा समूचे विश्व के कल्याण का विकास करें।

नहीं ज्ञान······सागर !

शब्दार्थ—अविकल=विशुद्ध। अभेद्य=दुर्गम। प्रच्छन्न=छिपा हुआ। मनस्=हृदय। निस्तल=अथाह। अविच्छिन्न=निरन्तर।

अर्थ—इन पंक्तियों में कवि ने ज्ञान और चिन्तन की आवश्यकता पर जोर दिया है। वह कहता है कि केवल ज्ञान के बल पर व्यक्ति की किसी समस्या का विशुद्ध हल नहीं निकल सकता; और न केवल व्यक्ति और विश्व ही जीवन की सम्पूर्णता कहे जा सकते हैं; अर्थात् केवल ज्ञान और केवल भौतिकवाद जीवन की पूर्णता नहीं है। ये तो जीवन के केवल अनिवार्य अंग हैं, अतः जीवन के प्रति चिन्तन भी आवश्यक है। चिन्तन के द्वारा जीवन के उन गूढ़ और

दुर्गम रहस्यों का उद्घाटन करना अतीव आवश्यक है जिन पर जीवन की गति अवलम्बित होती है। मनुष्य का अज्ञात अवचेतन हृदय (मन) अथाह सागर के समान है जो निरन्तर तरंगित होता रहता है, अतः इस अवचेतन मन के रहस्यो का ज्ञान प्राप्त करना भी आवश्यक है और यह ज्ञान चिन्तन से ही प्राप्त हो सकता है।

वयस भार······निवेदन !

शब्दार्थ - वयस=आयु। पृष्ठ वंश=पीठ की हड्डी। आनन=मुख। क्षुधा=भूख। स्वतः=स्वयं।

अर्थ—अब कवि पुनः वृद्धावस्था का वर्णन करता है। वृद्धावस्था में उस वृद्ध की पीठ की हड्डी धनुष की कमान की तरह झुकी हुई है। झुर्रियों से मुँह पर लकीरें खिची हुई है। नयन-ज्योति, भूख, नींद भी अब कम हो गई है और स्मृति एवं श्रवण-शक्ति भी मन्दी पड़ गई है। अतः उस वृद्ध की बहुत सवेरे ही आँखें अपने आप खुल जाती हैं और तब उसका अकेला अथवा सूना हृदय भगवान् से चुपचाप प्रार्थना करने लगता है।

विशेष—वृद्धावस्था का साकार एवं भावपूर्ण चित्रण हुआ है।

हे जीवन······परात्पर !

शब्दार्थ—अक्षत=अनश्वर। भार्या=स्त्री।

अर्थ—ईश्वर से प्रार्थना करता हुआ वृद्ध कहता है कि हे जीवन के देवता, हृदय में निवास करने वाले, मानव का कल्याण करने वाले, मंगलमय, तुम अनश्वर करुणा के सागर हो, तुम्हारी करुणा का प्रवाह अबाध गति से निरन्तर बहता रहता है। माँ, बाप, पुत्र, स्त्री आदि अपने तो हैं, किंतु वे अन्य जन्मों में साथ नहीं देते। तुम तो जन्म-जन्म के साथी हो और तुममें समस्त विश्व के समस्त जड़ चेतन प्राणी अनादिकाल से ही उत्पन्न और लीन होते रहे हैं। यह मनुष्य जन्म बड़ा ही अजीब है इसमें जन्म, मरण, शैशव, यौवन आते-जाते रहते हैं और आशा, आकांक्षा, राग, द्वेष निरन्तर मन में संघर्ष करते रहते हैं। इतने पर भी इस जीवन में नीति, धर्म और विविध आदर्शों के बन्धन लग जाते हैं, अतः यह जीवन बड़ा ही दुर्वह और बन्धनमय है। हे देव परात्पर ! सब काल और दिशा तुमसे ही उत्पन्न होकर तुम्हीं में लय हो जाते हैं।

खोज निरन्तर······जीवन भर !

शब्दार्थ—अपरिमित=अपार। नेति-नेति=यह भी नहीं, यह भी नहीं।
त=झुकी हुई। अमित=अपार।

अर्थ—तुम्हारी निरन्तर खोज करके और तुम्हारी अपार महिमा से
स्मित होकर मनुष्य की बुद्धि झुककर और चमत्कृत होकर तुम्हें 'नेति-नेति'
कर पुकारने लगती है। बुद्धि से नहीं, हृदय से सुलभता के साथ प्राप्त
वाले हो। तुम्हारी कृपा सहज ही हृदय के अन्धकार को मिटाकर ज्ञान के
ाश मे उसे प्रकाशित कर देती है जिस प्रकार पारस पत्थर के स्पर्श मात्र से
लोहा सोने के रूप मे बदल जाता है। तुम्हारे सत् और असत्, कार्य और
रण केवल प्रकृति को उत्पन्न करने के लिए ही विविध रूप हैं, अन्यथा तुम
एक रूप हो। हे देव! तुम्हारी अपार कृपा से ही संसार का पालन
ता है। तुम्हारे बिना जग नश्वर और अपूर्ण है तथा तुममे मिलकर वह
रन्तन और पूर्ण हो जाता है। यदि तुम हो तो संसार भी है, तुम नहीं तो
ार भी नहीं है। तुम्हारा अभाव ससार का इसी प्रकार तिरोभाव कर देता
जिस प्रकार गणित का शून्य (०) दूसरे अकों को भी शून्य मे ही परिवर्तित
रता है। जो मन तुमसे युक्त है, अर्थात् जिस मन मे तुम निवास करते हो
ह सब जग और जीवन के लिए आराध्य है। प्रेम एक प्रकार का अटूट बन्धन
। हे देव! तुम्हारी माया का यह बन्धन तुम्हारे लिए बन्धन न बनकर
तिक्षण मुक्ति का कारण बने; अर्थात् सांसारिक प्रेम तुम्हारे मिलन मे किसी
कार की बाधा न पहुचाये। जो लोक-योजना तुम मे केन्द्रित हो जाती है, वह
वर्ग जैसी पवित्र बन जाती है। अतः हे मानव के घट-घट मे वासी ईश्वर!
ानव को नये जीवन का वरदान दो।

विशेष—कवि की ईश्वर के प्रति गहन आस्था की अभिव्यक्ति हुई है।

३५. युग-विषाद

कविता परिचय—इस कविता मे कवि ने युग के प्रभावों के प्रति अपना
विषाद प्रकट किया है, किंतु साथ ही उसने अपनी स्वर्णिम आशा का भी
उल्लेख किया है। यह सच है कि आज ससार मे चारों ओर दुःख-ही-दुःख
दिखाई दे रहा है, किंतु इस दुःख के अचल में से एक नई चेतना का भी उदय
हो रहा है जो जग जीवन को नवीन प्रकाश और नवीन रूप देती आ रही
है जिससे युग-युग से खडहर पड़ा हुआ जग अभिनव शोभा धारण कर रहा है।

चेतना और नवीन युग के आविर्भाव के दर्शन किए हैं अतः उन्हें उनके आविर्भाव के कारण बहुत संतोष है और वह सुनहले भविष्य के निर्माण के प्रति अत्यधिक आशावादी परिलक्षित होता है।

दारुण मेघ……बिदाई !

शब्दार्थ—दारुण=भीषण। हत=मृत। शिवा=शृंगाली।

अर्थ—संसार के आकाश पर भीषण मेघों की घटायें छाई हुई हैं और सन्ध्या के अन्धकार की कालिमा और भी गहरी होती जा रही है, अर्थात् संसार निरन्तर विनाश के पथ पर बढ़ रहा है। आज पृथ्वी के आँगन में दुख की गहरी छाया मंडरा रही है।

अतः तुम विनाश के रथ पर आओ; अर्थात् विनाश लेकर आओ और इस धरा को नष्ट-भ्रष्ट कर दो तथा बीते हुए युग के जो मृत आदर्श हैं उन्हें यहाँ से ले जाओ, क्योंकि आज भी मृत आदर्शों की लाश पर गिद्ध झपट रहे हैं, कुत्ते भौंक रहे हैं और शृगाली अलग होकर रो रही है, अर्थात् आज भी लोगों के दिलों में मृत आदर्शों के लिए पर्याप्त मोह है।

विशेष—ध्वंस में निर्माण खोजने की प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति हुई है।

मनुज रक्त…… आई !

शब्दार्थ—मनुज=मनुष्य। पंकिल=भरा हुआ। दैत्य=राक्षसी। अरुणाई=लालिमा।

अर्थ—आज युग का मार्ग मनुष्य के खून से भरा हुआ है और लोगों की सभी राक्षसी इच्छायें पूरी हो रही हैं। अब स्वर्ग (आकाश) को खून जैसी लालिमा से लाल करती हुई नवीन युग की लाली समूचे आकाश पर फैली हुई है; अर्थात् नवीन युग का आगमन हो रहा है।

जब खून नई चेतना लेकर नाचेगा, तभी युग का कुंठित मन बदल जायेगा। राक्षस आपस में लड़कर कट मरेंगे और मनुष्य तथा देवताओं के मध्य भाई-भाई का सम्बन्ध स्थापित होगा।

ज्ञात मर्त्य……बरसाई !

शब्दार्थ—मर्त्य=मर्त्य लोक, इस जग। विभा=ज्योति।

अर्थ—मुझे इस जग की विवशतायें मालूम हैं, फिर भी यहाँ नवीन मानवता जन्म ले रही है। उषा रूपी नवीन चेतना ने ज्ञान के द्वार खोलकर

सुनहली ज्योति बरसानी प्रारम्भ कर दी है, अर्थात् नवीन चेतना और नूतन युग का अब समारम्भ हो गया है।

३७. काव्य-चेतना

कविता-परिचय—काव्य-चेतना वह चेतना है जो कवि को इस कोलाहल-पूर्ण संसार से उठाकर कल्पना के एक अपरिचित सौंदर्यपूर्ण लोक में ले जाती है जहाँ कवि अपनापन भूलकर उस अपूर्व सौंदर्य-राशि में डूबने-उतरने लगता है। कल्पना खण्डहरों में भी अमित सौंदर्य खोज ही लेती है, अतः एक चेतना के आने पर कवि उसके 'रहस द्वार' के द्वारा न जाने कहाँ पहुँच जाता है। इस कविता में इन्हीं दशाओं का वर्णन किया गया है।

तुम रजत……चकित अन्तर !

शब्दार्थ—रजत=चाँदी जैसे श्वेत। वाष्प=भाप। अम्बर=आकाश। शुभ्र=स्वच्छ। रोहित प्रभ=लालज्योति।

अर्थ—हे काव्य-चेतना ! तुम चाँदी जैसे श्वेत एवं भापों से बने हुए आकाश से स्वच्छ और सुनहली झर बरसाती हो और अत्यन्त शोभा में लिपटा हुआ मेघों का माया का-सा घर बनाती हो; अर्थात् तुम कल्पना के द्वारा अपूर्व सौंदर्य की सृष्टि करती हो।

देवताओं के द्वारा प्रेरणा पाई हुई ज्वालायें शोभा-पर-शोभा प्राप्त करके शिखाओं की भाँति काँपती रहती हैं और सैकड़ों लाल-लाल ज्योतियों से बिजली का चकित-सा हुआ हृदय भर देती हो।

सुषमा……शीतल !

शब्दार्थ—सुषमा=शोभा। दल=समूह। पुलिन=किनारे। विभा=प्रकाश।

अर्थ—तुम्हारे ही बल पर रहस्यमय स्पर्शों के समूहों को फैलाकर शोभा की पंखुड़ियाँ खुलती हैं और भावों से मोहित हुए किनारों पर छाया का प्रकाश प्रति-पल बहता रहता है। रंग-बिरंगी चोटियों से उठ-गिर कर सूर्य और चन्द्रमा का-सा प्रकाश उड़ा करता है और चेतना के प्रकाश की भाँति चन्द्रमा का प्रकाश प्रकट होकर प्राणों में शीतलता का संचार करता है; अर्थात् कल्पना के द्वारा काव्य चेतना का आविर्भाव मन को अत्यन्त शान्ति और सन्तोष देता है।

जलते तारों·····सुर चेतना !

शब्दार्थ—भास्वर=प्रकाश युक्त। निःस्वर=चुपचाप। गोपन=छिपे-छिपे। सुर-चेतन=अपूर्व चेतना।

अर्थ—अब चमकती हुई अमर प्रेरणायें जलते हुए तारों की भाँति टूट रही हैं जिनसे स्वप्नों की गुंजायमान कलियाँ मेरे हृदय में चुपचाप खिल उठती हैं। हे गोपमयी काव्य चेतना ! तुम अपने रहस्यमय द्वार से मुझे चुपचाप न जाने कहाँ से कहाँ ले जाती हो। तुम्हारी अपूर्व चेतना का स्पर्श पाकर मेरा हृदय शोभा के सागर में डूब जाता है।

३८. गीत विहग

कविता-परिचय—इस कविता में कवि ने अपने गीतों को एक विहग का रूप दिया है। जिस प्रकार विहग प्रभाती गाकर लोगों को स्वर्णोदय का परिचय देता है, उसी प्रकार कवि अपने गीतों के द्वारा भारत में फैलने वाली नवीन जागृति का सन्देश देता है। वस्तुतः इस कविता में कवि ने अपने गीतों के प्रतिपाद्य का स्पष्ट रूप से संकेत किया है। वह जहाँ मानवता का प्रसार चाहता है, वहाँ आदर्शों को भी सक्रिय रूप देने का इच्छुक है—

> "आदर्शों के मद जल से दग्ध मृगों को,
> मैं स्वर्णगात रिमत अन्तर्पथ दिखलाता।"

अतः निस्संकोच कहा जा सकता है कि कवि ने विहग के माध्यम से इस कविता में अपनी काव्य-चेतना का ही लक्ष्य स्पष्ट कर दिया है।

मानव मानवता····· गुनगाता !

शब्दार्थ—ज्योतिवाह=ज्योति को धारण करने वाला। नव मधु=नवीन वसन्त। पल्लव=पत्ते।

अर्थ—पक्षी अपने गीत का स्वयं परिचय देता हुआ कहता है कि मैं अपने गीत में नवीन मानवता के उदय का सन्देश देता हूँ और जो देश स्वाधीन है उसकी गौरवभरी गाथा गाता हूँ। मैं मन के क्षितिज के पार जो प्रकाशयुक्त भूमि है, वहाँ निरन्तर नीरवता छाई रहती है उसकी ज्योति का दूत बनकर आता हूँ। जो युग खण्डहर के रूप में परिणत हो गया है उसके विध्वंस पर सुनहली छाया डालकर मैं नवीन प्रकाश की नव आभा से युक्त आकाश में उड़कर मुस्कराता रहता हूँ। मैं उन जीवनों पर जो निराशा की ज्वाला से झुलस कर

पतझड़ बन गए हैं, नवीन वसन्त के से कोमल पत्तों को विकसित करता हूँ, अर्थात् मैं दुखी जीवन में आशा और सुख का संचार करता हूँ।

(९) आवेशों से ...... दिखाता।

शब्दार्थ—उद्वेलित=तरंगित। क्षत=दलित। पावक=आग। भव-क्लांत=संसार के संघर्षों से थके हुए। वक्ष=हृदय।

अर्थ—मैं आवेशों से तरंगित जन-मन रूपी सागर में नवीन एवं उग्र स्वप्नों का आविर्भाव करके उन्हें और भी अधिक भड़काता रहता हूँ। जब निराशा रूपी शिशिर से दलित होकर भूमि का वन रूपी मन रोदन करता है तो मैं युग रूपी कोयल बनकर प्राणों में आग जलाता रहता हूँ। संसार के संघर्ष से थककर जो व्यक्ति गति-हीन हो गए हैं मैं उन्हें स्वप्नों के चरणों पर चलना सिखलाता हूँ; अर्थात् उनके जीवन में नई-नई आशाओं का संचार करके उन्हें गतिशील बनाता हूँ। दुःख रूपी तापों की छाया से मलीन हुए मानव के हृदय को उन्मुक्त करके मैं उन्हें प्रकृति का शोभा भरा हृदय दिखलाता हूँ। (कहने का भाव यह है कि एक ओर जहाँ पक्षी के गीत उद्दीपक होते हैं, वहाँ दूसरी ओर दुःखों का शमन करने वाले भी होते हैं।)

(१०) जीवन मन ...... दास बनाता।

शब्दार्थ—मति=बुद्धि। अनिमेष=निरन्तर। पगु=लगड़ा। ऊर्ध्व=

मैं गीत····लुटाता !

शब्दार्थ—मर्त्य=भौतिक। स्वर्दूत=स्वर्ग के दूत। विभव=ऐश्वर्य।

अर्थ—मैं गीत रूपी पक्षी हूं। मैं अपने भौतिक नीड़ से ऊपर उड़कर मन के पंख फैलाकर चेतना के आकाश में उड़ता हूँ। मैं अपने हृदय की ज्योति से जीवन के अज्ञानान्धकार को ज्ञान का स्वर्णिम आलोक प्रदान करता हूँ। मैं स्वर्ग के दूतों को अपने मनोभावों में बाँधकर उन्हें जन-जीवन के साथ सम्बद्ध कर देता हूँ। मैं प्रत्येक मानव को प्यार करने वाला हूँ और इसी धरा पर स्वर्ग बसाकर, इसी धरती पर देवों के ऐश्वर्य को लुटाता हूँ, अर्थात् इस धरा को स्वर्ग से भी अधिक मोहक बना देता हूँ।

मैं जन्म···गाता !

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—मैं मनुष्य को जन्म-मरण के बन्धन से छुड़ाकर उसे अमरता का आसन प्रदान कर देता हूँ। मैं दिव्य चेतना का सन्देश सुनाता हूँ और अपने गीतों में स्वाधीन भारत में फैलने वाली नवीन जागृति के गीत गाता हूँ।

३६. युग दान

कविता-परिचय—इस कविता में कवि ने उस स्वर्णिम काल की अभिव्यक्ति की है जब मानव का भव-क्लान्त उर आनन्द से परिपूर्ण होकर इसी धरा पर स्वर्ग को उतारने में सक्षम होगा, साथ ही वे युग की पलटती हुई काया को भी देख रहे हैं जहाँ चेतना अज्ञान के गहनतम तमस् का नाश करती हुई और भौतिकता को अध्यात्म के लोकोत्तर प्रकाश से प्रकाशित करती हुई इस धरा पर उतर रही है।

"तरुओं के सिर पर पुष्प मुकुट, ज्यों गन्ध पवन उर में मादन,
जीवन से मन से फूट रहे, तुम नव श्री शोभा में चेतन।"

कवि का यह विशाल अनेक कविताओं में मुखरित हुआ है।

यौवन बाहों में ····लोकोत्तर !

शब्दार्थ—भव-व्यथा-क्लान्त=संसार के दुख से दुःखी। लोकोत्तर=अलौकिक।

अर्थ—तुम्हारे नित नए सौन्दर्य को मैं जीवन की बाँहों में बाँध सकूँ, अपने जीवन में उतार सकूँ और तुम्हारा मादक स्वर अपने अमर संगीत में भरकर

लोगों के मन में भर सकूँ जिससे तुम्हारे आनन्द की वर्षा संसार के दु:ख से दु:खी हृदय के भीतर हो सके और उसके समस्त दु:ख नष्ट हो जाएँ और तुम्हारा अलौकिक देवत्व जग-जीवन का अंग बन सके, (मैं आपसे यही वरदान चाहता हूँ)।

करुणा धारा ......भू पर।

शब्दार्थ—निर्मम=कठोर। उर्वर=उपजाऊ, दयाशील।

अर्थ—संसार के कष्टों से मानव का जो हृदय कठोर हो गया है, वह तुम्हारी करुणा की धारा से दयाशील बन जाए और जग-जीवन के सभी कार्य अपनी सीमित परिधि से ऊपर उठकर तुम्हें अर्पित हो जाएँ। अब मनुष्यत्व से मनोमुक्त होकर देवत्व धीरे-धीरे निखर रहा है और इस भूतल की छिपी हुई इच्छा अर्थात् स्वर्ग फिर से पृथ्वी पर उतरने वाला है।

यह अन्धकार....... चेतन।

शब्दार्थ—जड़ अचेतन। भूत=भौतिक। मादन=मादक। श्री=शोभा।

अर्थ—यह अज्ञानान्धकार का गम्भीर समय बीता जा रहा है और हृदय में चेतना का उदय हो रहा है। जो शक्तियाँ अचेतन, भौतिक और पापयुक्त थीं वे फिर से मानव के हित की बनकर सजीव हो रही हैं। जिस प्रकार वृक्षों के सिरों पर फूलों के ताज होते हैं, पवन के हृदय में मादक सुगन्ध रहती है इसी प्रकार तुम चेतना के रूप में नवीन शोभा को धारण करके जीवन से और मन से फूट रहे हो।

४०. निर्माण काल

कविता परिचय—'विहग-गीत' और 'युग-दान' की भाँति कवि ने इस कविता में भी नवीन चेतना के आविर्भाव का और तज्जन्य प्रभाव का वर्णन किया है। कवि का विश्वास है कि इस नई चेतना के कारण समस्त भूतल का स्वरूप बदल जायेगा, उसके दु:ख और क्लेश अमित सुख और आनन्द में बदल जाएँगे। पृथ्वी स्वर्ग से भी अधिक मनोहर बन जाएगी और तब देवता भी मनुष्य का रूप धारण करके इस भूतल पर अवतरित होने को आतुर हो उठेंगे। यही सब प्रस्तुत कविता का प्रतिपाद्य है।

शब्दार्थ—सुर धनु=इन्द्रधनुष। स्मित=मुस्कान भरे, विचित्र। नि.स्वर =चुपचाप।

अर्थ—आज स्वर्गीय समाज का निर्माण हो रहा है, इसलिए स्वर्ग से उतर-कर देवदूत झरोखों से भीतर आ रहे हैं, अर्थात् अन्तर नई चेतना का जन्म हो रहा है। इन्द्रधनुषों के से विचित्र पंखों को खोलकर नये-नये स्वप्न मर्त्य-लोक की भूमि पर उतर रहे हैं, अर्थात् व्यक्ति नये-नये स्वप्नों की सृजना कर रहे हैं। रंग-बिरंगी छाया लेकर पंखुड़ियों की शोभा पंखों की तरह खुलकर झड़ रही है और मन के भावों की लहरों पर स्वर्ग से चुपचाप उतरती हुई अप्सराओं के प्रतिबिम्ब पड़ रहे हैं। कहने का भाव यह है कि इस धरा पर ही स्वर्गलोक उतर रहा है।

यह रे……प्रखर!

शब्दार्थ—अरुणोदय=उषाकाल। खब=तुच्छ। जीर्ण=पुराना। प्रपात =झरना। प्रखर=प्रबल।

अर्थ—यह भूमि के निर्माण का समय है इसलिए इसका वातावरण उषा-काल की भाँति नवीन जीवन लेकर मुस्करा रहा है। अब नवीन मानवता का जन्म हो रहा है, इसलिए मनुष्यता का तुच्छपना नष्ट हो रहा है और विशद रूप धारण कर रही है। पुराने आदर्शों एव मान्यताओं से युक्त जगत् नवीन चेतना की ज्वाला मे धूँ-धूँ करके जल रहा है और यह ज्वाला व्यक्तियों के हृदयों की ही आग है जो अब रूढ़ियों को सहन नहीं कर सकती। अज्ञान के अन्धकार के पर्वत पर ज्ञान की बिजली निर्झर की-सी प्रबल ज्योति लेकर टूट रही है, अर्थात् अज्ञान का क्षय और ज्ञान का विकास द्रुतगति से हो रहा है।

सघर्षण …… नूतन!

शब्दार्थ—जिह्वा=जीभ। शृंग=पर्वत। अहन्=दिन।

अर्थ—जीवन मे संघर्ष आ रहे हैं मानो दैविक और सांसारिक शक्तियों के टकरा जाने से भू-कम्पन हो रहा हो। आज जन-जन का मन तरंगित हो रहा है। मानो युग अपनी लाल जीभ को निकालकर नाच रहा हो। आज पुराने विश्वासों के पर्वत ढह रहे हैं, अर्थात् पुरानी रूढ़ियाँ नष्ट हो रही हैं और

नवीन मान्यताओं का अभ्युदय हो रहा है। युग बदल रहा है, मानो यह ब्रह्म का दिन है (माना जाता है कि ब्रह्म के दिन समस्त सृष्टि प्रलय में समाकर फिर से नवीन जीवन धारण करती है) और नवीन चेतना की चोटियाँ फिर से निखर रही हैं। इस प्रकार विश्व नवीनता को प्राप्त कर रहा है।

बज रहे······परिरंभण !

शब्दार्थ—सृजन=सृष्टि, विकास। अन्तर्नभ=अन्तर, हृदय। परिरंभन =आलिंगन।

अर्थ—इन पंक्तियों में कवि नवीन चेतना के आविर्भाव का वर्णन करता हुआ कहता है कि पेड़ों के समूहों के शब्द घण्टियों की तरह बज रहे हैं और जग-जीवन रूपी पत्ते ज्वाला जैसी शोभा को धारण करके लाल हो रहे हैं। विकास नवीन प्रकाश के चरण रखता हुआ आ रहा है। भूमि की इस महत्तम परिवर्तन-शीलता को देखकर देवताओं के समूह प्रसन्न होकर फूलों की वर्षा कर रहे हैं। अब हृदय में नवीन चेतना का संचार हो रहा है और प्रसन्नता के निर्झर मौन शोभा को धारण करके प्रवाहित हो रहे हैं। अब सूक्ष्म शक्तियाँ पृथ्वी पर उतर रही हैं जिनके कारण आकाश का मौन हृदय भी ध्वनि कर रहा है। आज प्रकाश अन्धकार को अपनी बाहों में बाँध रहा है, देवता मनुष्य का शरीर धारण करके पृथ्वी पर उतर रहे हैं, मानो लोक चेतना रंगभूमि बनी हुई है जिस पर आकर पृथ्वी और स्वर्ग परस्पर आलिंगन कर रहे हैं।

४१. जीवन-दान

कविता-परिचय—इस कविता में कवि का जीवनादर्श वर्णित है, अर्थात् कवि इस धरा पर किस प्रकार का जीवन चाहता है, और उसे वाणी देने के लिए उसे (कवि को) कैसा जीवन अपेक्षित है, इसका वर्णन इस कविता में हुआ है, साथ ही इस धरती और इस पर संचरण करते हुए जीवन के प्रति भी कवि ने अपना अटूट विश्वास एवं गहन आस्था का प्रकटीकरण किया है

> "देवों को पहना रहा पुनः मैं स्वप्न-माँस के मर्त्य वसन,
> मानव आनन से उठा रहा अमरत्व ढँके जो अवगुंठन।"

मैं मुट्ठी······मुखरित !

शब्दार्थ—पावक=आग, ज्योतिर्मय। मादन=मादक।

अर्थ—कवि अपनी इच्छा प्रकट करता हुआ कहता है कि यदि मैं जीवन में नई चेतना के ज्योतिर्मय कण सबको अच्छी प्रकार से बाँट सकूँ तो मेरे [illegible]न का ध्येय पूरा हो जाये। वह जीवन ऐसा हो कि उसमें ज्वाला की भाँति

नवीन चेतना की लालिमा हो और उसकी स्थूल इच्छायें भी मादक एवं मनोहर हों। उस जीवन में शोभा का वास हो; अर्थात् वह सौंदर्य से युक्त हो और वह शोभा सजीव, चंचल एवं दीप्तिमय हो। उस जीवन को सुख-दुःख से अटूट प्रेम होना चाहिए और यही सुख-दुख का सामंजस्य उसको गतिशील बनाए रखे।

विशेष—पन्तजी समन्वयवादी कवि हैं। ये जग-जीवन की सफलता एवं गतिशीलता समन्वय में ही देखते हैं। इसीलिए इन्होंने ज्ञान-विज्ञान का, अध्यात्म का और सुख-दुःख का समन्वय किया है। सुख-दुःख का समन्वय करते हुए ये एक अन्य कविता में लिखते हैं—

"जग पीड़ित है अति सुख से,
जग पीड़ित रे अति दुख से,
मानव जीवन में बँट जाये,
सुख दुख से औ' दुख सुख से,"

वस्तुतः सुख-दुःख का समन्वय ही जीवन की पूर्णता है।

जिससे अन्तर...गायन !

शब्दार्थ—अन्तर=हृदय। समवेत=सम्मिलित।

अर्थ—मैं अपनी कविता में ऐसे जीवन की अभिव्यक्ति करना चाहता हूँ जो हृदय के प्रकाश से पूरित हो और जिसमें हृदय की धड़कनें मिली हुई हों। मैं उस जीवन को वाणी देना चाहता हूँ जो नये-नये आदर्शों से प्रतिबिम्बित हो; अर्थात् जिसमें नवीन आदर्शों का समावेश हो। वह जीवन उसी प्रकार रहस्य से भरा हुआ होना चाहिए जिस तरह आकाश-गंगा है जो स्वप्नों से मन को भर देती है। वह जीवन रक्त के समान चेतना की स्वर्णिम आभा से लाल और उज्ज्वल होना चाहिए जिससे प्रत्येक नसों में खून की भाँति नवीन गीतों का उभार होता रहे।

इसमें न...निखर !

शब्दार्थ—स्वर्णिक=स्वर्ग के से। प्ररोह=अंकुर।

अर्थ—मुझे यह कहने में तनिक भी शंका नहीं है कि यह भूमि ही जीवन का कारण है; अर्थात् इस भूमि पर ही जीवन का वास्तविक विकास हो सकता है क्योंकि इसी भूमि पर प्रकाश (ज्ञान) की धाराएँ काल रूपी चरणों की चाप करती हुई विचरण करती है। मैं इस धरती के लिए स्वर्ग के अपार ऐश्वर्यों

को लुटा रहा हूँ जिससे इसी धरती पर नव-मानवता के अंकुर जग-जीवन में अंकुरित हो जाएँ।

देवों का···अवगुंठन !

शब्दार्थ—मर्त्य=मृत्युलोक। वसन=वस्त्र। अवगुंठन=आवरण, परदा।

अर्थ—मैं फिर से देवताओं को इस मृत्युलोक के स्वप्न-मांस से बने हुए वस्त्र पहना रहा हूं अर्थात् देवत्व को मनुजत्व में परिणत कर रहा हूं और मनुष्य के मुख पर जो अमरत्व का पर्दा पड़ा हुआ है, जिसका उसे ज्ञान नहीं है, उस पर्दे को उठाकर मैं फिर उसे उसके अमरत्व का बोध देना चाहता हूँ।

४२. गांधी-युग

कविता-परिचय—प्रस्तुत कविता का रचनाकाल सन् १९४८ है। इस समय पन्तजी पर गांधीवाद का गम्भीर प्रभाव, अतः गांधीवाद के प्रति कवि की गहनतम आस्था थी और गांधी-युग का स्वर्णिम स्वप्न उसकी हृतन्त्रियों को झकझोर रहा था। गांधीवाद से विश्व में क्या सुधार हुए और आगे क्या होने वाले हैं, ये ही बातें प्रस्तुत कविता की प्रतिपाद्य हैं।

देख···विचरण !

शब्दार्थ—शुभ्र=स्वच्छ, निर्मल। संजीवन=नवीन जीवन प्राप्त करने की औषधि।

अर्थ—मैं इस मानव की धरती पर निर्मल चांदनी की भांति प्रवाहित होता हुआ झरने-सा गांधी युग उतरता हुआ देख रहा हूँ। इस गांधी युग ने बीते हुए युगों के तोरण, गुम्बद और मीनारों पर नवीन प्रकाश की शोभायुक्त रेखाओं को अंकित कर दिया है; अर्थात् पुरातन रूढ़ियों को समाप्त करके युगानुरूप नवीन मान्यताओं को जन्म दे दिया है। ये नवीन मान्यताएँ देश के लिए संजीवन औषधि की भांति प्रभावोत्पादक सिद्ध हुई है और इन्हें पाकर पुरातनता के कारण मृतप्राय राष्ट्र फिर से नवीन जीवन लेकर जाग उठा है। नवीन चेतनाएँ छाया की भांति भू पर विचरण कर रही हैं। सब लोगों के मन में जगकर और दीपशिखा की भांति नवीनता का आलोक विकीर्ण करते हुए भविष्य के सुनहले स्वप्न पृथ्वी पर पनप रहे हैं।

विशेष—उपमा अलंकार।

सभ्य·····निखर !

शब्दार्थ—व्रण=घाव ।

अर्थ—सत्य और अहिंसा समूचे विश्व के लिए जागृति का कारण बनकर मानवता का संबल लेकर धरती के घावों को भर रहे हैं। बिजली के कणों के घोड़ों को झुकाकर अर्थात् हिंसात्मक गतिविधियों पर काबू करके, नवीन मानवता गांधी जी का जय-घोष करती हुई प्रकट हो रही है। मानव के हृदय में जो स्वच्छ बर्फ की भाँति निर्मल भावनाएँ छिपी हुई थी वे अब नव-चेतना से सुसज्जित होकर एवं जागृति का स्वर्णिम आलोक लेकर जग उठी है।

४३. भारत-गीत

कविता-परिचय—इस कविता मे राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति सम्यक् रूप से मिलती है। इसका रचना-विधान और लय-विधान भारत के राष्ट्रीय गीत 'जन-गण मन अधिनायक हे' के आधार पर है। समूची कविता देश-प्रेम से ओत-प्रोत है।

जय जन······पथ पर।

शब्दार्थ—अभिमत=अभीष्ट, अभिलाषा। विधाता=सृजना करनेवाला। कटि=कमर। शाश्वत=सदैव। ध्रुव=अटल।

अर्थ—हे जन साधारण के भारत ! तुम्हारी जय हो। तुम जनो के मन की अभिलाषा—गणतन्त्र की सृजना—के पूर्ण करने वाले हो। हिमालय पर्वत तुम्हारे मस्तक का गौरव है और गगा का निर्मल जल तुम्हारे हृदय पर हार आभूषण के समान सुशोभित है। विन्ध्य पर्वत तुम्हारी कमर है, तुम्हारे पैरों पर पड़ा हुआ समुद्र तुम्हारी सदैव महिमा का गान करता है। हरे-भरे खेत, लहराते हुए नदी और झरने तुम्हारे जीवन की उपजाऊ शोभा है; अर्थात् ये तुम्हे उपजाऊ बनाते हैं। तुम्हारे निवासियो के असख्य हाथ विश्व का कल्याण करने मे लगे हुए हैं और उनके पैर अपने पथ पर अटल गति से आगे बढ़ रहे है।

प्रथम ······त्राता !

शब्दार्थ—साम=सामवेद। अधिष्ठाता=स्थापित करने वाला। प्रयाण=गमन। पटह=नगाड़े। अपराजित=अजेय। त्राता=रक्षक।

अर्थ—तुमने ही सर्वप्रथम सभ्यता का ज्ञान प्राप्त किया था (और उस ज्ञान को विश्व में वितरित करके धर्म गुरु कहलाये थे)। सामवेद के मङल

तुम्हारे गुणों की गाथा गाते हैं। हे नवीन मानवता के निर्माता भारत ! तुम्हारी जय हो। हे शांति के संस्थापक भारत ! तुम्हारी जय हो। गमन करने का संकेत देने वाली तुरही बज उठी है और नगाड़े तुमुल गर्जना कर रहे हैं और सत्य की विशाल सेना लेकर तुम्हारे लोहे जैसे मजबूत हाथ ऊपर को उठ गये हैं। हे भारतमाता ! तुम शांति का साकार रूप हो, अत्यन्त बलशाली हो और सबकी पूज्या हो। तुम्हारा तिरंगा झंडा धर्मयुक्त चक्र से सुसज्जित होकर अजेय रूप से फहराता है। हे निर्भीक, अजेय और रक्षक भारत ! तुम्हारी जय हो।

विशेष—भारत के गौरवशाली अतीत की ओर संकेत है।

४४. वर्षा का गीत

कविता-परिचय—प्रकृति का मानवीकरण करना छायावादी काव्य की अनुपम विशेषता है। प्रस्तुत कविता में वर्षा का मानवीकरण ही नहीं किया गया, बल्कि उसे एक नवयुवती के रूप में चित्रित किया गया है। प्रकृति के विविध उपकरणों से उसकी शोभा को मंडित किया गया है। अतः समस्त कविता में सांगरूपक अलंकार है। कवि की कल्पना इस कविता में अत्यन्त भावमय ढंग कौशल से अभिव्यक्त हुई है।

नीलांजन...... वचना !

शब्दार्थ—नीलांजन=नीले अंजन के समान। उन्मद=मस्त। वचना=वाणी। कुंतल=केश। चल=चंचल। हरितांचल=हरा अंचल। अर्धोत्थित=आधी उठी हुई। शैल माल=पर्वतों की माला।

अर्थ—इस कविता में वर्षा का मानवीकरण करते हुए कवि कहता है कि हे वर्षा ! तुम्हारे नेत्र नीले अंजन के समान हैं। तुम मस्त सागर की वाणी हो और तुम्हारी वाणी ही मानो चातकों की प्रिय पुकार है। नभ में उमड़े हुए बादल ही मानो तुम्हारे श्यामल बाल हैं और क्षितिज में फैली हुई हरियाली ही मानो तुम्हारा फहराता हुआ अंचल है। क्षितिज के नीचे लेटी हुई तथा आधी उठी हुई पर्वतों की श्रेणियां ही मानो तुम्हारा वपनाधर है।

विशेष—१. वर्षा का नवयुवती के रूप में चित्रण किया गया है।

२. उत्प्रेक्षा अलंकार है।

इन्द्रधनुष ...... रचना !

शब्दार्थ—गुरु=गंभीर। स्फुरित=प्रकट होती हुई। तड़ित्=बिजली। दशना=दांत।

अर्थ—तुम्हारे आगमन के कारण जो बादल इधर-उधर घूमते-फिरते हैं वे ही मानो तुम्हारी इच्छाएँ हैं जो तुम्हारे हृदय को मथ रही हैं और बादलों की यह घोर ही मानो तुम्हारी अतृप्ति की गम्भीर गर्जना है। चमकती हुई बिजली ही मानो किसी मस्त युवती की भाँति दाँत दिखाकर तुम्हारा हँसना है।

विशेष—उत्प्रेक्षा और मानवीकरण अलंकार।

रजत बिन्दु······रसना!

शब्दार्थ—रजत=चाँदी। चल=चंचल। बर्हस्मित=मोरनी।

अर्थ—चाँदी जैसी श्वेत बूँदों की आवाजें ही मानो तुम्हारे झनझनाते नूपुर हैं। नये बादल की आवाज ही मानो तुम्हारे मुख की आवाज है। सुन्दर ध्वनि के साथ मोरनियों का नृत्य ही मानो तुम्हारा नृत्य है।

बकुल······वासना!

शब्दार्थ—बकुल=बगुले। मुकुल=कली। वसना=वस्त्र।

अर्थ—बगुलों की पंक्तियाँ ही मानो तुम्हारी चोटी की गुँथी हुई कलियाँ हैं। केतकी के पराग से सुगन्धित समीरण के झोंके ही मानो तुम्हारे साँस हैं। इन्द्रधनुष के रंग-बिरंगे वस्त्र वाली वर्षा। तुम पृथ्वी और आकाश को अपनी बाँहों में बाँधे हुए हो।

४५. अणु-विस्फोट

कविता-परिचय—आज संसार में एक ओर शान्ति की दुहाई दी जा रही है और दूसरी ओर शान्ति की छाया में अणुबम जैसे विध्वंस अस्त्रों का निर्माण हो रहा है। ये अणुबम कुछ समय के लिए मानवता को त्रस्त अवश्य कर सकते हैं, परन्तु अन्ततोगत्वा मानवता ही अपराजेय सिद्ध होगी और वह ध्वंस की छाती पर निर्माणों का अमर इतिहास अंकित कर देगी। यही विश्वास कवि ने इस कविता में प्रकट किया है। कविता में ओज भी है और कवि का अटल विश्वास भी। भावानुकूल शब्द-विधान को अपनाया गया है, इससे भाव और भी अधिक प्रभावशाली बन गये हैं।

दौड़ रहे······पट!

शब्दार्थ—वक्ष=हृदय। पावक=आग। भूधर=पर्वत।

अर्थ—सैकड़ों प्रलयकाल पृथ्वी का हृदय चीरते हुए दौड़ रहे हैं। लपटें आग के पर्वतों के रूप में भयानक रूप से प्रकट होकर धरा के हृदय को रौंद रही हैं। पृथ्वी की दशा इतनी भयानक हो रही है, मानो सैकड़ों नरक टूट कर एक साथ गिर पड़े हों और मृत व्यक्तियों के रुंड-मुंड बरस रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो विध्वंस के भूत, पिशाच और प्रेत छूट गए हों तथा वे पृथ्वी पर आकर अपना विध्वंसक नृत्य कर रहे हों।

क्रोधित वज्र कड़-कड़ करके गिर रहे हैं जिनसे रह-रहकर लोगों के सिर फट पड़ते हैं और खून, मांस और मज्जा इस प्रकार उड़ रहे हैं जैसे पानी की भाप धुएँ का रूप धारण करके देखते-देखते उड़ जाती है। ऐसा मालूम होता है, मानो पृथ्वी के भीषण पापों का घड़ा ही फूट गया हो।

विशेष—१. ओजपूर्ण शब्दावली का प्रयोग।

२. 'पापों का घट फूटना' मुहावरे की सुन्दर एवं भाव-व्यंजक अभिव्यक्ति।

३. उत्प्रेक्षा अलंकार।

लुंज पुंज......विनाश की।

शब्दार्थ—भू रज=पृथ्वी की धूल। त्वचा=खाल। निरीह=अनाथ।

अर्थ—लुंज-पुंज होकर मांसल शरीर पल भर में ही विनष्ट होकर आंखों से ओझल हो जाते हैं और हड्डियों की गर्मी के कारण चटककर देखते-देखते पृथ्वी की धूल में आ मिलते हैं, अर्थात् पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं। गर्मी से झुककर खाल भी तन्तु-जाल की तरह सिकुड़ गई है। देह की पसलियाँ इस प्रकार बिखर गई है जैसे पलभर में वृक्षों की टहनियाँ बिखर जाती हैं और वे चरमर करती हुई असंख्य मोम की शिखाओं की भाँति जल उठती हैं।

कंठों से चीत्कारों पर चीत्कारें निकल रही हैं जिनकी प्रतिध्वनियां चारों दिशाओं में समाई हुई है और वे देह को मृत्यु की गोद में सुलाकर ही शान्त हो पाती हैं। बालक, बुड्ढे, स्त्री, पुरुष, युवक आदि असंख्य व्यक्ति अनाथ होकर भीषण विनाश की निष्ठुर वेदी पर चढ़ रहे थे; अर्थात् उनका भयकरता के साथ विनाश हो रहा था।

विशेष—करुण परिस्थितियों का मर्मान्तिक चित्रण है।

महामृत्यु········ सूर्य से।

शब्दार्थ—गुहा=गुफा। मशक=मच्छर। स्फीत=विशाल। पुर=नगर। प्रासाद=महल। विभीषिका=भयंकरता। रक्त=लाल।

अर्थ—महामृत्यु नरक की गुफा की भांति अपना विकराल मुंह फाड़कर अपने सांसों से पृथ्वी को मच्छर की भांति निगल रही थी। नगर विवश होकर और गिरकर पृथ्वी में समा रहे थे और उनके उड़ते हुए दृश्य गड्ढों में धँसकर तथा धुंधली विशाल चोटियों में उडकर छायाओं की भांति कांपते हुए से दिखाई दे रहे थे। यद्यपि वे महल भस्म हो चुके थे फिर भी वे पहले-जैसे ही खड़े दिखाई देते थे। जिस प्रकार भँवर मे पड़कर नौका घूमने लगती है उसी प्रकार समस्त पृथ्वी घूम रही थी।

जब धरणी पर भयंकर भयकरता का घोर व्याप्त हो रहा था और लाल सूर्य से आग की किरणें बरस रही थीं।

भय·········डग!

शब्दार्थ—विभीत=डरा हुआ।

अर्थ—धरा की यह विध्वसकारी घटना इतनी भीषण थी कि स्वय भय भी इसे देखकर डर रहा था। ऐसा प्रतीत होता था, मानो प्रकृति के तत्वों में भगदड़ मच गई हो और जीवन अपनी ही छाया से डरकर तथा अपने अन्तिम चरणों के बल पर लंगड़ाता हुआ भाग रहा हो।

विशेष—१. इन पंक्तियों में अत्यंत भावप्रवण कल्पना की अभिव्यक्ति हुई है।

२. उत्प्रेक्षा अलकार।

जूझ रहे········ श्वासों में!

शब्दार्थ—अपराजित=अजेय। निसर्ग=प्रकृति। दुर्धर्ष=भीषण। शोणित=रक्त।

अर्थ—भू के निवासी अणु के राक्षस से युद्ध कर रहे हैं। दूसरे शब्दों मे कह सकते हैं कि अजेय व्यक्ति महानाश का मुकाबला कर रहे हैं। अब प्रकृति ने अपने तत्वों का अदम्य बल लोगों के मन में भर दिया है और इसलिए मनुष्य की मांसपेशियां पर्वत की भांति भीषण रूप धारण करके अपने भयंकर शत्रु का मार्ग रोक रही है। आज प्रत्येक व्यक्ति के खून में जीवन की आग भड़क

रही है और उसकी मस्त नलियों में असंख्य बिजलियाँ दौड़ रही हैं। श्वासों में उनचास पवन बह रहे हैं; अर्थात् व्यक्ति अपनी सम पुरुषार्थ एवं शौर्य बटोर कर अपने भीषण शत्रु का मुकाबला कर रह

विशेष—उनचास पवन प्रलयकाल के प्रतीक हैं।

भीत नहीं.........जन्म दे !

शब्दार्थ—भीत=डरा हुआ। श्री=शोभा। समत्वमय=स नव्य=नवीन।

अर्थ—मानव-शक्ति के प्रति अपना अटूट विश्वास प्रकट करता कहता है कि मानव इस महानाश के विध्वंसक कार्य से भयभीत नहीं बल्कि इसके ध्वंस पर शोभा, समानता और मनुष्यत्व को नया जन्म दे नवीन जग की सृष्टि करेगा ; अर्थात् ध्वंस की छाती पर निर्माण देगा।

फिर से.........ध्वजा को।

शब्दार्थ—मरुत=वायु। कर्दम=पंक ; कीचड़। व्याल=सर्प। नाग=दिग्गज।

अर्थ—जब मानव ध्वंस की छाती पर निर्माण को जन्म देगा तो भी आबाद हो जाएँगे और वहाँ पर फिर से मानव के बच्चे अपनी क्रीड़ाएँ करेंगे। यह जग जो रेगिस्तान की भाँति नीरस हो गया है, फिर से जीवनधारा पानी की धारा की भाँति बहेगी क्योंकि आज वायु के प्राणों में प्रबल शक्ति का संचार कर रही है और वरुण उसके युवक को विस्तृत कर रहा है। पुरुषार्थ की अग्नि जीवन के कीचड़ को पूर्ण जलाकर भस्म कर रही है और आज इन्द्रासन भी भीषण सर्प के डर से हो रहा था। शेषनाग अपना फन खोलकर पृथ्वी को ऊपर उठा रहा है दिग्गज मनुष्य की विजय-पताका को फहरा रहे हैं कहने का भाव यह है समस्त प्रकृति मानव के उत्थान में लगी हुई है।

विशेष—कवि ने निर्माण-स्वप्न का साकार चित्रण किया है।

४६. जिज्ञासा

कविता-परिचय—इस कविता में निर्झरों के वर्णन का माध्यम ले कवि ने अपनी रहस्यमयी जिज्ञासा को अभिव्यक्ति की है। निर्झरों का

देखकर उसे एक शाश्वत सत्ता का ध्यान आ जाता है और वह इस भौतिक सौंदर्य के ऊपर उठकर उस सत्ता के चिन्तन मे लीन हो जाता है—

"लहरा उठता अतल नील से,
नाम रूप के ऊपर शाश्वत।"

इस प्रकार का वर्णन पंत जी की सामान्य प्रवृत्ति है।

कौन ······ कँपते रहते।

शब्दार्थ—स्रोत=निर्झर; झरने। अवाक्=मौन। प्रशान्त=शान्ति-युक्त। मुक्तानिकर=मोतियों के समूह।

अर्थ—बहते हुए झरनों को देखकर कवि का जिज्ञासा-भाव जाग उठता है और वह पूछने लगता है कि ये झरने कौन हैं? ये किन आकाशों मे खोये हुए हैं और इनका जन्म किन मूक और उच्च शिखरों से हुआ है? ये किस शान्त एवं समतल प्रदेश में बहकर चांदी-जैसे फेनों के द्वारा मोतियों का ढेर लगाते रहते हैं?

ये किन स्वच्छ हृदयरूपी लताओं की मौन नीलिमा को लेकर बह रहे हैं। ये किन सुखों का स्पर्श पाकर सुनहली हिलकोरें लेकर कांपते हुए प्रवाहित हो रहे हैं?

विशेष—प्रश्न-शैली के कारण भावों में अधिक प्रभाव आ गया है।

किरणों के ······ अन्तरतल।

शब्दार्थ—वृन्त=समूह। स्वप्नोत्पल=स्वप्नों के कमल। रक्त=लाल। पीत=पीला। सित=श्वेत। मज्जित=डूबा हुआ। रहस=एकाकी। अन्त-स्तल=हृदय।

अर्थ—आशा रूपी किरणों के समूह पर भावों के विचित्र स्वप्न-कमल खिल रहे हैं जिनकी आभा का प्रतिबिम्ब मन की लहरों पर पड़ रहा है और उस प्रतिबिम्ब के कारण उनका रंग लाल, पीला, श्वेत और नीला हो रहा है। भाव यह है कि जब इन्द्रधनुष का प्रतिबिम्ब निर्झरों पर पड़ता है तो वे विविध रंगों से सम्पन्न दिखाई देते हैं। ये विविध रंग ही मानो निर्झरों की विविध आकांक्षाएँ हैं जो दृश्यमान हो रही हैं।

नाम से रहित सुगन्ध मे डूबा हुआ दिशाओं का अंचल प्रफुल्लित हो रहा है। एक-सी गुंजन मे शब्द-रहित हृदय डूब जाता है; अर्थात् वहां के मूक

और स्तब्ध वातावरण को देखकर आदर्श अपनापन खो देता है। वह वहाँ के सौन्दर्य के विचारों में इतना डूब जाता है कि उसे अपनी ही सुधि नहीं रहती।

विशेष—रूपक अलंकार।

श्रद्धा ...... शाश्वत।

शब्दार्थ—राज मराल=राजहंस। ग्रीवा=गर्दन। अविगत=निरन्तर।

अर्थ—निर्झरों में जो राजहंस के जोड़े आनन्द से तैर रहे हैं, वे ही मानो श्रद्धा और विश्वास हैं जो सात्विक भावों से भरे हुए तालाब में अपनी सुन्दर और सुनहली गर्दन मोड़कर तैर रहे हैं।

वहाँ की अनन्य शोभा देखकर मन अपने-आप तृप्त हो जाता है और वहाँ नवीन छन्द के नूपुर मौखिक गीतों के पद बनकर बजने लगते हैं। भाव यह है कि वहाँ की शोभा देखकर अनायास ही हृदय से गीत फूट पड़ते हैं।

उनकी शोभा देखकर इतना हर्ष होता है कि निरन्तर हर्ष के आने से दुःख की सीमाओं के किनारे बह जाते हैं; अर्थात् दुःख नष्ट हो जाते हैं और अथाह नीले आकाश के ऊपर नाम की परिधि छोड़ कर शाश्वतता लहराने लगती है; अर्थात् वहाँ के वातावरण में पहुंचकर व्यक्ति अपनी लघु सीमाओं को और अपने दुःखों को भूलकर किसी शाश्वत शक्ति के चिन्तन में लीन होकर उस भौतिक धरातल में बहुत ऊँचा उठ जाता है।

४७. गिरि-प्रान्तर

कविता-परिचय—प्रस्तुत कविता प्रकृति-चित्रण की अपूर्व कल्पना है। इस में पर्वत-प्रान्त की विभिन्न कालों में उदित शोभा का वर्णन किया गया है। वह पर्वत प्रान्त दिन को, रात को, सन्ध्या को, उषाकाल में कैसा लगता है, इन सभी का वर्णन कवि ने अत्यन्त विशद कल्पना और भावमयता के साथ किया है। नवीन उपमानों का, नवीन ढंग से, नवीन भावों की अभिव्यक्ति के लिए प्रयोग तो और भी प्रभावोत्पादक एवं सजीव है। इससे कवि का प्रकृति के प्रति अविच्छिन्न आकर्षण व्यंजित होता है। भाव और कला दोनों ही दृष्टियों से यह कविता सफल और सुन्दर है।

उन नीलम .... धरतीं।

शब्दार्थ—सुरधनु=इन्द्रधनुष। आरोह=चढ़ाई। निःस्वर=चुपचाप, मौन।

अर्थ—पर्वत प्रदेश का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि उसके ढाल नीलम के समान थे जिन पर रेशम-से मुलायम इन्द्रधनुष फहरा रहे थे। फूलों से भरी हुई उसकी घाटी ऐसी लगती थी मानो मरकत का जाल बिछा हुआ हो। उसमें झरने अपने मधुर स्वर में गीत-सा गाते हुए बह रहे थे। उसकी चढ़ाई पर मर्मर का शब्द करती हुई चाँदी-जैसी वायु चुपचाप बह रही थी और दूध के समान श्वेत ऊनी भापों जैसी किरण रूपी भेड़ें मानो बर्फ को चरती हुई फिर रही थीं; अर्थात् हिमकणों पर पड़ी हुई किरणें अत्यन्त ही शोभायमान लगती थीं।

विशेष—१. नवीन उपमानों का प्रयोग होने से भावों में प्रबल सजीवता आ गई है।

२. प्रकृति के उपकरणों का मानवीयकरण किया गया है।

उन क्षितिजों.......... चलती।

शब्दार्थ—ज्योत्स्ना=ज्योति; प्रकाश; चाँदनी। अभिसार=प्रियमिलन। वीथी=गली। हेम=स्वर्ण। नीहार=कुहासा। मसृण=कोमल।

अर्थ—उन क्षितिजों में, जो चाँदनियों से परिपूर्ण थे, परियाँ अपने-अपने प्रिय से मिलने को आती थीं और धूप-छाँह की गलियों में लुक-छिपकर स्वर्ण-जैसी पीत वर्ण वाली एवं गौर वर्ण वाली चन्द्रमा की कला अत्यन्त ही शोभित लगती थी। बादलों के द्वारा आवृत्त कुहासे की पृष्ठभूमि में सन्ध्या अपने पगों से सुमधुर ध्वनि करती हुई आती थी। दिन में कोमल बादलों की चलती हुई छाया धरती की सजावट-सी मालूम देती थी।

विशेष—नवीन उपमानों के साथ कोमल कल्पना का अद्भुत मिश्रण हुआ है।

भुजंगों-सी.......... सो जाते।

शब्दार्थ - भुजग=साँप। रज=धूल। रश्मि=किरण। कन्दरा=गुफा।

अर्थ—पर्वत के कन्धों पर लटकी हुई किरणों की धूल को बल खाती हुई रस्सी साँपों की तरह दिखाई देती थी। मन्त्र-मुग्ध होकर जुगनू चमक रहे थे जिनसे प्रकाशित होकर पर्वत की गुफा जादू-भरी-सी और अत्यन्त मनोहर दिखाई देती थी। वन में आँधियाँ चीलों की तरह मँडरा कर आती थीं और सूनी खोहों में न जाने कहाँ छिप जाती थीं। गर्मी से पिघल बर्फ के टुकड़े इस

प्रकार निर्जनता में विलीन हो जाते थे जैसे जिद करता हुआ शिशु पलने पर सो गया हो।

विशेष—नवीन उपमानों का एवं मंजुल कल्पना का अपूर्व गठबन्धन हुआ है।

पौ फटते.............बरसातीं।

शब्दार्थ—शृंगों=चोटियों। सलज=लज्जाशील। शाभायें=विभिन्न प्रकार की शोभा। प्रभूत=अत्यधिक।

अर्थ—जब पौ फटती; अर्थात् प्रात:काल होता तो उस पर्वत प्रान्त की शोभा ऐसे लगती जैसे नीली सीपी से मोती की कान्ति चमक रही हो। उस समय पर्वत की चोटियाँ, जिन पर सजीवता और नीरवता दोनों विद्यमान होतीं, ऐसी प्रतीत होतीं मानो सृजनात्मक कल्पना ने साकार होकर शरीर धारण कर लिया है। उस समय उषा किसी मुग्धा युवती की भाँति लज्जा के सहित आकाश के झरोखों से झाँककर समस्त पृथ्वी का सम्पूर्ण शृंगार कर जाती थी। इस प्रकार उस पर्वत प्रदेश में अनेक शोभायें प्रकाशित होती हुई चारों दिशाओं में अत्यधिक शोभा बरसाती थीं।

४८. आ: धरती कितना देती है

कविता-परिचय—इस कविता में कवि ने अपने बचपन की एक घटना का उल्लेख किया है जब उसने तृष्णा के वशीभूत होकर धरती में पैसे-पैसे बोये थे ताकि वह एक बड़ा सेठ बन जाए। वे नहीं उगे। इसके पश्चात् कई बार उसने सेम के बीज बोये और वे इतने उगे कि उसकी फलियों की कोई थाह ही नहीं रही। परिचित और अपरिचित, दास और भिखारी, यहाँ तक कि मुहल्ले वालों ने भी रात-दिन जी भर-भर करके खाईं, पर वे ही समाप्त न हुईं। इस घटना से कवि इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि धरती माता प्रिय पुत्रों को बहुत कुछ देती है।

अन्त में कवि ने इस कविता को उपदेश-प्रधान बना दिया है। उसका कहना है कि धरती में जैसा ही बोया जाएगा, वैसा ही उगेगा। अत: आज हमें इसमें समानता, जनक्षमता और मानवता के दाने बोने चाहिये ताकि मानवता की सुनहली फसलें उगकर समस्त दिशाओं को स्वर्णिम आभा से आलोकित कर दें।

मैंने······बनूँगा !

शब्दार्थ—कलदार=सफेद।

अर्थ—मैंने अपने बचपन में छिपकर धरती में पैसे बोये थे, यह सोचकर कि इन पैसों के प्यारे-प्यारे पेड़ उगेंगे; रुपयों की सफेद और मधुर फसलें पैदा होंगी और इनसे रुपये-पैसे इकट्ठे करके मैं एक भारी सेठ बन जाऊँगा।

पर······सींचा था !

शब्दार्थ—वन्ध्या=बंजर, जिसमें कुछ भी पैदा न हो। अबोध=भोला।

अर्थ—लेकिन वह धरती बंजर सिद्ध हुई और रुपयों-पैसों का एक भी अंकुर न फूटा; उस अन-उपजाऊ मिट्टी से एक भी पैसा पैदा न हुआ। इसलिए मेरे सारे सपने टूटकर धूल में मिल गये। फिर भी मैं निराश होकर बहुत दिनों तक उनके उपजने की बाट देखता रहा—बाल-कल्पना के कारण अत्यन्त आकुल होकर उनके उगने की प्रतीक्षा करता रहा। मैं उन दिनों भोला था। मैंने बीजों को गलत बोया था क्योंकि उनके पीछे ममता और तृष्णा थी।

अर्धशती······दिये हों !

शब्दार्थ—अर्धशती=पचास वर्ष। मधु=वसन्त ऋतु। माणिक=रत्न।

अर्थ—उन रुपयों-पैसों को बोये हुए पचास वर्ष हो गए हैं। तब से कितनी ही वसन्त ऋतु और पतझड़ आए और चुपचाप चले गए। तपती हुई ग्रीष्म ऋतु आई, फूलती हुई वर्षा आई, मुस्कुराती हुई शरद् आई और कँपाती हुई हेमन्त ऋतु आई। कितनी ही बार वृक्ष फले-फूले और वन खिले। और जब फिर से गहरी और धुंधली इच्छा लिए हुए घनघोर काले-काले बादल पृथ्वी पर बरसे, तो मैंने किसी ममता अथवा तृष्णा से नहीं, बल्कि वैसे ही कुतूहलवश आँगन के एक कोने में पृथ्वी को उँगली से कुरेदकर मिट्टी के नीचे सेम के बीज इस प्रकार दबा दिए मानो धरती के अंचल में मैंने मणि और रत्न बाँध दिए हों।

मैं फिर······बच्चों से !

शब्दार्थ—हर्ष-विमूढ़=प्रसन्नता से पागल। नवागत=नवोत्पन्न। डिम्ब=अण्डा।

अर्थ—मैं फिर इस छोटी-सी घटना को भूल गया और यह घटना कोई याद रखने के योग्य भी न थी। लेकिन जब मैं अपने आँगन में टहल रहा था

तो मैंने अचानक जो कुछ देखा, उसे देखकर मैं प्रसन्नता से पागल हो गया। मैंने देखा कि मेरे आँगन के कोने में कई नवोत्पन्न पौदे छोटे-छोटे छाते-से तने खड़े हुए थे। मैं उन्हें छाता कहूँ, या जीवन की पताकायें कहूँ, या उनकी नन्हीं नन्हीं और प्यारी-प्यारी मुट्ठी हुई हथेलियाँ कहूं। जो भी हो वे हरे-भरे और उल्लास में इस प्रकार दिखाई देते थे जैसे अण्डों को तोड़कर चिड़ियों के बच्चे बाहर निकलकर अपने पंखों को सँभाले उड़ने के लिए आकुल हो रहे हों।

निर्निमेष······बूटों से !

शब्दार्थ—निर्निमेष=अपलक। अवाक्=स्तब्ध।

अर्थ—कुछ देर तक मैं उन्हें अपलक नयनों से देखता रहा। फिर मुझे अचानक याद आया कि कुछ दिन पहले इसी आँगन में मैंने सेम के बीज बोये थे और उन्हीं बीजों से उत्पन्न यह छोटे-छोटे पौधों की पलटन मेरे सामने खड़ी हुई है जो इस प्रकार हिल रहे हैं मानो वह पलटन अपने नन्हें और नाटे पैरों को पटकती हुई जा रही हो। मैं उस दिन से उन्हें देखता रहा। धीरे-धीरे असंख्य पत्ते उन पर उग आए और उन्होंने झाड़ियों का रूप धारण कर लिया। उन पर लदे हुए पत्ते ऐसे दिखाई देने लगे जैसे मखमली वितान तान दिए गए हों। बेलें बल खाकर फैल गईं, सारा आँगन हरा-भरा हो गया और एक बाड़े की टट्टी का सहारा लेकर वे ऊपर को इस प्रकार चढ़ने लगीं जैसे असंख्य झरने फूट पड़े हों। मैं यह देखकर स्तब्ध रह गया और सोचा कि वंश किस प्रकार बढ़ता है। बिखरे हुए तारों के समान छोटे-छोटे फूलों के छोटे झागों की भाँति श्यामल लहरों जैसी शाखाओं पर लिपटे हुए इस प्रकार सुन्दर लगते थे जैसे अमावस्या की रात्रि में निस्तब्ध आकाश में तारे टिमटिमा रहे हों, अथवा चोटी के मोती हों या बूटों से भरा हुआ अचल हो।

ओह,······फलियाँ !

शब्दार्थ—कचपचिया=अन्धाधुन्ध उगे हुए। अभ्यागत=अतिथि; मेहमान।

अर्थ—समय आने पर उनमें से बहुत-सी फलियाँ टूटीं। वे फलियाँ बहुत ही प्यारी थीं। जो फलियाँ चौड़ी थीं वे भी गिनती से बाहर थीं। फलियाँ लम्बी-लम्बी उँगलियों के समान, नन्हीं-नन्हीं तलवारों के समान अथवा पन्ने के प्यारे हारों के समान थीं। आप झूठ न समझिए; वे नित चन्द्र-कला की भाँति

बढ़ती ही गईं और इस प्रकार हो गईं जैसे सच्चे मोती की लड़ियों का हो या झुण्ड के झुण्ड अन्धाधुन्ध आकाश में तारे उग आए हों। ओह, इ फलियाँ टूटी कि सबने जाड़ों भर खाईं। रोजाना सुबह-शाम घर पर प पास-पड़ोस के अपरिचित और परिचित सभी लोगों को बटवाई गईं। ब बान्धव, मित्र, अतिथि, भिखारी आदि ने क्या, समूचे मोहल्ले ने रात-दिन भर-भर कर खाईं। वे फलियाँ बहुत ही प्यारी थीं।

यह धरती······पायेंगे !

शब्दार्थ—रत्न प्रसविनी=रत्नों को पैदा करने वाली।

अर्थ—यह धरती माता अपने पुत्रों को बहुत अधिक देती है, पहले मैं इ बात को नहीं समझ सका था क्योंकि बचपन मे मैंने स्वार्थ के वशीभूत होक ही इसमें पैसे बोये थे; किन्तु अब मैं इसके महत्व को भली-भाँति समझ ग हूँ कि धरती रत्नों को पैदा करने वाली है, अत. आज हमें इसमें समानता के जनशक्ति के और मानव की समता के बीज बोने हैं, ताकि इससे अच्छी फस उग सकें और फिर मानवता की फसलें जीवन के श्रम से हरी-भरी होकर मुस्करा क्योंकि हम जैसा भी इसमें बोयेंगे, वैसा ही फल प्राप्त करेंगे।

विशेष—'हम जैसा बोयेंगे वैसा ही पायेंगे' यह पंक्ति 'As you sow, s shall you reap.' का शब्दानुवाद दिखाई देता है।

४६. सन्देश

कविता-परिचय—प्रस्तुत कविता में एक मधुर काल्पनिक कहानी-घटना है। कवि ने धूप की कहानी गढ़कर उसके माध्यम से जो सन्देश प्रकट किया है, उसमें कवि ने इस प्रकार का उत्तर दिया है कि उसने (पन्त ने) प्रगतिवाद को क्यों छोड़ा। उस कविता मे इस प्रश्न का जो उत्तर है, ऐसा ही पन्त ने 'रश्मिबन्ध' की भूमिका मे इन शब्दों मे दिया है—"जिस प्रकार छायावादियों में भागवत या विराट् चेतना के प्रति एक क्षीण दुर्बल आग्रह, आकुलता तथा बौद्धिक जिज्ञासा की भावना रही है उसी प्रकार तथाकथित प्रगतिवादियों में जनता तथा जन-जीवन के प्रति एक निर्जीव संवेदना तथा निर्बल ललक का भाव दुराग्रह की सीमा तक परिलक्षित होने लगा। दोनों ही के मन मे सम्यक् साधना, अभीप्सा तथा बोध की कमी के कारण अपने इष्ट या लक्ष्य की रूपरेखा तथा धारणा निश्चित नहीं बन पाई।"

इस कविता में भी कवि की कुछ ऐसी ही असन्तोष की भावना प्रकट होती है और वह फिर से प्रगतिवाद की 'जन नगरों की अन्धी गलियों' को छोड़कर, 'स्वस्थ, समग्र, प्रफुल्ल, पूर्ण, मोहमुक्त बनकर विश्व प्रकृति की महदात्मा में समा' जाता है।

मैं खोया……मग्न !

शब्दार्थ—अलस=आलस्य देने वाली। उपचेतन=उपमन; विषमजाल-मुक्त मन।

अर्थ—उस दिन मैं खोया-खोया सा था, मेरा मन उचाट हो रहा था। ऐसी दशा में मैं न जाने कब तख्त पर लुढ़क कर आलस्य देने वाली दोपहरी में सो गया। भयानक स्वप्नों की छाया मेरे उपमन पर बहुत देर तक छाई हुई मुझे पीड़ित करती रही, जबकि मैं गहरी निद्रा में डूबा हुआ था।

जब सहसा……बैठा जाता !

शब्दार्थ—अवसाद=दुःख।

अर्थ—जब सहसा मेरी आँखें खुलीं तो ऐसा अनुभव हो रहा था जैसे मेरी छाती पर असन्तोष का भारी बोझ लदा हुआ था। मेरे मन में न जाने क्या उधेड़-बुन चल रही थी जिससे मुझे मर्मान्तिक पीड़ा हो रही थी और न जाने क्यों मेरे हृदय के भीतर एक प्रकार का मंथन-सा हो रहा था तथा उसमें दुःख घुमड़-घुमड़ पड़ता था जो कड़ुवा और फीका था। मुझे अपना समस्त जीवन अस्त-व्यस्त और विशृंखल लग रहा था, यहाँ तक कि अपना कमरा भी मुझे बेगाना-सा लग रहा था। जी बार-बार ऊब रहा था और मन बैठा जा रहा था।

मैं सोच……अच्छा !

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—मैं सोच रहा था कि न जाने मुझे क्या हो गया है न जाने मन किन अनजानी राहों से भटक गया है, क्योंकि मानव-मन के अनेक अँधियारे कोने हैं। दिन बराबर बीतते जा रहे हैं और अपना कोई बस नहीं चलता। यह पानी के की भांति अबाध गति से बहने वाली आयु क्या कभी अपना प्रवाह रोक ? इस निरुद्देश्य जीवन से क्या लाभ ? इससे तो पृथ्वी का भार बने अपेक्षा मर जाना बहुत ही उचित है। (मैं यह सोच ही रहा था कि)

इतने में……ज्यों !

शब्दार्थ—सरल है ।

अर्थ—इतने में ही मेरी दृष्टि फर्श पर जा पड़ी जिस पर जाड़े की सुहावनी धूप खिड़की की चौखट को लम्बी और तिरछी बनाती हुई टूटे हुए शीशे की भाँति चमक रही थी जो पिघली हुई चाँदी की तरह दिखाई दे रही थी । वह आजम पर इस प्रकार पड़ी थी जैसे कोई मोती की तलैया हो जिसमें स्वप्नों की भाग लहरा रही थी । मेरी कोमल और निर्मल भावना में उफान आया । मैं क्षणभर के लिए अपने दुःख को भूल गया । वह धूप मुझे स्निग्ध चेतना के स्पर्श की भाँति सजीव लगी, ठीक उसी तरह जैसे कोई राजहंस खिड़की के रास्ते से उतरा हो । मेरे मन की द्विविधा मिट गई और मैं अपने दुःख को उसी भाँति भूल गया जैसे बादलों के घर से निकलकर चाँद मुस्करा उठता है ।

विशेष—उपमा अलंकार ।

वह मौन…… धूप, ।

शब्दार्थ—निलय=घर । वाहित=ले जाई जाने वाली । सरोरुह=कमल ।

अर्थ—वह शान्त और नीले घरों मे बसने वाली, घनों की रुपहली अलकों को सहलाने वाली, सूर्यमुखी किरणों से ले जाई जाने वाली, कोमल-कमल-से स्तन वाली लज्जाशील धूप थी । वह धूप चाँदी का विस्तार लेकर तथा सुनहली अँगड़ाइयाँ भरकर उषा की स्वप्निल पलकों पर जगने वाली तथा स्वर्ण हंसों के पंखों पर नित उड़ने वाली गोरी गर्दन एवं बाँहों से युक्त चम्पई रंग की थी । वह बर्फ के धूप-छाँह के बल्कलों को पहने हुए थी तथा सुगन्ध से युक्त मकरन्द के शरीर वाली चन्दन से लिपटी धूप थी । वह धूप फूलों के सुन्दर मुखों पर हँसने वाली थी तथा नीले ढालों पर सोने वाली सुन्दर धूप थी । वह हरी दूब के पाँवड़ों पर चलने वाली, रेशम जैसी कोमल लहरों के बीच बिखर जाने वाली मोतियों से प्रकाशित सीपी जैसे श्वेत पंखों को खोलकर सैकड़ों इन्द्र धनुष फह-राने वाली तर धूप थी—

वह चाँदी…… बोली—

शब्दार्थ—शफरी=मछली । सभ्रम=आश्चर्य । स्नेहार्द्र=प्रेम भरी ।

अर्थ—वह धूप इस प्रकार ज्ञात होती थी जैसे कोई चाँदी की मछली मग्न जल से उछल कर और अपार ज्ञान का-सा चमकीला पेट दिखाकर मेरे कमरे के

छोटे फर्श पर, धूल भरे मखमली गलीचे पर चुपके से सहम कर बैठी हो और मेरे कठोर हृदय को कोमल कृतज्ञता से सुखान्वित करके उसमें चुपचाप प्रीति की संवेदना भर गई हो। मैं उसे देखकर श्रद्धा और आश्चर्य से जगकर बैठ गया और वह मुझे प्रेमभरी दृष्टि से देखकर मुस्करा उठी, मानो वह विश्व-प्रकृति की दूती बनकर आई थी। मैं अपनी स्मृति में कुछ खोया-खोया-सा स्वप्न-सा देखता हुआ कुछ क्षण के लिए आत्मविभोर हो गया। तब वह मेरे अन्तर में बैठकर मुझसे इस प्रकार कहने लगी—

'क्या हुआ .... क्यों हो ?"

शब्दार्थ—अमर=देवता। निस्पन्द=मौन। क्षुब्ध=दुःखी। कर्दम=कीचड़। उद्भ्रान्त=अस्थिर। सृष्टि=सृष्टि।

अर्थ—जीवन की शोभा के गायक ! तुम्हें क्या हो गया है। तुम तो प्रकाश (ज्ञान), प्रीति और आशा के स्वर झंकृत किया करते थे। तुम अपने छन्दों में प्रसन्नता, माधुर्य, शोभा, सुषमा को ग्रन्थित करके अपने स्वप्नों में देवताओं को भी मूर्त करके अपने पास बुला लेते थे। आज तुम्हारी यह वीणा मौन क्यों है? आज तुम्हारे आग भरे तार मधु की वर्षा क्यों नहीं करते? प्रातःकालीन पक्षी की भाँति उषा की लालिमा में उठकर आज तुम्हारी कल्पना क्यों नहीं आकाश में विचरण करती ? तुम क्या सोच रहे हो ? उठो और अपने दुःखी मन को शान्त करो। क्या तुम भी जग की चिन्ता रूपी कीचड़ में फँसकर, सन्देह, दुःखी और अस्थिर मन से इन प्रश्नों का उत्तर ढूँढ रहे हो कि जीवन का ध्येय क्या है ? सृष्टि की रचना किसलिए हुई है ? सुख-दुःख क्यों आते हैं ? मानव का जन्म किसलिए हुआ, या तुम कौन हो ?

तुम भी ..... मुट्ठी को !

शब्दार्थ—वेष्टन=आवरण। विकृत=बिगड़ा हुआ। मुष्टि=मुट्ठी।

अर्थ—क्या तुम भी वादों के आवरण में मन को बाँटकर मानव-जीवन के अन्तर छन्द के स्वर को उसका एक सस्ता साधारण रूपकर निस्सार वादों के द्वारा जग की रचना-शक्ति और उसके विकास-क्रम को अनन्त मुट्ठी में बन्द करने का साहस करके बिगाड़ देना चाहते हो ? या मानव-मूल्यों की भौतिक द्वन्द्वों की वेदी पर बलि देकर यन्त्रों के नीचे मानव हृदय को मांस के पाषाणों से कुचलकर तुम धरती पर क्या कोई नया स्वर्ग रचने के लिए आकुल हो ?

क्या तुम हिंसक स्वार्थों के पंजे फैलाकर जीवन के सुन्दर मुख को नोच लेना चाहते हो ?

तुम भूल·········मुखरित!

शब्दार्थ—मुकुर=दर्पण, शीशा।

अर्थ—क्या तुम अपनी प्रकृति माता को भूल गए हो जिसके आंगन मे तुम खेले-कूदे, जिसके अंचल में सोए-जागे, रोए गीत गाए, हंसे और बडे हुए । जो स्वप्न-प्रिया की तरह तुम्हारे बचपन की साथी रही है और तुम्हारे हाथों में तुम्हारी कला का दर्पण बनकर रही है ? तुम स्वप्नों के द्रष्टा और अमर शिल्पी जिसके बल पर बने हो ? जिसने कोयल बनकर तुमको गाना सिखलाया, मधुर-गुंजन करके और फूलो की कोमल बांहों के आलिंगन भरकर जिसने तुमको मधु का संचय करना सिखलाया। जिसके रंगों की भावमयी तूलिका से तुमने शोभा के चरणो को रंगा, मनुष्य के प्रमुख सौंदर्य का अंकन किया और जिससे तुमने मधु, स्पर्श, शब्द, रस, गन्ध और दृष्टि लेकर सुख से भरे हुए निर्झरों के समान अपने स्वरो को बरसाया। क्या तुम अपनी उस प्रकृति माँ को भूल गए हो ?

अब जन·········जीवन का।

शब्दार्थ—कारा=बन्दी-गृह। सेतु=पुल। भावी=भविष्य। महत्तर=महान्।

अर्थ—अब तुम व्यक्ति और नगर की अन्धी गलियों में भटककर ऊंचे भवनों के बन्दी-गृह में बन्द होकर नित अपनी ही चिन्ता मे घुले जा रहे हो। क्या तुमने लोक, मान-मर्यादा की स्थूल दृष्टि पाकर तुम सूक्ष्म स्वप्न देखने वाली आंखों को मूंद लिया है ? लो आज मैं अपना असीम रूप धारण करके तुम्हारे लिए यह सन्देश लाई हूं कि आओ, फिर से खुली प्रकृति की गोद में बैठो और प्रफुल्लित दिशाओं के जीवन के आंगन में खेलो जहाँ निरुद्देश्य रहना भी मधुर ही लगता है। तुम फिर से स्वप्नों के चरण लेकर अनन्त के पथ पर चलो और भविष्य के क्षितिजों पर कल्पना के पुल बांधो। अपने मन को उस विराट् की आत्मा से सब प्रकार प्रथित करके उससे प्यार करो और जग-जीवन की चिन्ता छोड़कर सुख से रहना सीखो। हे कवि ! जो अपनी पूर्णता स्वयं आप है, जो स्वयं अपना लक्ष्य है, वही महान् पुरुष है और वही मनुष्य के जीवन का महान्-से-महान् ध्येय है।

विशेष—प्रकृति के प्रति मनुष्य की उदासीनता का वर्णन है।

मैं मन ......संक्रांति काल !

शब्दार्थ—कूप वृति=कुएं के मेंढक के समान। दुर्बोध=अगम्य। निरवधि=असीम। कंचन=स्वर्ण। अस्तमित=अस्तप्राय:। वृत्त=कहानी। विवर्तन=परिवर्तन। संक्रांति=परिवर्तनशील।

अर्थ—धूप का संदेश सुनकर मैं अपनी कुएं के मेंढक के समान कुण्ठित वृत्ति से बाहर हो गया और शीघ्र ही चिन्ताओं की अगम्य भँवरों से निकलकर उज्ज्वल प्रकाश के असीम क्षणों में डूब गया तथा सुनहली धूप की अनन्तता में लीन हो गया। मैं अपने मन से ऊपर उठा, तन की सीमाओं को छोड़ा और फिर स्वस्थ, सम्पूर्ण, प्रसन्न, पूर्ण, मोह से मुक्त होकर विश्व प्रकृति की महान् आत्मा में समा गया। मुझको इस प्रकार प्रसन्न मन देखकर वह धूप कुछ शरमाई और कुम्हलाकर बोली—"अच्छा, अब मुझे विदा दीजिए क्योंकि मुझे जाना है। वह देखो, अस्ताचल पर सोने की पालकी लिये हुए किरणें मेरी प्रतीक्षा कर रही हैं और क्षितिज की सीमा पर पुल बांधकर मुझे उस पार उतार देने के लिए आतुर हैं।" (सायं को धूप छिप जाती है।) "यह युग की सन्ध्या है। इतिहास की एक कहानी अस्तप्राय है। ब्रह्म का दिन ढलने वाला है, कल्प का सूर्य बुझने वाला है। मानस-कमल मुंदने वाला है और चन्द्रमा की भांति कवि की ज्योति का उदय होने वाला है। परिवर्तन का चक्र घूमता ही रहता है। आज भी यह समय परिवर्तनशील है।"

यदि अंधकार ......उर में !

शब्दार्थ—प्रहर=पहर, समय। निशा=रात्रि। सन्देवाह=सन्देश देने वाली।

अर्थ—अन्त में धूप जाते-जाते कहने लगी कि "हे कवि ! यदि तुम पर अंधकार (अज्ञान) का कठिन समय आ पड़े तो मुझे याद कर लेना। मैं तुम्हें यह ज्योति (ज्ञान) की धरोहर दिये जा रही हूं। जब तुम्हें अपने हृदय में ग्लानि हो, ममता की रात घिरे तो मैं सन्ध्या के पलनों पर सुनहले युग-प्रभात को झुलती हुई नवीन प्रकाश का सन्देश लेकर आऊँगी।" यह कहकर वह धूप अपनी सुन्दरता के अंगों को अपने हृदय में छिपाकर देखते-देखते ही छिप गई।

५०. कृतज्ञता

कविता परिचय—इस कविता मे कवि ने विभिन्न शारीरिक अगों और भावों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशित की है और अपने कृतार्थ-प्रकाशन का कारण भी बताया है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि कवि ने देह, प्राण, इन्द्रियाँ, प्रेम, ज्योति, शान्ति और आनन्द के कार्य-क्षेत्रों का विवरण दिया है। कविता सूक्ष्म मनोभावनाओं से ओतप्रोत है।

मैं कृतार्थ……संचालन !

शब्दार्थ—कृतार्थ=कृतज्ञ, अहसानमन्द। पावक=ज्वाला। क्षुधित=भूखा। अवयव=अंग।

अर्थ—कवि शरीर के प्रति अपनी कृतज्ञता का प्रकाशन करता हुआ कहता है कि हे शरीर ! मैं तुम्हारा बहुत कृतज्ञ हूँ, क्योंकि तुम तृण रूपी हड्डियों के दोने में पंजर मे मेरी आत्मा की अतृप्ति, असन्तोष, कातरता आदि की ज्वाला को धारण किए हुए रहते हो और जब मैं कर्मों के लिए भूखा बनकर अर्थात् कर्म करने के लिए उत्तेजित होकर अपने अंगों का संचालन करता हूँ तो तुम्हारी प्रत्येक नस से उत्साह का मधुर संगीत ध्वनित होने लगता है।

मैं कृतज्ञ ……दर्पण !

शब्दार्थ—अनुक्षण=हर समय। निर्देशन=संकेत।

अर्थ—कवि मन के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करता हुआ कहता है कि हे मन ! मैं तुम्हारा बहुत कृतज्ञ हूँ क्योंकि जब मैं अन्धकार में भटक जाता हूँ तो तुम हर समय मुझे प्रकाश की अंगुली पकड़ा कर मेरे मार्ग की ओर संकेत करते हो, अर्थात् मुझे मेरा खोया हुआ रास्ता दिखाते हो। तुम्हीं भाव, बुद्धि, प्रेरणा आदि बाह्य श्रेणियों को पार करके और उनमे तन्मय होकर शाश्वत सुख के दर्पण बन जाते हो, अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार तुम्हारे ही द्वारा होता है।

प्राण, धन्य……तीर पर !

शब्दार्थ—रजत=चाँदी, निर्मल। हरित=हरा, सुखदायक। ज्वाल=आग। तरी=नौका। तीर=किनारा।

अर्थ—इन पंक्तियों में कवि प्राण के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करता हुआ कहता है कि हे प्राण ! जिस प्रकार फेनिल सागर ज्वार-भाटों से उफन आता है, उसी प्रकार तुम्हारे ही कारण हृदय में निर्मल सुखद आशा और

इच्छा हिलोरें लेती रहती हैं। तुम्हीं चाँदनी को स्वप्न की आग भरी नौका में बिठाकर रत्न-छटा का आनन्द किनारे पर बिखेरते हो, अर्थात् तुम ही आनन्द के मूलभूत कारण हो। अतः तुम धन्य हो।

मैं उपकृत ....न्योछावर !

शब्दार्थ—उपकृत=कृतज्ञ।

अर्थ—इन्द्रियों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हुआ कवि कहता है कि हे इन्द्रियों ! मैं तुम्हारा बहुत कृतज्ञ हूँ क्योंकि तुम्हारे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्वर के क्रीड़ामय द्वार अनन्त के भीतर-बाहर खुले रहते हैं, अर्थात् तुम्हारे ही कारण सृष्टि में उपर्युक्त गुण हैं। तुम इतनी सुन्दर हो कि अप्सराओं के समान इन्द्रधनुषों से चमकते हुए आकाश भी अपनी असीम शोभाओं को तुम पर न्योछावर कर देते हैं।

प्रेम प्रणय ....स्वर !

शब्दार्थ—प्रणत=झुकना। हित=लिए। मुकुर=शीशा।

अर्थ—इन पंक्तियों में कवि विभिन्न भावों के प्रति कृतज्ञता प्रकाशन करता है। वह प्रेम को सम्बोधित करते हुए कहता है कि हे प्रेम ! मैं तुम्हारे सामने झुकता हूँ क्योंकि मेरी प्रेम-विषयक पिपासा को शान्त करने के लिए ही तुम चराचर—सब प्राणियों—में व्याप्त हो। हे ज्योति ! तुम पर मोहित हूँ क्योंकि तुम उज्ज्वल हृदय की अगोचर भावनाओं को प्रतिबिम्बित करने में दर्पण के समान हो। हे शान्ति ! तुम शरीर की और मन की अमर सात्विक सेज हो, अर्थात् तुम्हारे कारण ही शरीर और मन को आनन्द मिलता है। हे प्रिय आनन्द ! तुम्हारे लिए मैं इसलिए कृतार्थ हूँ कि तुम मेरे गीतों के छन्द और आत्मा के स्वर हो।

५१. हिम-प्रदेश

कविता-परिचय—सन् १६२६ में 'सन्देश' कविता में पन्तजी ने अपनी प्रकृति-विषयक उदासीनता पर प्रायश्चित इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"तुम भूल गए क्या मातृ प्रकृति को ? तुम जिसके
आँचल में खेले कूदे, जिसके यौवन में
खोए जागे, रोए गाए, हुए बड़े हुए।"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रस्तुत कविता उसी प्रायश्चित की प्रतिक्रिया

है। इसमें पन्तजी ने अपनी जन्मभूमि कौसानी के प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन किया है, साथ ही कुछ पंक्तियों में अपने बाल्यकाल का और कैशोर मनोभावना का भी परिचय दिया है। इस कविता में पन्तजी की प्रकृति केवल कुतूहल का सुषमा-परिधान अथवा जिज्ञासा की परितृप्ति का स्वरूप धारण करके ही नहीं आई है, वरन् प्रकृति के प्रति कवि की दृढ़तर आस्था का प्रमाण प्रस्तुत करता है। वे तो यहाँ तक कह बैठते हैं—

"प्राणि मात्र में व्याप्त प्रकृति की
गोपन सत्ता रहती निश्चित।"

प्रकृति-विषयक पन्त जी के ये शब्द उल्लेख्य हैं—"उषा, संध्या, फूल, कोपल, कलरव, मर्मर, ओसों के वन और नदी-निर्झर मेरे एकाकी किशोर मन को सदैव अपनी ओर आकर्षित करते रहे हैं और सौन्दर्य के अनेक सद्यः स्फुट उपकरणों से प्रकृति की मनोरम मूर्ति रचकर, मेरी कल्पना समय-समय पर उसे काव्य-मन्दिर में प्रतिष्ठित करती रही है।" इसमें सन्देह नहीं कि पन्तजी की इस मान्यता का उद्घाटन प्रस्तुत कविता में पर्याप्त रूप से हुआ है, मानो हिम प्रदेश के चरणों पर बसे हुए ग्राम के रूप में वे स्वयं ही मुग्ध प्रकृति का आत्म-समर्पण बन बैठे हों।

हिमगिरि.......... विस्मय !

शब्दार्थ—क्रोड़=गोद। मुक्त=उन्मुक्त, विशाल। जलधि=सागर।

अर्थ—कवि अपनी जन्मभूमि कौसानी की प्राकृतिक शोभा का वर्णन करता हुआ कहता है कि हिमालय पर्वत का प्रदेश निर्मल दिशाओं से घिरा हुआ हर्ष से हँसता-सा दिखाई देता था। प्रकृति की गोद विभिन्न ऋतु की शोभा से गढ़ी (कल्पित) हुई-सी जान पड़ती थी। वायु सुगन्ध से गुँथी हुई रेशमी तारों जैसी थी और विशाल पर्वत इस प्रकार दिखाई देता था जैसे वह बादलों के नीले पंखों पर बैठा हुआ था। निर्जन वन हरे सागर के समान असीम थे जिनमें घुसने से डर लगता था और जिनमें गहरी छायायें मौन भावों की-सी गम्भीरता लेकर हृदय को बार-बार कँपाकर विस्मय पैदा करती थीं।

नीरवता.......... आँगन में !

शब्दार्थ—शिलाएँ=चट्टानें। गुह्य=छिपा हुआ। स्तम्भित=आश्चर्य-चकित। शृंग=ऊँचा।

अर्थ—पत्थर की चट्टानें मानो साकार नीरवता की मूर्ति बनकर इस प्रकार पड़ी थीं जैसे उनके हृदय में कोई भारी बोझ छिपा हुआ हो। वे अपनी नीरवता से चलते हुए पगों को आश्चर्य-चकित करके इसी प्रकार ठिठका देती थीं जैसे नई उम्र वाले अबोध युवक मन्त्र से मुग्ध हो जाते हैं। झरने ऊँची आवाज करते हुए बह रहे थे मानो उनके मन में कोई भारी कौतूहल हो। वे दूध जैसे सफेद फेन के समूहों को बनाते हुए मानो उस आँगन में पहाड़ के गीत गा रहे थे।

विशेष—उत्प्रेक्षा अलंकार।

विजन .... कलरव !

शब्दार्थ—वीथि=मार्ग। कुंतल=केश। मार्दव=मृदुता, कोमलता। विहगावलि=पक्षियों की पंक्ति।

अर्थ—निर्जन मार्गों में परियों के दर्शन होते थे जो इन्द्रधनुष का सतरंगा अंचल फहराती और धूप-छाँह के रंग की साड़ी को पहने और सुगंधित सुनहले केशों को बिखराती रहती थी। पर्वत के शरीर से खिली हुई कलियों एवं प्रफुल्लित कुसुमों की मृदुलता लिपटी हुई थी; अर्थात् पर्वत के चारों ओर कलिका और फूल खिले हुए थे। फूलों की माला की तरह पक्षियों की पंक्ति नभ में उड़कर अपने रंग-बिरंगे पंखों से शोभा बरसाती तथा सुन्दर आवाज करती थी।

देवदारु ....मनोहर !

शब्दार्थ—शिखर=चोटी। परिक्रमा=चारों ओर चक्कर काटना। वत्सर=वर्ष। कक्ष=कमरा। ग्रथित=गुँथा हुआ।

अर्थ—देवदारु के वृक्षों की चोटियाँ इस प्रकार ऊँची उठी हुई थीं मानो भूमि की जिज्ञासा ही ऊपर उठ रही हो। अपनी ऊँचाई के कारण वे आकाश का नीला रहस्यमय पर्दा चीरकर तारों से बातें करते-से दिखाई देते थे। प्रत्येक वर्ष पृथ्वी का चक्कर काटकर वहाँ प्रत्येक ऋतु आती और जाती थी। वह पर्वत प्रदेश फूलों से सजा हुआ शृंगार के कमरे की भाँति दिखाई देता था जो गन्ध, वर्ण और ध्वनि से गुँथकर बहुत ही सुन्दर प्रतीत होता था।

कब .... तन !

शब्दार्थ—अनथक=अस्थिर। अपर=दूसरा।

अर्थ—पन्तजी इन पंक्तियों में अपने बाल्यकाल की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि मैं नव किशोर बनकर अपने अस्थिर चरणों को रखता हुआ इस

पृथ्वी पर कब विचरा था, मुझे ज्ञात नहीं। परिवर्तन-पृथ्वी के विकास का मार्ग है जिस पर काल भाने अगोचर पग रखता हुआ चलता रहता है। मेरा जन्म मध्यम वर्ग के सुख-सम्पन्न घर में हुआ था और मेरे पिता विशाल मन वाले धर्मराज की भाँति थे जो वात्सल्य स्नेह के दूसरे ही शिखर थे अर्थात् मुझे बहुत ही प्यार करते थे और जिनका शरीर गोरा, साल जैसा गठित और मन्दिर जैसा पवित्र था।

विशेष—भावों में हलका-सा दार्शनिकता का पुट है।

मातृहीन ···· दर्पण में !

शब्दार्थ—सलज=लज्जाशील। अवगत=परिचित।

अर्थ—मैं मातृहीन था। (पन्तजी की माता का देहान्त उनके बचपन में ही हो गया था), मन से अकेला था, लज्जाशील था फिर भी अपनी परिस्थिति से परिचित था। मैं माँ के स्नेहांचल से रहित था, अतः आत्मस्मित-सा बन गया था, धाय ने मेरा पालन-पोषण किया था जो बहुत ही नम्र स्वभाव की और भावुक थी। मैं प्रकृति की गोद में छिपकर अपने प्यारे खेलों को खेला करता था। मेरा मन घास और पेड़ों की बातें सुनता रहता था और नीलिमा से परे छाया वनों की पक्षियों के पखों पर बैठकर पार किया करता था। नवीन फूलों के समूह रंगों के छींटे से दिखाई देते थे जो पहाड़ के क्षितिजों को चित्रित किये रहते थे। नवीन बसन्त ऋतु की फूलों से भरी हुई देही ही मुझे गोद में भरकर सुख में विभोर कर देती थी। जब कोयल आकर गाती तो मेरा मन न जाने कब उड़कर वन में चला जाता और मेरे हृदय रूपी दर्पण में छहों ऋतुओं की शोभा निरन्तर प्रतिबिम्बित होती रहती थी।

विशेष—इन पंक्तियों में कवि के जीवन-संस्पर्श स्पष्ट हैं।

पुण्य तीर्थ····· अनुक्षण !

शब्दार्थ—आत्मिक=आत्मा-सम्बन्धी; आध्यात्मिक। दिङ् मुकुलित= खिली हुई कलियों से भरी हुई दिशा। सभ्रम=आश्चर्य-चकित। अनुक्षण=हर क्षण।

अर्थ—यह हिम प्रदेश पुण्य तीर्थों से युक्त प्राचीन हिमालय और पवित्र तपोवनों से सुशोभित है जहाँ पर साधु लोग आध्यात्मिक शांति खोजने और आत्म लाभ प्राप्त करने के लिए आते हैं। चंचल रंगों से भरी हुई प्रकृति की

शोभा और कलियों से भरी हुई दिशायें हृदय पर प्रभाव डालती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि योग की ध्यान में लगी हुई मूर्ति हृदय को विस्मित और आश्चर्य-चकित कर रही हो। पग-पग पर ग्रामीणों के सरल मन किशोरों का अभिनन्दन करते हैं। शिखरों का वैभव देखकर समतल भूमि बड़ी ही दीन अवस्था में दिखाई देती है और उसकी यह दीनता हर समय मन में खटकती रहती है।

नहीं भूलता.........अनुभव !

शब्दार्थ—सहज=आसानी से। दशन=पीड़ा। आरोही=चढ़ने वाला। निसर्ग=स्वभाव, प्रकृति।

अर्थ – प्यारी किशोर अवस्था में स्मृति में जो पीड़ा घर कर जाती है उसे मनुष्य का मन आसानी से नहीं भूलता। यह वही काल है जब (विशेषकर प्रणय की) सफलताओं और असफलताओं से उनके मन में ग्रंथियाँ (Complexes) बन जाती हैं, जिससे उनका जीवन-दर्शन विचारधारा प्रभावित होती है। वह ग्राम जो हिमगिरि के चरणों पर खड़ा हुआ है, ऐसा मालूम होता है जैसे पर्वत पर चढ़ने वाला हो। वह मरकत और मणिकण की भाँति सुशोभित है, श्रद्धा में झुका हुआ है। वह ऐसा लगता है जैसे पर्वतारोहण के प्रति प्रकृति का सुन्दर आत्म-समर्पण हो। यहीं सायंकाल की और प्रातःकाल की उनकी दोनों छवियाँ पर्वत की सुनहली चोटियों से शोभा का वैभव बरसाती हैं जिनमें ध्यान मग्न होकर मौन प्रकृति अपने दिव्य रूप का अनुभव करती है।

तोय.........पाकर !

शब्दार्थ—तोय=पानी। तल्प=शैया, पलंग। सार्द्र=नमी-सहित। [illegible]=मोर। परिवेश=परिधान। स्फटिक=संगमरमर, श्वेत। क्षीर=दूध।

अर्थ—इन पंक्तियों में कवि अपने मन पर पड़े हुए प्राकृतिक प्रभाव का वर्णन करता है। वह कहता है कि तृणों में छिपती हुई घास की हरी शैया पर [illegible] में खिलती हुई वन की शोभा अत्यन्त सुन्दर लगती थी जैसे पानी [illegible] में लगकर [illegible] से आकाश उसके ऊपर झुका रहता था। [illegible] और हरे परिधान से युक्त वह छोटा-सा [illegible] का पावन श्वेत [illegible] दिखाई देता था। वहाँ की महती हृदय में शान्ति का संचार करती थी [illegible] था। नील आकाश की [illegible] उठती हुई पर्वत की चोटियों [illegible] हृदय में [illegible]

जाती थीं और अपलक दृष्टि से उस अनन्त पर्वत के स्वरों को सुनकर उसकी शोभा का पान करता रहता था। मेरी आँखें बर्फ से ढकी हुई श्वेत चोटियों के सौन्दर्य सागर में हमेशा लीन रहती थीं और उस शुभ्र सत्ता का आन्तरिक स्पर्श पाकर मेरा हृदय असीम बन जाता था।

अमरों.........रक्षित !

शब्दार्थ—अमर=देवता। अन्तरिक्ष=आकाश। कौमार=कुमारावस्था। निविष्ट=प्रविष्ट। अविदित=अनजाने। अलक्षित=अनजाने। नैसर्गिक=स्वर्गिक, स्वाभाविक। परिवृत=घिरकर। गुह्य=छिपी हुई।

अर्थ—उस शोभा को देखकर मेरा मन देवताओं के साथ आकाश में उन शृंगों पर विचरण किया करता था। मेरी कुमारावस्था निर्मल थी अतः मेरी भावना स्वप्न के पंखों के सहारे पर्वत पर चढ़ा करती थी। उस पवित्र प्रदेश की आत्मा मेरे हृदय में अनजाने ही प्रविष्ट हो गई, अर्थात् उसका मुझ पर गहरा और अमिट प्रभाव पड़ा। अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्रत्येक प्राणी में प्रकृति की सत्ता अवश्य ही छिपे रूप से व्याप्त रहती है। प्रकृति माता का यह शिशु क्षितिज की गोद में अनजाने ही खेल-कूद कर और हँसकर पला (कवि का अपनी ओर संकेत है)। वह शिशु प्रकृति की स्वाभाविक शोभा से घिरा हुआ था और उसकी अदृश्य एवं छिपी हुई शक्ति से रक्षित था।

विशेष—प्रकृति का अलौकिक वर्णन है।

शोभा.........अन्यस्तल !

शब्दार्थ—चपल=चंचल। गरिमा=महिमा। गभीर=गम्भीर। उच्छ्राय=स्थान। अविरत=निरन्तर। अन्तस्तल=हृदय।

अर्थ—जो किशोर पग शोभा के कारण चंचल हो गए थे, उन्होंने अपनी चंचलता छोड़ दी और मेरा मन महिमा से विनत एवं गम्भीर बन गया। मेरी रंगभूमि मनोरम प्रकृति थी और मेरी पवित्र पृष्ठभूमि हिमप्रदेश था। उस सुन्दर प्रकृति ने अनजाने ही मेरा हृदय अपने प्रभाव से मुग्ध कर दिया। मैं उन उज्ज्वल और सुनहले स्थानों में अपने मन को अंतर्मुख करने के लिए विवश हुआ। ऋषियों की उस एकान्त भूमि में किशोरावस्था चंचल न रह सकी और मेरा हृदय निरन्तर उच्च प्रेरणाओं से आन्दोलित रहने लगा।

शोभा और कलियों से भरी हुई दिशायें हृदय पर प्रभाव डालती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि योग की ध्यान में लगी हुई मूर्ति हृदय को विस्मित और आश्चर्य-चकित कर रही हो। पग-पग पर ग्रामीणों के सरल मन किशोरों का अभिनन्दन करते हैं। शिखरों का वैभव देखकर समतल भूमि बड़ी ही दीन अवस्था में दिखाई देती है और उसकी यह दीनता हर समय मन में खटकती रहती है।

नहीं भूलता…… अनुभव !

शब्दार्थ—सहज=आसानी से। दंशन=पीड़ा। आरोही=चढ़ने वाला। निसर्ग=स्वभाव, प्रकृति।

अर्थ—प्यारी किशोर अवस्था में स्मृति में जो पीड़ा घर कर जाती है उसे मनुष्य का मन आसानी से नहीं भूलता। यह वही काल है जब (विशेषकर प्रणय की) सफलताओं और असफलताओं से उनके मन में ग्रंथियाँ (Complexes) बन जाती हैं, जिससे उनका जीवन-दर्शन विचारधारा प्रभावित होती है। वह ग्राम जो हिमगिरि के चरणों पर खड़ा हुआ है, ऐसा मालूम होता है जैसे पर्वत पर चढ़ने वाला हो। वह मरकत और मणिकण की भांति सुशोभित है, श्रद्धा से झुका हुआ है। वह ऐसा लगता है जैसे पर्वतारोहण के प्रति प्रकृति का सुन्दर आत्म-समर्पण हो। यहाँ सायंकाल को और प्रातःकाल को उनकी दोनों छवियाँ पर्वत की सुनहली चोटियों से शोभा का वैभव बरसाती हैं जिनमें ध्यान मग्न होकर मौन प्रकृति अपने दिव्य रूप का अनुभव करती है।

कौश……पाकर !

शब्दार्थ—कौश=घास। तल्प=शैया, पलग। सातप=गर्मी-सहित। अंक=गोद। परिवेश=परिधान। स्फटिक=संगमरमर, श्वेत। क्षीर=श्वेत।

अर्थ—इन पंक्तियों में कवि अपने मन पर पड़े हुए प्राकृतिक प्रभाव का वर्णन करता है। वह कहता है कि तृणों से हिलती हुई घास की हरी शैया पर गर्मी से सिसकती हुई वन की शोभा अत्यन्त सुन्दर लगती थी जिसे अपनी गोद में भरकर अपार हर्ष से आकाश उसके ऊपर झुका रहता था। श्वेत और हरे परिधान से युक्त वह छोटा-सा जनपद का आँगन श्वेत शीशे की भाँति दिखाई देता था। बर्फ की सफ़ेदी हृदय में शांति का संचार करती थी और वन का मर्मर का शब्द प्राणों में मादकता भरता था। नील आकाश को भेदकर चुपचाप उठती हुई पर्वत की चोटियाँ न जाने कह

जाती थीं और अपलक दृष्टि से उस अनन्त पर्वत के स्वरों को सुनकर उसकी शोभा का पान करता रहता था। मेरी आँखें बर्फ से ढकी हुई श्वेत चोटियों के सौन्दर्य सागर में हमेशा लीन रहती थी और उस शुभ्र सत्ता का आन्तरिक स्पर्श पाकर मेरा हृदय असीम बन जाता था।

अमरों ······ रक्षित !

शब्दार्थ—अमर=देवता। अन्तरिक्ष=आकाश। कौमार=कुमारावस्था। निविष्ट=प्रविष्ट। अविदित=अनजाने। अलक्षित=अनजाने। नैसर्गिक=स्वर्गिक, स्वाभाविक। परिवृत=घिरकर। गुह्य=छिपी हुई।

अर्थ—उस शोभा को देखकर मेरा मन देवताओं के साथ आकाश में उन शृंगों पर विचरण किया करता था। मेरी कुमारावस्था निर्मल थी अतः मेरी भावना स्वप्न के पंखों के सहारे पर्वत पर चढ़ा करती थी। उस पवित्र प्रदेश की आत्मा मेरे हृदय में अनजाने ही प्रविष्ट हो गई, अर्थात् उसका मुझ पर गहरा और अमिट प्रभाव पड़ा। अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्रत्येक प्राणी में प्रकृति की सत्ता अवश्य ही छिपे रूप से व्याप्त रहती है। प्रकृति माता का यह शिशु क्षितिज की गोद में अनजाने ही खेल-कूद कर और हँसकर पला (कवि का अपनी ओर संकेत है)। यह शिशु प्रकृति की स्वाभाविक शोभा से घिरा हुआ था और उसकी अदृश्य एवं छिपी हुई शक्ति से रक्षित था।

विशेष—प्रकृति का अलौकिक वर्णन है।

शोभा·········अन्यस्तल !

शब्दार्थ—चपल=चंचल। गरिमा=महिमा। गभीर=गम्भीर। उच्छ्राय=स्थान। अविरत=निरन्तर। अन्तस्तल=हृदय।

अर्थ—जो किशोर पग शोभा के कारण चपल हो गए थे, उन्होंने अपनी चपलता छोड़ दी और मेरा मन महिमा से विनत एवं गम्भीर बन गया। मेरी जन्मभूमि मनोरम प्रकृति थी और मेरी पवित्र पृष्ठभूमि हिमप्रदेश था। उस सुन्दर प्रकृति ने अनजाने ही मेरा हृदय अपने प्रभाव से शुद्ध कर दिया। मैं उन उच्च और सुनहरे स्थानों में अपने मन को अन्तर्मुख करने के लिए विवश था। ऋषियों की उस एकान्त भूमि में किशोरावस्था चंचल न रह सकी और ······ उच्च प्रेरणाओं से आन्दोलित रहने लगा।

निज·········नूतन !

शब्दार्थ—इंगित=संकेत । अवचनीय=शब्दों

अर्थ—मेरे उत्सुक मन को कोई अपने प्रकाश
करता रहता था । मैं कब उस प्रकाश के सागर में डूब
की सीमा से बाहर है क्योंकि वह क्षण बड़ा ही गु
सन्धि की ओट में यौवन सपनों से परिपूर्ण होकर प
था जिसमें मधुर रंग और रस वाले फूलों से लिपटा हु
चमक रहा था, अर्थात् हृदय में प्रेम की ज्वाला धधकनी

५२. स्वतन्त्रता-जागरण

कविता-परिचय—इस कविता का रचना-काल स
भारत को स्वतन्त्र हुए दस वर्ष हो चुके थे। अपनी स्व
गांधीजी के नेतृत्व में भारतीय ने जो रक्तहीन समर छेड़ा
प्रभावोत्पादक शैली मे वर्णन किया गया है। कवि की मा
भौतिक न होकर आध्यात्मिक था। वह मानव के
पारस्परिक संघर्षण था जिसमें, अन्त में सत्य और अहिंसा

आदिकाल········ उन्नयन !

शब्दार्थ—भस्मावृत=भस्म से ढके हुए । ऋत=सत
भास्वत=प्रकाशपूर्ण । अतिक्रम कर=लांघकर । उन्नयन-

अर्थ—जो भारत आदिकाल से ऋषि-मुनियों की साधन
के भस्म से ढके हुए शरीर मे सत्य और चेतना की प्रकाशपू
है । यह देश जड़, जीवन और मन की सीमाओ को लांघकर
आन्तरिक दर्शन पा लेने के कारण ही आज तक बचा हुआ है
जीवन की स्थिति की प्रगति हो सके, अर्थात् भारत के आध्य
जन-जीवन का विकास सभव है ।

भक्ति··· !

उपेक्षा (अवहेलना) किया हुआ

वि॰

श्रद्धा, तप, संयम ये सब भूमि
धैर्य, निष्काम कर्म (बिना किसी फल-

निज.........नूतन !

शब्दार्थ—इंगित=संकेत। अवचनीय=शब्दों की सीमा से बाहर।

अर्थ—मेरे उत्सुक मन को कोई अपने प्रकाश के संकेत द्वारा आकर्षित करता रहता था। मैं कब उस प्रकाश के सागर में समा गया, यह कहना शब्दों की सीमा से बाहर है क्योंकि वह क्षण बड़ा ही गुप्त था और अब वयःसन्धि की ओट में यौवन संपदों से परिपूर्ण होकर पर्वत की भांति खड़ा हुआ था जिसमें मधुर रंग और रस वाले फूलों से लिपटा हुआ आग का नया ग्रह चमक रहा था, अर्थात् हृदय में प्रेम की ज्वाला धधकनी शुरू हो गई थी।

५२. स्वतन्त्रता-जागरण

कविता-परिचय—इस कविता का रचना-काल सन् १९५७ है जबकि भारत को स्वतन्त्र हुए दस वर्ष हो चुके थे। अपनी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए गांधीजी के नेतृत्व में भारतीय ने जो रक्तहीन समर छेड़ा था, उसी का इसमें प्रभावोत्पादक शैली में वर्णन किया गया है। कवि की मान्यता है कि वह समर भौतिक न होकर आध्यात्मिक था। वह मानव के विषम मनोभावों का पारस्परिक संघर्षण था जिसने, अन्त में सत्य और अहिंसा की ही विजय हुई।

आदिकाल......... उन्नयन !

शब्दार्थ—भस्मावृत=भस्म से ढके हुए। ऋत=सत्य। चित्=चेतना। भास्वत=प्रकाशपूर्ण। अतिक्रम कर—लांघकर। उन्नयन=प्रगति, विकास।

अर्थ—जो भारत आदिकाल से ऋषि-मुनियों की साधना भूमि रहा है उस के भस्म से ढके हुए शरीर में सत्य और चेतना की प्रकाशपूर्ण अग्नि छिपी हुई है। यह देश जड़, जीवन और मन की सीमाओं को लांघकर शाश्वत सत्ता के आन्तरिक दर्शन पा लेने के कारण ही आज तक बचा हुआ है ताकि पृथ्वी और जीवन की स्थिति की प्रगति हो सके, अर्थात् भारत के आध्यात्मिकवाद से ही जन-जीवन का विकास सम्भव है।

[illegible].........[illegible] !

शब्दार्थ—उत्थित=ऊँचा (सर्वोन्नत) किया हुआ। [illegible]=[illegible]।

अर्थ—भक्ति, ज्ञान, श्रद्धा, तप, संयम ये सब भूमि की [illegible] के [illegible] हैं और [illegible], [illegible] निवास करें (जिस [illegible] [illegible]

के कार्य करना), ये सब लोक-सेवा और लोक-प्रेम के साधन हैं। आत्म-सन्तोष से परिपूर्ण सात्विक जीवन का निर्वाह करना भारतीय सन्तों की परम्परा रही है, किन्तु मध्य युगों से ये मर्यादाएँ, ये साधन और ये परम्पराएँ उपेक्षित रही हैं, इसीलिए पृथ्वी पर रहने वाले प्राणियों के जीवन-मूल्यों का ठीक से विभाजन नहीं हो पाया; अर्थात् सबको आवश्यकतानुसार जीवनोचित साधन न मिल सके।

उसी······ शान्ति सुख !

शब्दार्थ—धरा=भूमि। जगवन्द्य=जग के पूजनीय। महात्मत्=महात्मा गाँधी। स्फटिक=उज्ज्वल। श्रेय=कल्याण।

अर्थ—इस भारत-भूमि में जन-नायक और जगद्-वन्दनीय महात्मा गाँधी ने अवतार लिया था जिनके निश्छल और उज्ज्वल हास्य से जन-जन के मन का मौन आँगन गूँज उठा था। उनमे देवताओं जैसी विनम्रता थी। उनका वेश उज्ज्वल और श्रम के युक्त था। वे आत्म-शक्ति के अजेय पर्वत थे। वे चेतना का वर लेकर इस जड़ ससार को फिर से शुद्ध करने आये थे। वे लोक पुरुष गाँधी जी प्रथम दृष्टि मे ही भारत की दशा को पहचान गए थे कि भौतिक युग के प्रवाह में भारतीयों को कल्याण, शांति और सुख नहीं मिल सकते (अतः भौतिकवाद के बढ़ते हुए प्रबल प्रवाह के सम्मुख आध्यात्मिकता का बाँध बाँधना आवश्यक है)।

रक्त नेत्र······नैतिक रण !

शब्दार्थ—रक्त नेत्र=हिंसापूर्ण कार्य। भव्य=विशाल। प्रासाद=महल। विभव=ऐश्वर्य। खर=तीक्ष्ण। मर्माहत=दुखी। भव=दुनिया। नैतिक=आदर्शपूर्ण।

अर्थ—हिंसापूर्ण कार्यों मे तल्लीन पश्चिम मे उनको ऐश्वर्य का विशाल भवन दिखाई दिया, अर्थात् उन्होंने यह अनुभव किया कि अंग्रेजों के वैभव का कारण उनके आधुनिक कार्य हैं। उन्होंने युग-दानव का यह निवास स्थान भी देखा जो पशुबल का आधार लेकर खड़ा हुआ था। प्रथम विश्व के तीक्ष्ण प्रलय कारी विध्वंसों से पृथ्वी के लोगों का हृदय दुखी था। अतः यह सब देखकर और समझकर वीर गाँधी जी ने समस्त दुनिया की सेवा के लिए सत्य और अहिंसा का पवित्र व्रत धारण कर लिया। मनुष्य की मानवता पशु दल से परा-

जित हो, इस बात को युगमानव गांधी जी का मन सहन न कर सका, इसीलिए उन्होंने विश्व की मुक्ति के लिए निर्भय होकर देश की मुक्ति का नैतिक संग्राम छेड़ दिया ।

इंगित पा,······मनुजोचित !

शब्दार्थ—इंगित=संकेत । इष्ट=अभिलषित । दुर्मद=दुरन्ध । सौम्य=सुन्दर ।

अर्थ—महात्मा गांधी का संकेत पाकर चेतना जो सदियों से खण्डहर के रूप में पड़ी थी, फिर से जीवन का ममत्व लेकर जाग उठी । युगों से पृथ्वी पर जो भावों एवं विचारों के मतभेद चले आ रहे थे वे जन-बल में एकत्र होकर संगठित हो गए ; अर्थात् सब अपना भेद-भाव भूलकर एक हो गए। उन की यही अभिलाषा थी और उसका ध्येय भी यही था कि वे भौतिक मद को आध्यात्मिक बल के शासन से दबा दें और पृथ्वी की चेतना के विकास को नैतिक संस्कृति से रक्षित कर दें । गांधी जी नवीन मानवता के लिए क्षेत्र तथा भौतिकता की दुरन्ध गति को सुन्दर, संयत और मनुष्योचित बनाने आए थे ।

नवोन्माद······स्वर्णांकित !

शब्दार्थ—वणिक=व्यापारी । मंगल=कल्याण । चेतस्=चित्त, ध्यान । ऐतिह्य=ऐतिहासिक ।

अर्थ—उस समय भौतिकता अपने नव उन्माद में झूम रही थी और इस कारण मनुष्य की आत्मा हार मान चुकी थी । व्यापारियों का 'अंग्रेजों का राज्य था और उनका काम पृथ्वी के देशों को लूटकर जीवित रहना था । गांधी जी को इस भौतिक पशुता का सामना करके उसे पराजित करना था तथा मनुष्य के त्रस्त हृदय को मुक्त करना था । मानव को पूर्ण अहिंसक बनकर पृथ्वी के दानवों का सुधार करना था । पराधीनता में रहकर भी जिस भारत-भूमि की आत्मा सदैव स्वतन्त्र रही थी उसे अणु से मृत विश्व के कल्याण के लिए जाग-कर उठ खड़ा होना था । इस प्रकार भौतिकता के विरुद्ध अध्यात्मवाद ने संघर्ष का शंख बजा दिया और जन-स्वतन्त्रता के उस रण ने समूचे विश्व का ध्यान अपनी ओर खींच लिया । यह भारत की ऐतिहासिक देन है जो नवयुग के पृष्ठों पर स्वर्ण अक्षरों में सदैव अंकित रहेगी ।

रक्तहीन·······भीषण !

शब्दार्थ— आहत=घायल । स्रवित=बहना । पाहन=पत्थर । नृशंस=

मर्म—यह इस प्रकार का रण था कि इससे पृथ्वी पर खून नहीं बहाया गया और किसी भी व्यक्ति का तन घायल नहीं हुआ। पृथ्वी के हृदय का खून बहने लगा, अर्थात् उसमें उत्साह और क्रान्ति की भावना आई जिसके कारण पत्थर मन वाली सभ्यता (पाश्चात्य सभ्यता) कांपने लगी। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह युद्ध नहीं था, बल्कि संस्कृति का एक सनातन पर्व था जिसमें मनुष्य की आत्मा का अमृत जैसा स्पर्श जड़ पशुता को चेतनता प्रदान करता है, परन्तु मानव अपने पशु रूप में तीक्ष्ण नख और दाँतों के साथ—पाशविक बल के साथ—अत्यन्त भयावह है और सींग वाले पशु से भी क्रूर उसका मन होता है क्योंकि जो व्यक्ति अपने स्थापित किए हुए स्वार्थों के नष्ट होने की आशंका से सदैव शंकित रहता है, वह दानव है और मनुष्य के रूप में दानव बहुत ही भयंकर होता है।

मनुज········ संयोजित!

शब्दार्थ—वृत्ति=भाव, स्वभाव। दम्भ=अभिमान। क्षेम=कल्याण। वज्र=पत्थर। सम्वर्धन=वृद्धि। ऊर्ध्व=ऊँचा। जैव=जीवन-सम्बन्धी।

मर्म—यह युग-संग्राम मनुष्यों के स्वभावों के बीच छिड़ा था; अर्थात् यह पाप-पुण्य का, घृणा-प्रेम का, गर्व-शालीनता का अन्याय-न्याय का, आत्म-स्वार्थ, और लोक कल्याण का युद्ध था। धीरे-धीरे सुन्दर आध्यात्मिक स्पर्शों से पृथ्वी का कठोर हृदय पिघलता गया क्योंकि लोक के कल्याण की वृद्धि के लिए नवीन-भौतिकता को नई शक्ति के रूप में ग्रहण कर लिया था। भौतिकता का सबल पाकर ही आध्यात्मिक जग अपनी उच्चता के साथ पृथ्वी पर बँट गया; अर्थात् लोगों ने आध्यात्मिकता का भी महत्व जाना और जीवन सम्बन्धी चेतना से प्रेरणा पाकर गंभीर मन के स्तर भी जगमगा उठे। नित नई वैज्ञानिक खोजों से मनुष्य की शक्ति सैकड़ों गुणी बढ़कर ही नवीन जीवन की रचना करने में समर्थ थी और जड़-चेतन (भूतवाद-अध्यात्मवाद) का गठ-बन्धन कर सकती थी।

सत्यों को········समन्वित!

शब्दार्थ—शोध=खोज। उद्भव=उत्पत्ति। समन्वित=युक्त।

मर्म—पूर्व (भारत) ने सत्यों की खोज करके तत्व के रूप का निरूपण किया और पश्चिम (इंग्लैंड आदि) ने तथ्यों (Facts) को खोजकर भूमि के लोगों के लाभ के लिए यन्त्रों का विकास किया। सत्य और तथ्य; विज्ञान ।·

ज्ञान, यद्यपि ये दो पक्ष हैं फिर भी ये एक और बहुत का ही नित्य द्योतन करते हैं। विश्व के कल्याण के लिए और जीवन के विकास के लिए विश्व को इन दोनों सम और विषम चरणों से युक्त करना होगा; अर्थात् दोनों में समन्वय करना होगा।

विशेष—पन्त जी का विश्वास है कि जन-हित न केवल अध्यात्मवाद में है और न केवल भौतिकवाद में, बल्कि इन दोनों के समन्वय में है। इसीलिए वे यत्र-तत्र पौर्वात्य और पाश्चात्य के ज्ञान-विज्ञान के समन्वय की बात कहते हैं। उपर्युक्त पंक्तियों में यही बात कही गई है और यही 'वार्धक्य' कविता में भी—

"पश्चिम का जीवन सौष्ठव हो,
विकसित विश्व तन्त्र में वितरित,
प्राची के नव स्वर्णोदय से,
ज्योति द्रवित भू-तमस तिरोहित।"

५३. नव निर्माण

कविता-परिचय—महाकवि तुलसी के बाद यदि हिन्दी-साहित्य में कोई समन्वयवादी कवि हैं तो वे पन्त जी हैं। प्रस्तुत कविता में पन्त की समन्वय भावना का स्पष्ट रूप मुखर हुआ है। उनका दृढ़ विश्वास है कि जब तक ज्ञान और विज्ञान का, आत्मा और जगत् का तथा पौर्वात्य एवं पाश्चात्य दोनों का समन्वय नहीं होगा तब तक न तो आधुनिक जीवन ही पूर्ण बन सकता है और न नव-निर्माण ही सम्भव है। साथ ही उन्होंने भारतीय दर्शन के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न का आधुनिक युग के प्रकाश में उत्तर दिया है। प्रश्न है—स्वर्ग और नरक कहाँ हैं। इसके लिए पन्त जी असंदिग्ध शब्दों में घोषणा करते हैं कि इस जनधरा के अतिरिक्त स्वर्ग और नरक अन्यत्र कहीं भी नहीं हो सकते। यदि सूत्र रूप में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि आध्यात्मिकता और भौतिकता का समन्वय एवं उसकी मनोहर परिणति ही प्रस्तुत कविता का प्रतिपाद्य है।

भारत…… अर्जित !

शब्दार्थ—बहिरंतर=बाहरी और आन्तरिक। महीयसी=महती; बहुत बड़ी। अधिमानस=हृदय। अर्जित=एकत्रित।

अर्थ—यद्यपि अब भारत स्वाधीन हो चुका है, परन्तु अभी मानवता के हित सवर्ष करना शेष है और बाहरी तथा आन्तरिक रचना करके अभी भारत और दिशाओं के आंगन भरने हैं। भारत के स्वाधीन होने की यह

घटना युग की बहुत बड़ी घटना है जो जनता और धरा के जीवन के कल्याण के लिए घटित हुई थी। यह देश पृथ्वी का वह हृदय है जहाँ तप और बल से शांति प्राप्त की जाती है।

स्वर्ग दूत............आर्द्र व्रण !

शब्दार्थ—स्वर्ग-दूत=महात्मा गांधी। पूत=पवित्र। शप्त—अभिशापित दग्ध=जलाने वाला। आर्द्र=ताजा, गीला। व्रण=घाव।

अर्थ—उस स्वर्गदूत महात्मा गांधी की हत्या करके क्या उनसे पृथ्वी के कण पवित्र हो गए? अर्थात् उनकी हत्या इस मानव-धरा के लिए अमर कलंक है। मध्य युगों का शालीन एवं रोगी मन जो अभिशापित था, क्या अपनी भ्रांति से छुटकारा पा सका है? कितना जलाने वाला समय है कि अहिंसा के विनीत पुजारी को हिंसा के द्वारा कर विदाई दी गई। यदि इस पृथ्वी से हिंसा उठ जाए तो पृथ्वी और इसके लोगों का ताजा घाव भर सकता है, अन्यथा नहीं।

ऐसे ही.........वचन।

शब्दार्थ—किरीट=ताज। प्रवचन=आदेश। क्षेम=कल्याण।

अर्थ—महात्मा गांधी की भाँति ही ईसा मसीह अपने सिर पर काँटों का ताज रखकर आये थे। वे दिव्य प्रेम के देवदूत की भाँति थे और स्वर्ग का श्रेष्ठ संदेश लाए थे वे युग-द्रष्टा थे। उनका हृदय कवि की तरह भावुक था और वे फूल में ईश्वर के आवेश पढ़ा करते थे। अशुभ न रोको तथा सबके कल्याण में लगे रहो, ये उनके अत्यन्त साहस भरे हुए वचन थे।

मनुज......अणु क्षम !

शब्दार्थ—विद्ध=बिंधकर। शर=बाण। सिक्त=भीगा हुआ। दाव=घाव। मर्त्य=मृत्युलोक। दूभर=कठिन।

अर्थ—मनुष्य का हृदय इसी पक्षी तभी से बिंध गया और उसे अज्ञान-रूपी तम की शूली पर चढ़ा दिया। इस प्रकार दानवी बाण से खून से भरा हुआ इस मृत्युलोक की धरा का घाव भरना कठिन है। देश और जाति की मोह भरी दीवारें भूमि और मानव के विकास के क्रम को रोक रही हैं। आज चेतना मुक्त नहीं, बन्धनों में बंधी हुई है। मन घबराया हुआ है और सिर पर यमराज की भाँति अणु बम मंडरा रहा है।

अन्तरिक्ष......अन्तर !

शब्दार्थ—परिभ्रमण=घूमकर।

अर्थ—अन्तरिक्ष का युग अब आँखों के सामने है। चन्द्र, भौम और बढ़ना

के आंगन को छूने के लिए दिग्विजयी मनुष्य उपग्रहों में घूम रहा है। ऐसा मनुष्य जन-धरणी पर सबके कल्याण के बीज बो सकेगा, यह मन को विश्वास नहीं होता और इसीलिए जीवन और जग का हृदय आशंका से भर गया है।

भीम विरोधी……प्रतिक्षण।

शब्दार्थ—भीम=विशाल। आग्नेय=अग्नि से युक्त। दग्ध=दुःखी। मानस=हृदय।

अर्थ—आज दुर्भाग्य से पूर्ण भू का जीवन और मन अनेक विरोधी एवं विनाश वर्गों में बँटा हुआ है और राष्ट्र में भीषण अस्त्रों और अग्नि से युक्त महास्त्रों के बनाने में होड़ लगी हुई है। आज सृष्टि और विनाश में द्वन्द्व छिड़ा हुआ है और इसी में वैज्ञानिक देन अपना महाभाग्य समझती है। दुःखी धरा के हृदय में प्रतिक्षण महामृत्यु की छायाएँ घिरी रहती हैं।

अन्न वस्त्र……घोले हाल।

शब्दार्थ—गरलवत्=विष की भाँति।

अर्थ—अन्न, वस्त्र और घर के अभाव में आज बाह्य जीवन और जग नग्न होकर कुरूप दिखाई दे रहे हैं। सबके कल्याण का स्वर्ग तो बहुत दूर है ही, दरिद्र लोग दरिद्रता से भी घिरे हुए हैं। पृथ्वी के देशों में आपस में भयंकर होड़ चल रही है, इसलिए जो विज्ञान सदुपयोग होने के कारण अमृत बन सकता था, वही दुरुपयोग के कारण विष की भाँति बन गया है। यद्यपि विज्ञान के द्वारा कामधेनु की भाँति हर प्रकार की इच्छा पूर्ण कर देने वाले यन्त्र आज सुलभ हैं किन्तु मानव की तृष्णा तथा दम्भों के विस्तार के कारण वे उपयोग में नहीं आ रहे हैं।

बाह्य…… परिभव।

शब्दार्थ—प्लावन=प्रवाह। परिभव=पराभव, तिरस्कार।

अर्थ—आज अग्नि शकट का यह नवीन प्रवाह देखकर मन का [illegible] उछलकर बढ़ता है और इस विस्मयकारी परिस्थिति को देखकर नाश के किनारे पर खड़ा हुआ मानव मन मानव के भविष्य के विषय में सोच रहा है, किन्तु इन यन्त्र और जीवन के बीच किसी भी प्रकार का सन्तुलन दिख नहीं पड़ रहा है। [illegible] का सर्वनाश कर देने वाले यन्त्र के लिए [illegible] में भी पराभव और तिरस्कार ही होता है, क्योंकि यह सब [illegible] विज्ञान के [illegible] की समस्याओं का समाधान करने [illegible] नहीं है।

अन्तर्भुवनों......कुत्सित ।

शब्दार्थ—अन्तर्भुवन=हृदय । तमासावृत=अन्धेरे से घिरी हुई । प्रतिमा=
। कुत्सित=घृणित ।

अर्थ—यदि हृदय के आकाश में युग-मन का भौतिकवादी बहिर्मुख विच-
करे; अर्थात् आध्यात्मिकता और भौतिकता का समन्वय हो जाये तो मन
अखण्डित सत्य का ज्ञान हो जाए कि समस्त बाह्य और आन्तरिक जीवन
ही है। जिस प्रकार इन्द्रियों को विमुख मनुष्य की आत्मा द्वार-रहित खंड
घर की भाँति अँधेरे से घिरी होती है, उसी प्रकार आत्माहीन मानवता
नवता की घृणित मूर्ति होती है; अर्थात् जब तक बाह्य और आन्तरिक जीवन
, आत्मा और संसार समन्वय नहीं हो जाता, तब तक जीवन में पूर्णता नहीं
ती।

भू खंडों ...सत्याग्रह !

शब्दार्थ—सत्याग्रह=सत्य का आदेश ।

अर्थ—बहिर्मुख युग के मानव का मन भग्न भू-खण्डों में विभाजित है और
नव आत्मा का भग्न प्रांगण सैकड़ों खण्डित स्वार्थों से बना हुआ है, इसलिए
वन का सत्य स्वरूप प्रकट नहीं हो रहा है। क्या यह भू-मानव का देश की
ण्डता पर खड़ा होकर परिचय देने का समय है? नहीं, आज एक अटूट
कता की आवश्यकता है। सभी देश और जातियाँ मानवता की एकता में
बद्ध होकर लीन हो जाएँ, यही आज के युग के सत्य का आदेश है, अनुरोध
।

विविध.........निश्चित ।

शब्दार्थ—समन्वित=युक्त । तन्त्र=राज्य; व्यवस्था ।

अर्थ—विविध ज्ञान और विज्ञान से युक्त होकर ही विश्व की व्यवस्था
धन-सम्पन्न और विकसित हो सकेगी। अतः आज मनुष्य को अपने हृदय की
ष्टि भेद-भावों से दूर करनी चाहिए, अर्थात् अपनेपन की सीमित परिधि को
ोड़कर हृदय को व्यापक और उदार बनाना चाहिए तभी इस पृथ्वी के लोगों
ी इच्छाएँ पूरी होंगी। प्रेम से पूर्ण व्यक्ति, शील से युक्त मन, उपचेतना में
शुद्ध भावनाएँ ही इस धरा पर स्वर्ग का निर्माण करती हैं, और यह निश्चित
कि इस धरा को छोड़ कर और कहीं भी स्वर्ग नहीं है, अर्थात् स्वर्ग कोई
न्य लोक नहीं, बल्कि इसी पूर्णतः विकसित धरा का नाम स्वर्ग है।

भू विकास .....सत्कृत !

शब्दार्थ—युगपत=साथ-साथ । मर्दित=घृणित । ज्योतिर्वाह=प्रकाश के
देशवाहक ।

नंगा रहता है। अन्न और वस्त्र के अभाव में वे पीड़ित हैं। वे म
झाड़ फूँस के घर बनाकर रहते हैं। भारतमाता का मस्तक झुका
वह पेड़ों के नीचे निवास करने वाली है।

विशेष—भारतीय समाज का यथार्थ चित्रण है।

विश्व-प्रगति..............हासिनी !

शब्दार्थ—निपट=बिल्कुल। कुंठित=रुद्ध। शरदेन्दु=शर
चन्द्रमा।

अर्थ—भारतमाता विश्व की आधुनिक प्रगति (विज्ञान आदि) से
अपरिचित है। वह अर्ध सभ्य है, किन्तु फिर भी उसकी जीवन-रुचि शु
परिष्कृत है। प्राचीन रूढ़ियों और रीतियों से उसकी गति रुद्ध है।
ग्रसित होने पर भी वह शरत्कालीन चन्द्रमा के समान हँसी की मधुरिमा
वाली है, अर्थात् वह दुःख को हंस हंस कर झेलने वाली है।

सदियों......................प्रकाशिनी !

शब्दार्थ—निष्क्रिय=अकर्मण्य।

अर्थ—वह सदियों से खंडहर बनी हुई है, अर्थात् किसी भी प्रका
प्रगति से वंचित है। अतः उसका मन अकर्मण्य हो गया है। वह लक्ष्य
है। उसके पुत्रों का जीवन जर्जर हो गया है, फिर कैसे भूमि की नूतन
हो सकती है। वह ज्ञान से दूर है, तथापि वह गीता जैसे कर्मयोग-ग्रन्थ
सृजन करने वाली है।

पंचशील..............विकासिनी !

शब्दार्थ—श्रीहत=शोभा रहित।

अर्थ—वह पंचशील को सफल बनाने में लगी हुई है। विश्व में शान्ति
स्थापना का उसने व्रत लिया हुआ है। उसके आँगन कई युगों से शोभा र
हैं। लोग कब जागरण के लिए तैयार होंगे, वह जीवन का विकास करने व
इसी चिन्ता में डूबी हुई है।

चाहिए......................विलासिनी !

शब्दार्थ—लौह=दृढ़। रस=आनन्द।

अर्थ—आज भारतमाता को सुदृढ़ संगठन की आवश्यकता है। उसे सु
शरीर और श्रद्धा की ज्योति से दीप्त मन चाहिए। और चाहिए भू-जी
के प्रति अथक समर्पण। वह लोक की समस्त कलाओं से युक्त है और मान
में विलास करने वाली है।

यात
जीव
विच

यह
नर
धर
इि
था
है
को

र

ह
र
१
ं
.